रामचरितमानस और बैबिल में चित्रित समाज - एक विश्लेषण

RAMCHARITHAMANAS AUR BIBLE
MEN CHITRIT SAMAJ - EK VISLESHAN

Thesis submitted to

Cochin University of Science and Technology

for the degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

By

SICILY THOMAS

Prof & Head of the Department
Dr. M.Easwari

Supervising Teacher
Dr L.Suneetha Bai

Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology
Cochin - 682 022

1996

CERTIFICATE

This is to certify that this thesis entitled "RAMACHARITHAMANAS AUR BIBLE MEN CHITRIT SAMAJ - EK VISLESHAN" is a bonafide record of the work carried out by Sicily Thomas, under my supervision, for Ph. D. degree and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any University.

Department of Hindi,
Cochin University of
Science and Technology.

Dr. L. Suneetha Bai,
Professor,
(Supervising Teacher)

Kochi - 22.

Date:15-5-1996.

DECLARATION

I am doing part-time research in the Department of Hindi, Cochin University of Science and Technolocy, under the supervision of Dr.L. Suneetha Bai, Professor, Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology. The topic of my research is "Ramacharithamanas Aur Bible Men Chitrit Samaj - Ek Visleshan". This work is a bonafide record of my research and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any University.

Sicily Thomas

Kochi, - 22

Date: 15-5-1996.

Sicily Thomas,
Part-time Research Scholar,
Department of Hindi,
Cochin University of
Science and Technology.

भूमिका

धर्म मानव जीवन यात्रा का सम्बल एवं मार्गदर्शक है और प्राय: समस्त विश्व में किसी न किसी रूप में धर्म का अस्तित्व पाया जाता है । विश्व की सभी धर्मपरंपराओं के अपने अपने धर्म ग्रंथ हैं और ये ग्रंथ उनके विश्वास के स्रोत भी रहे हैं । रामचरितमानस और बैबिल ऐसे ही दो महान् ग्रंथ हैं जिन में मानव को सन्मार्ग पर ले जाने के लिए अनेक उपदेश चित्रित मिलते हैं । रामचरितमानस उत्तर भारत के हिन्दुओं का धर्मग्रंथ रहा है और बैबिल प्राय: विश्व भर के सभी ईसाइयों का धर्म ग्रंथ रहा है । दोनों लोकमंगल की चेतना के साकार रूप हैं । दोनों ग्रंथों में जीवन के व्यापक अनुभव क्षेत्र से संपृक्त, जीवन के यथार्थ पर अधिष्ठित महापुरुषों, सन्तों, विद्वानों और जननायकों के जीवन की अतल गहराइयों से प्राप्त रत्नों का संचय उपदेश या मूल्यों के रूप में मिलता है । मनीषियों के चिन्तन, अनुभूति, परीक्षण, निरीक्षण और कल्पना के सारभूत सत्य से युक्त ये उपदेश जीवन की अन्धी गलियों में भटकनेवाले लोगों को स्फूर्ति, प्रोत्साहन और आत्मबल के आलोकमय राजमार्ग पर ला खडा कर देते हैं । मानव जीवन में ऐसे आलोक की अत्यधिक आवश्यकता रहती है । जिसके अभाव में मानव "हैवान" बन जाता है । आज के संगणक युग में मानव को आत्मबोध दिलाने के लिए ऐसे आलोक की ज़रूरत है, और यह मानस तथा बैबिल से प्राप्त हो सकता है ।

बहुत सालों से मैं बैबिल का अध्ययन करती आ रही हूँ और हिन्दी साहित्य के अध्येता के रूप में मानस के प्रति भी मेरी विशेष रुचि रही है। हमारी आज की सामाजिक परिस्थितियों, समस्याओं तथा सोलहवीं शताब्दी की भारतीय एवं प्रथम शताब्दी की जरूशलेम की सामाजिक परिस्थितियों समस्याओं में बहुत दूर तक समानता है । यही सोचकर मेरा मन हुआ कि मानस और बैबिल में चित्रित समाज का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाय । मानस और बैबिल जैसी विशाल पुस्तक के आदर्शों का ध्यान रखते हुए, उसी के द्वारा एक छोटा शोध प्रबन्ध तैयार करना बडा ही कठिन कार्य है । दोनों ग्रंथों के समाजों का विश्लेषण बडा व्यापक विषय रहा है । फिर भी मैं ने अपनी ताकत के अनुसार इस कार्य को निभाने का प्रयास किया है ।

समाज के वर्ण, वर्ग, जाति, छुआछूत आदि को समाप्त करने के हेतु से परस्पर स्नेह, सद्भाव एवं मानवता की भावना का प्रचार-प्रसार आवश्यक है । आध्यात्मिक क्षेत्र के माध्यम से इन दो ग्रंथों ने जो सन्देश दिया, वर्तमान युग के संदर्भ में उसकी उपादेयता और भी बढ़ गयी है । आज के युग-संदर्भ में दोनों ग्रंथ प्रासंगिक एवं सार्थक अनुभूत हो रहे हैं । मानसकालीन एवं बैबिलकालीन देश की मानसिकता दोनों ग्रंथों के लेखकों की जीवन दृष्टि से संबद्ध है । दोनों ग्रंथों की वाणी आज भी लोगों की जबान पर है । लोग उन्हें आज भी अपना पथप्रदर्शक मानते हैं ।

दोनों ग्रंथों के लेखक भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी, एवं भिन्न काल के हैं । भाषा भेद से भाव भेद नहीं होता और कालभेद से क्षमता अवरुद्ध नहीं होती । इन दोनों ग्रंथों में सांस्कृतिक भिन्नताओं के रहते हुए भी मैं ने कई आन्तरिक समानताएँ पायी हैं, जो मानव को मानव के निकट ला खड़ा कर देती हैं । दोनों ग्रंथों के लेखक मानव समाज के सुख-दुःखों को भली-भाँति जानते हैं और जनता की भाषा में उसे अभिव्यक्त करते हैं, सामाजिक नीति एवं मनुष्य जीवन की वास्तविक, शाश्वत उपलब्धि का सोदाहरण विवरण करते हैं ।

रामचरितमानस शोध कर्ताओं के लिए प्रारंभ से ही एक प्रिय विषय रहा है और मानस को लेकर अनेक शोध प्रबन्ध और आलोचनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं । बैबिल को लेकर भी शोध प्रबन्ध एवं आलोचनात्मक साहित्य रचा गया है । बैबिल का ज्ञान साहित्य विशेष रूप से शोधार्थियों के अध्ययन का विषय रह चुका है । रामचरितमानस और बैबिल में चित्रित समाज को लेकर विश्लेषणात्मक अध्ययन पहली बार हो रहा है । मैं ने एम. फिल्. में अपने लघु प्रबन्ध का विषय रामचरितमानस और बैबिल की सूक्तियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन रखा था । इसलिए मानस और बैबिल के ही दूसरे पक्ष का, सामाजिक पक्ष का विश्लेषण प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय बनाया गया है ।

बैबिल की रचना दो भागों में मिलती है - पुराना नियम और नया नियम । पुराना नियम की भाषा हीब्रु या इबानी है और नया नियम की भाषा ग्रीक या यूनानी है । लेकिन दोनों भागों के संसार की प्राय: सभी भाषाओं में अनुवाद मिलते हैं । हिन्दी में बैबिल के कई अनुवाद प्रस्तुत किये गये हैं, इन में बैबिल सोसइटी आफ इन्डिया के हिन्दी बैबिल और पवित्र बैबिल, वाल्द बुल्के और डा. कामिल बुल्के के बैबिल के हिन्दी अनुवाद आदि गिनाये जाते हैं । इन में मैं ने इस शोध प्रबन्ध के लिए डॉ. कामिल बुल्के के बैबिल के हिन्दी अनुवाद को आधार बनाया है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को मैं ने पाँच अध्यायों में विभक्त किया है पहला अध्याय - समाज का स्वरूप है । इस में समाज के लक्षण, महत्व, उद्देश्य, समाज और व्यक्तियों का अन्त:संबंध, सामाजिक संगठन का स्वरूप, भारतीय एवं पश्चिम एशियाई समाज में वर्ण व्यवस्था, वर्ग व्यवस्था, जाति व्यवस्था एवं पारिवारिक संगठन विभिन्न पारिवारिक संबंध, परिवार में नारी का स्थान, भारतीय एवं पश्चिम एशियाई समाज में धर्म और नीति का स्वरूप, मानस और बैबिल का समाज आदि रखा गया है ।

दूसरा अध्याय - मानस और बैबिल का परिचय है । इस अध्याय में मैं ने मानस और बैबिल की रचना के विभिन्न पहलुओं पर विचार करते हुए दोनों ग्रंथों की रचना का उद्देश्य आदि का सामान्य परिचय दिया

तीसरे अध्याय में मानस और बैबिल में चित्रित वर्ण व्यवस्था वर्ग व्यवस्था, जाति व्यवस्था एवं पारिवारिक संगठन का अध्ययन है । विभि पारिवारिक संबंध, मानस और बैबिल में नारी का स्थान, गुरु-शिष्य संबंध, स्वामी-सेवक संबंध, मित्रता का संबंध आदि का विश्लेषण भी है ।

चौथे अध्याय में मानस और बैबिल में चित्रित धर्म का विश्लेषण किया गया है । इसके अन्तर्गत ईश्वर-संबंधी, भक्ति-संबंधी, सत्संग-संबंधी, स्वर्ग-नरक-संबंधी, पाप-पुण्य-संबंधी, पुनर्जन्म और पुनरुत्थान-संबंधी धारणाओं का विश्लेषण हुआ है । साथ ही साथ भारतीय दार्शनिक चिन्तन परंपरा का विचार करते हुए ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, मोक्ष आदि के विषय में मानस और बैबिल के दार्शनिक विचारों का अध्ययन किया गया है ।

पाँचवें अध्याय में मानस और बैबिल में चित्रित समाज-नीति का स्वरूप है । जिसके अन्तर्गत व्यावहारिक नीति संबंधी, आर्थिक नीति संबंधी और राजनीति संबंधी विचारों का निरूपण किया गया है ।

उपसंहार में शोध प्रबन्ध का समापन है । यहाँ मानव समाज की मूलभूत एकता का तत्व और मानस और बैबिल में उसकी अभिव्यक्ति पर विस्तार से विचार किया गया है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध कोच्चिन विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग की आदरणीय प्रोफेसर डॉ. एल. सुनीता बाईजी के विद्वत्तापूर्ण निर्देशन में संपन्न हुआ है । उनके आशीर्वाद, विशेष प्रोत्साहन, सतत प्रेरणा, प्रेम, सहयोग, सहज वात्सल्यपूर्ण व्यवहार, सहृदय, उदार दृष्टिकोण एवं बहुमूल्य सुझाव इस शोध प्रबन्ध की प्रस्तुति में पग-पग पर मुझे प्राप्त हुए हैं । मैं उनके प्रति आभार प्रकट करती हूँ ।

हिन्दी विभाग की अध्यक्षा डॉ. एम. ईश्वरी के प्रति भी मैं आभार प्रकट करती हूँ जिनसे समय समय पर शोधकार्य के लिए मुझे का प्रोत्साहन मिला है । इस विभाग के भूतपूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष

डा. पी.वी. विजयनजी के प्रति भी मैं आभार प्रकट करती हूँ । वे भी समय-समय पर महत्वपूर्ण निर्देश देकर मुझे उत्साह प्रदान करते रहे ।

इस संदर्भ में मैं उन सभी लोगों के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करना चाहूँगी जिन्होंने बैबिल के आलोचनात्मक साहित्य के चयन में मेरी सहायता की है ।

Sicily Thomas

सिसिली तोमस

हिन्दी विभाग
कोच्चिन यूनिवेर्सिटी ऑफ
साइन्स एण्ड टेकनोलजी
कोच्चिन - 682022.

तारीख 15-5-1996.

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

भूमिका I - V

पहला अध्याय 1 - 90

समाज का स्वरूप

समाज क्या है? - समाज - विभिन्न विद्वानों के विभिन्न विचार - समाज और व्यक्ति का अन्त:संबंध - सामाजिक संगठन का स्वरूप - भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था - पश्चिम एशियाई समाज में वर्ग विभाजन - भारतीय समाज में जाति व्यवस्था - पश्चिम एशियाई समाज में जाति व्यवस्था - भारतीय एवं पश्चिम एशियाई समाज में पारिवारिक संगठन - माता-पिता और संतान - विवाह और पति-पत्नी संबंध - परिवार में नारी का स्वरूप - भारतीय एवं पश्चिम एशियाई समाज में धर्म का स्वरूप - भारतीय एवं पश्चिम एशियाई समाज में नीति का स्वरूप - रामचरितमानस का समाज - बैबिल का समाज - निष्कर्ष ।

दूसरा अध्याय 91 - 19'

रामचरितमानस एवं बैबिल - एक परिचय

रामचरितमानस रचना एवं महत्त्व - मानस का प्रचार-प्रसार - मानस प्रेरणा एवं प्रभाव - तुलसीकालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियाँ - मानस पात्र सृष्टि - मानस काव्य रूप - मानस की

पृष्ठ संख्या

भाषा - मानस रचना का उद्देश्य - बैबिल रचना एवं महत्त्व - बैबिल के विषय - बैबिल का प्रचार-प्रसार- बैबिल का हिन्दी अनुवाद - बैबिल का साहित्यिक महत्व - बैबिल प्रेरणा तथा प्रभाव - बैबिलकालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियाँ - बैबिल पात्र सृष्टि - बैबिल का काव्य रूप - बैबिल की भाषा - बैबिल का उद्देश्य - निष्कर्ष ।

तीसरा अध्याय — 196 - 277

रामचरितमानस और बैबिल में चित्रित समाज -

वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था एवं पारिवारिक संगठन

भारतीय समाज एवं मानस में चित्रित समाज - वर्ण व्यवस्था एवं रामचरितमानस - वर्ग व्यवस्था एवं बैबिल - जातिभेद एवं रामचरितमानस - जातिभेद एवं बैबिल - मानस में पारिवारिक संगठन - बैबिल में पारिवारिक संगठन का स्वरूप - विभिन्न पारिवारिक संबंध - माता-पिता और सन्तान - मानस में विवाह और पति-पत्नी संबंध - बैबिल में विवाह और पति-पत्नी संबंध - मानस और बैबिल में सास-बहू संबंध - भाई-भाई का संबंध - मानस में नारी - बैबिल में नारी - मानस और बैबिल में गुरु-शिष्य संबंध - स्वामी-सेवक संबंध - मित्रता का संबंध - निष्कर्ष ।

पृष्ठ संख्या

चौथा अध्याय — 278 - 385

रामचरितमानस और बैबिल में चित्रित समाज-धर्म का स्वरूप

धर्म संबंधी भारतीय विचार - धर्म संबंधी पाश्चात्य विचार - सब धर्म एक है - धर्म एकता का तत्व है - समाज और धर्म - मानस में धर्म - बैबिल में धर्म - ईश्वर का स्वरूप - ईश्वर आनन्द स्वरूप है - सगुण और निर्गुण ईश्वर - ईश्वर सर्वान्तिर्यामी है - ईश्वर सर्वव्यापी है - ईश्वर सृष्टिकर्ता है - ईश्वर प्रकाशरूप है - ईश्वर दयालु और करुणासागर है - ईश्वर सत्य स्वरूप है - ईश्वर एक है - ईश्वर भक्ति - ईश्वर भजन - ईश्वर में विश्वास - पर्व, उत्सव, त्योहार तथा मेले - सत्संग - कर्म का स्वरूप और कर्मफल - स्वर्ग और नरक संबंधी धारणा - पाप-पुण्य संबंधी विश्वास - पुनर्जन्म-पुनरुत्थान संबंधी धारणा - मानस और बैबिल में दर्शन - मानस की दार्शनिक पृष्ठभूमि - बैबिल की दार्शनिक पृष्ठभूमि - मानस और बैबिल का दार्शनिक विचार - ब्रह्म - जीव-जगत्- माया - मोक्ष - निष्कर्ष ।

पाँचवाँ अध्याय — 386 - 470

रामचरितमानस और बैबिल में चित्रित समाज-नीति का स्वरूप

नीति क्या है - समाज और नीति - भारतीय समाज में नीति - पाश्चात्य समाज में नीति - नीति और

पृष्ठ संख्या

सदाचार - मानस में नीति - बैबिल में नीति - व्यवहार नीति - सत्य संबंधी - अहिंसा संबंधी - परोपकार संबंधी - दया संबंधी - संयम संबंधी - क्षमा संबंधी - नम्रता संबंधी - शील संबंधी - प्रेम संबंधी - शिक्षा तथा ज्ञान संबंधी - आनन्द संबंधी - अर्थ नीति - राजनीति - निष्कर्ष ।

उपसंहार 471 - 483

मानव समाज की मूलभूत एकता

संदर्भ ग्रंथ सूची 484 - 507

पहला अध्याय

समाज का स्वरूप

समाज व्यक्तियों के समूह से निर्मित, विशिष्ट उद्देश्य से बनाई गई संस्था है । व्यक्तियों के समूह के द्वारा निर्मित और विकसित इस संस्था का विशिष्ट उद्देश्य व्यक्ति और समाज की रक्षा, प्रगति और हित है । समाज का उत्तरदायित्व होता है कि वह अपने बीच रहनेवाले व्यक्तियों में पारस्परिक सहयोग का भाव विकसित करे ताकि उन में एकता, शान्ति, समता, प्रेम और सौहार्द स्थापित हो सकें । व्यावहारिक रूप से समाज शब्द का प्रयोग मानव समूह के लिए किया जाता है । यह मानव समाज निष्क्रिय नहीं, सक्रिय और प्रयत्नशील है, जिसमें मनुष्य अपने प्रधान हितों की खोज करते हैं । प्रधान हित कई तरह के होते हैं, किन्तु आत्मविस्तार, आत्मसंरक्षण और आत्मोपार्जन इनमें प्रमुख माने जाते हैं ।

गति और क्षेपण-प्रेरण अर्थ को घोतित करनेवाले 'अज्' धातु के साथ सम्यक् अर्थ का प्रतिपादक 'सम्' उपसर्ग जोडने से समाज शब्द निकलता है । अर्थात् समाज का अर्थ होता है - अच्छी तरह से रहना ।[1]
"सम्यक् अजन्ति जना: अस्मिन् इति समाज: ।"
जिसमें सभी लोग अच्छी तरह रहें वह समाज है । दूसरे शब्दों में समाज वही होता है जहाँ लोग एक दूसरे की सहायता, परोपकार करते हुए, सभी की कल्याणकामना करते हुए, ईमानदारी, सच्चाई, कर्तव्यनिष्ठा, निष्पक्षता, उदारता आदि समष्टि-चेतना से प्रभावित होकर रहते हैं । यहाँ आपस में विरोध या झगडे के लिए स्थान नहीं है । समाज ऐसा संगठन होता है जिसमें मनुष्यों का एक समूह होता है, एक तरह का पारस्परिक संबंध रहता है, मानवीय चरित्र का विकास होता है और एक प्रकार की व्यवस्था भी होती है ।

---

1. भारतीय समाज का स्वरूप, डॉ. सीताराम व्यास, पृ, 76.

विभिन्न शब्द कोशों में समाज शब्द के जो अर्थ प्राप्त होते हैं वे मुख्यत: ये हैं - समूह, वर्ग, संघ, दल, सभा, समुदाय, संस्था किसी विशेष उद्देश्य या कार्य के लिए अनेक व्यक्तियों की बनाई या स्थापित की हुई सभा इत्यादि । समाजशास्त्र के अनुसार समाज मनुष्यों का एक समूह है । कई समूहों का एक बृहत् समुदाय है । वह मनुष्यों के आपसी संबंधों का पुंज है । अनेक मनुष्यों के जीवनावधि से संबंधित होने के कारण उनके आपसी जटिल संबंधों के इस पुंज को "समाज" की संज्ञा दी जा सकती है ।[1]

समाज एक छोटा सा शब्द है, फिर भी उसके अंग प्रत्यंग का विश्लेषण करना उतना ही कठिन है जितना सिर के बाल गिनना, बालू के कणों को गिनना, आकाश के तारागणों को गिनना, या सागर की तरंगों को गिनने का प्रयास करना । समाज ऐसी एक केन्द्रीय सत्ता है जिसके कई विभाग होते हैं । समाज को पूर्णत: समझने के लिए पहले इन विभागों का विश्लेषण करना पडेगा । इनमें विद्वानों के समाज संबंधी विचार, समाज और व्यक्ति का अन्त:संबंध, सामाजिक संगठन का स्वरूप, सामाजिक वर्गीकरण, समाज में परिवार, धार्मिक महत्व, नीति का आदर्श आदि आते हैं ।

समाज में कई स्तर के लोग रहते हैं , जो भिन्न स्वभाव के होते हैं । लेकिन ये एक दूसरे से किसी न किसी रूप में संबंधित रहते हैं । यहाँ भिन्न जाति के और भिन्न पेशों के लोग रहते हैं जिनमें पुरुष, स्त्री, बच्चे आदि भिन्न वर्गों को देखा जा सकता है । लेकिन ये सब अपने भावों और सांस्कृतिक विचारधाराओं को स्वतंत्रता के साथ व्यक्त कर सकते हैं । यही समाज की विशेषता है । अर्थात् एक ही समाज में विभिन्न प्रकार की धार्मिक

---

1. समाज और संस्कृति, सूर, तुलसी एवं दादू के विशेष संदर्भ में, डा. सावित्री चन्द्र "शोभा", पृ. 1.

एवं सांस्कृतिक भावनाओं को लेकर अपनी अपनी जाति को कायम रखने के लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है ।"[1]

आज विश्व में विशिष्ट समाज, समुदाय या राष्ट्र मात्र ही समाज की संज्ञा से अभिहित नहीं होते, बल्कि वर्तमान परिस्थितियों में सम्पूर्ण विश्व ही एक समाज का रूप धारण करता जा रहा है । वैसे समाज एक व्यापक शब्द है परिवार से लेकर विश्वव्यापी मानव समूह तक को समाज के विविध रूपों में स्वीकार किया जाता है । लेकिन समाज शब्द का वस्तुपरक अर्थ ऐसे अधिसंख्य व्यक्तियों के समूह से होता है जिनके उद्देश्य स्पष्ट और स्थायी होते हैं । उदाहरण के लिए भारतीय जनता एक समाज है, जिसे हम भारतीय समाज कहते हैं । दरअसल, किसी विशेष कालखण्ड में एक विशेष स्थान पर रहनेवाले व्यक्तियों का समूह उसके सभी मूल्यों से बँधे रहने पर ही समाज की संज्ञा पा सकता है ।

समाज ऐसी एक संस्था है जो मनुष्य एवं अन्य कई तत्वों को अपने में समेटकर चलती है जिस प्रकार एक विशालकाय वृक्ष की शाखाएँ, उपशाखाएँ, पत्ते, फूल, फल आदि होते हैं और पृथ्वी पर दिखाई देनेवाले इस पेड का आधार मूल रूप से उसकी जड ही होता है, वैसे ही समाज रूपी नींव पर व्यक्ति और उसके ज़रिये परिवार तथा अन्य तत्वों का निर्माण एवं भरण-पोषण होता है । मनुष्य समाज में विद्यमान रहता है और उस में रहते हुए ही अपनी उन्नति के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है । उसका हित, कल्या एवं प्रगति समाज पर ही निर्भर रहती है ।

---

1. A Society is a permanent and continuing grouping of men and women and children, able to carry on independently the process of racial perpetuation and maintenance on tl own cultural level. - R.M. Maciver and Page - Society An Introductory Analysis, P.5.

समाज-विद्वानों के विभिन्न विचार :-

समाज ऐसी व्यवस्था या समूह है जिस में व्यक्ति, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से सम्बद्ध होता है, संगठित होता है । विभिन्न देशों के समाज के व्यवहार एवं चिन्तन में समानता और पर्याप्त अन्तर भी रहता है । राइट के अनुसार -"मनुष्य के समूह को समाज नहीं कहा जाता, अपितु समूह के अन्तर्गत व्यक्तियों के संबंधों की व्यवस्था का नाम समाज है ।"[1] इसी तथ्य को गिन्सबर्ग ने यों स्पष्ट किया है -"ऐसे व्यक्तियों के समुदाय को समाज कहा जाता है जो कि कतिपय संबंधों या व्यवहार की विधियों द्वारा परस्पर एकीभूत हुए हों । जो व्यक्ति इन संबंधों द्वारा सम्बद्ध नहीं होते या जिनके व्यवहार भिन्न होते हैं, वे इस समाज से पृथक होते हैं ।"[2] कहने का अर्थ यह है कि समाज तो ऐसे व्यक्तियों का संगठन है जिनके संबंधों तथा आचार व्यवहारों में समानता हो और ये उन व्यक्तियों से भिन्न हैं जिनके संबंध और आचार व्यवहार भी भिन्न हैं । गिडिंग्स की राय में समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक संबंधों का योग है जिस में सहयोगी व्यक्ति परस्पर आबद्ध हैं ।[3] प्रो. मैकाइवर और

---

1. "It is not a group of people, It is the system of relationship that exists between the individuals of the group". - Elements of Sociology, Wright, P.5.

2. "A society is the collection of individuals united by certain relations or modes of behaviour which mark them from others, who do not enter into those relations or who differ from them in behaviour." Sociology, Ginsberg, P.8.

3. "Society is the union itself, the organisation, the sum of formal relations, in which associating individuals are bound by them Principles of Sociology, F.H.Giddings, P.11.

पेज ने समाज का जो लक्षण प्रस्तुत किया है वह उसके स्वरूप को और भी अधिक स्पष्ट कर देता है -"मनुष्यों में जो चलन हैं, जो कार्य-विधियाँ हैं, पारस्परिक सहायता की जो प्रवृत्ति है, शासन की जो भावना है, जो अनेक समूह एवं विभाग विद्यमान हैं, मानव व्यवहार के संबंध में जो स्वतंत्रताएँ एवं मर्यादाएँ हैं उनकी व्यवस्था को ही समाज कहते हैं। इस निरन्तर परिवर्तित होती हुई जटिल व्यवस्था को ही समाज कहा जाता है। यह सामाजिक संबंधों का एक ताना-बाना है, जो सदा बदलता रहता है।"[1] इस परिभाषा में सामाजिक संबंधों के कुछ विशेष रूपों का उल्लेख किया है। मैकाइवर यह मानकर चलते हैं कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समाज व्यक्तियों का झुंड नहीं है अपितु सामाजिक संबंधों का जाल है। सामाजिक संबंधों में मनुष्य की कई प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाएँ धार्मिकता, नीतिनिष्ठ जीवन आदि शामिल होती हैं। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य प्रत्येक युग में विभिन्न प्रकार के प्रतिमान विकसित करते आये हैं। इनको पीढ़ी-दर पीढ़ी हस्तान्तरित किया जाता रहा है। जो व्यवहार समाज के सदस्यों ने स्वीकार कर लिया हो, वह चलन बन जाता है। चलन के अन्तर्गत रीति-रिवाज़, जन-रीति, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, संस्थाएँ आदि आती हैं। सामाजिक जीवन में इनका बहुत महत्व है क्योंकि इनके अनुसार ही लोगों को एक दूसरे के साथ व्यवहार करना होता है। वैब्स्टर ने समाज की परिभाषा यों दी है - समाज समान ध्येयों के कारण लोगों का एक ऐसा संगठित समूह है, जो साथ-साथ रहता या कार्य- करता हो, निश्चित अवधि

---

1. Society is a system of usages and procedures, of authority and mutual aid, of many groupings and divisions, of controls of human behaviour and of liberties, Society-An Introductory Analysis, R.M.Maciver & C.M.Page, P.5.

के पश्चात् समान स्वार्थ, विश्वास या व्यवसाय के कारण मिलता अथवा पूजा करता हो ।"[1]

एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजियन एन्ड एथिक्स में कहा गया है कि - Sociology is the study, which means in its most general sense the tissue of relations into which human beings enter with one another, The name suggests friendliness and co-operation, and it is true that a certain ultimate community of aim and of character underlies those relations between men which are continuously active and permanent."[2] समाजशास्त्र विषयक विश्व कोश में मानव के अपने साथियों के साथ-साथ विविध प्रकार के संबंधों को समाज कहा गया है ।[3] एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशियल सइनसस में फिर कहा गया कि " Society may be definedas the total complex of human

---

1. A voluntary association of individuals for common ends, especially, an organised group living or working together or periodically meeting worshiping together because of a community or interests or beliefs or a common profession - Webster's Third New International Dictionary, Vol:III ed. 1976, P.2162.
2. Encyclopaedia of religion and ethics, Sociology, James Hastings, Vol.II, Vth edition, Newyork, P.654.
3. Society may be regarded as the most general term referring to the whole complex of relations of man to his fellows. Encyclopaedia of Social Science, Vol.IVX, P.225.

relationships in so far as they grow out of action interns of means - end relationships, intrinsic as symbolic."[1] लापियरे ने समाज को मनुष्य के अन्त:संबंधों की जटिल समस्या कहा है ।[2]

इन सभी परिभाषाओं में समाज के प्रसंग में मानव संबंधों पर विशेष बल दिया गया है । समाज वास्तव में व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों की उपज है । इन विद्वानों के विचारों से स्पष्ट है कि समाज व्यक्तियों का समूह मात्र नहीं है वरन् सामाजिक संबंधों एवं समस्याओं का गहन जाल है । समाज के लिए शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार की समानता एवं एकरूपता अनिवार्य है। अपनत्व का आधार यह समानता ही है । समानता के साथ साथ असमानता भी समाज निर्माण में सहयोग प्रदान करती है । जैसे-जैसे श्रम के विभाजन में वृद्धि होती है वैसे -वैसे सभ्यता का स्तर उच्च होता जाता है । इनके अतिरिक्त अन्योन्याश्रय एवं सहयोग समाज के **मुख्य तत्व हैं** । इनके द्वारा एक सभ्य समाज का निर्माण संभव है । इसी समाज का विश्लेषण समाजशास्त्री करता है । उनके अनुसार समाज मनुष्यों का एक समूह है ।

समाज और व्यक्ति का अन्त:संबंध :-

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । मनुष्य और समाज एक दूसरे से सम्पृक्त हैं, अतएव समाज में मनुष्य जीवन पूर्ण होता है, वह समाज से ही कुछ लेता है और कुछ देता है । व्यक्ति समाज का अंग है, वह समाज का केन्द्र भी है । समाज के बिना उसका जीवन नहीं और उसके बिना समाज की सत्ता नहीं । व्यक्ति और समाज का संबंध जननी एवं सन्तान की तरह अभेद्य है । दोनों के लिए

---

1. Encyclopaedia of social sciences, Vol.XIV, P.231.

2. The term society refers not a group of people but the complex pattern of the norms of interaction that rise among and between them, लापियरे सोशियोलजी, पृ.37.

एक दूसरे की सत्ता अपेक्षित है । व्यक्ति की प्रगति समाज के बिना असंभव है । मनुष्य, समाज से ही नव जीवन प्राप्त करता है । सामाजिक जीवन की शोभा व्यक्ति से ही बढ़ती है । समाज की संरचना, संगठन और उसके पूरे ढाँचे का आधार मानव है । "व्यक्ति का जन्म समाज में ही होता है । इसलिए समाज में रहना उसकी नितान्त आवश्यकता है ।"[1]

सामाजिक प्राणी होने के नाते वह समाज के नियमों, प्रतिनियमों का पालन करता है । समाज में व्याप्त रीति-रिवाज़ों को स्वीकार करता है । सामाजिक व्यवस्था सभी के लिए प्राय: समान ही है । समाज व्यक्ति को कर्तव्य परायणता और धर्मपरायणता सिखाता है । स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए भी व्यक्ति सामाजिक नियमों, परंपराओं, संस्कारों, विधि-विधानों, उत्सव, पर्व, व्रत आदि में बंधकर नियंत्रित एवं संयमित जीवन जीता है । समाज व्यक्ति की पाशविक अन्त:वृत्तियों को सन्तुलित करता है और वह स्वयं विकासोन्मुख होकर समाज को उन्नत बनाता है । समाज का विकास व्यक्ति के विकास में सन्निहित है । व्यक्ति की उन्नति समाज को गति देती है । व्यक्ति का संपूर्ण व्यक्तित्व सामाजिक गुणों से संपन्न होता है । व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं से प्रेरित होकर समाज में रहता है । मनुष्य के रूप में व्यक्ति का संपूर्ण विकास समाज की देन है । व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण समाज द्वारा होता है । वस्तुत: व्यक्तित्व सामाजीकरण का फल है । समाज का निर्वाह और प्रवाह समाज के सदस्यों के सहयोग से चलता है । इसलिए व्यक्ति और समाज का घनिष्ठ संबंध है ।

व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संतुलन के कारण समाज की सभी संस्थाएँ संघटित रूप में कार्य करती हैं । समाज के सदस्यों में एकता बनाये

---

1. His birth in society brings with it the absolute need of society itself - R.M.Maciver and Page. Society- An Introductory Analysis, P.8.

खने के लिए सामाजिक संघटन उपयोगी है । प्रत्येक समाज में आचरण के कुछ नेश्चित नियम और लक्ष्य होते हैं, आचरण के निर्देशित, नियंत्रित और ल्यांकित करने के प्रतिमान होते हैं । इन नियमों आदर्शों और प्रतिमानों का बंध मनुष्य के जीवन के पारिवारिक, सामूहिक, आर्थिक, नैतिक, राजनैतिक त्यादि सभी पक्षों से होता है । सामाजिक जीवन में समाज के पारस्परिक बंध और आचरण के नियम निश्चित होते हैं । इन्हीं नियमों का सामान्यीकृत प है सत्य, अहिंसा, परोपकार, दया, आज्ञाकारिता, ईमानदारी, कृतज्ञता, म, सद्व्यवहार, त्याग, करुणा, न्याय इत्यादि ।

समाज व्यक्ति-चरित्र का निर्माता है । समाज से ही व्यक्ति ा चरित्र बनकर सँवरता है । व्यक्ति संबंधों के साथ समाज हमेशा जुडा रहता । समाज से अलग मानव का अस्तित्व नहीं है । वह मानव जीवन का अनिवार्य ंग है । समाज व्यक्ति के लिए है । समाज से जुडकर ही व्यक्ति अपने अस्तित्व ो पहचान सकता है । व्यक्ति अपने में पूर्ण नहीं है । बैबिल में कहा गया कि ़्वर ने अपनी इच्छानुसार शरीर में एक-एक अंग को अपनी अपनी जगह रख दिया। ादि व्यक्ति के सब अंग मिलकर एक ही अंग होता तो शरीर कहाँ होता ? ास्तव में बहुत से अंगों के होने पर भी शरीर एक होता है । इसी प्रकार समाज ं कई तरह के लोग होते हैं । समाज और व्यक्ति शरीर और अंग है । समाज ं विभिन्न स्वभाववाले, विभिन्न काम करनेवाले, परोपकारी, दानी, दयालु, ोक्षक स्वस्थ करनेवाले, चमत्कार दिखानेवाले, सब भाषाएँ बोलनेवाले, पण्डित ादि कई तरह के व्यक्ति रहते हैं । सफल जीवन के लिए समाज में सब लोगों के हयोग की आवश्यकता है । इस सहयोग के द्वारा ही समाज में व्यक्तियों के ीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति भली-भाँति होती है । इसी के द्वार माज गतिशील बना रहता है । समाज में सब एक ही काम करनेवाले हों तो

बैबिल I कोरि 12: 18-19

दूसरों की आवश्यकता नहीं है । जैसे बैबिल कहता है कि सारा शरीर आँख ही होता, तो वह कैसे सुन सकता, सारा शरीर कान होता तो वह कैसे सूँघ सकता आदि ?[1] समाज के विभिन्न लोगों के सहयोग के बिना जीवन की विविध गतिविधियों का संचालन नहीं किया जा सकता । अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अनेक लोगों पर निर्भर रहता है । समाज जैसे संयुक्त संगठन में ही व्यक्ति का चारित्रिक विकास संभव होता है । इस प्रकार समाज का मूलाधार व्यक्तियों का पारस्परिक संपर्क तथा संबंध है ।

वास्तव में सामाजिकता मानवता का अविभाज्य अंग है । क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही समाज का स्वयं सदस्य होता है । अतः व्यक्ति का जिस समाज में जन्म होता है उसी समाज की व्यवस्थाओं में बन्धा हुआ रहना पडता है । ऐसा करना उसके लिए अपरिहार्य भी है । इसी प्रकार एक समाज विशेष का सदस्य बनने तथा एक दूसरे पर निर्भर रहने के कारण पारस्परिक सहयोग का क्रम दिन प्रति-दिन अपेक्षित होकर विकसित होता जा रहा है और वह अनेक समुदायों से बढकर आज के विश्व समाज तक पहुँच गया है ।

सामाजिक संगठन का स्वरूप :-

सामाजिक संगठन तो स्वतः व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों को व्यवस्थित तथा चिरस्थायी बनाने के लिए ही होता है । तभी तो सभी देशों के सामाजिक संगठन एक से नहीं होते । उनके मूल में भिन्नता अवश्य होती है । सामाजिक संगठन में कोई न कोई तत्व अन्तर्निहित रहता है और इसी तत्व पर विचार करने से सामाजिक संगठन के स्वरूप को पहचाना जा सकता है । किसी भी समाज का अपना एक सिद्धांत, जीवन दर्शन और इस दर्शन पर आधारित

---

1. बैबिल । कोरि 12:21.

जीवन संबंधी विचार होते हैं और लौकिक एवं पारलौकिक तत्व इसी के मूल में है । अतः डा॰ राधाकृष्णन ने बताया है "सामाजिक संगठन को परखने के लिए प्रमुख रूप से उसे समाज में प्रचलित तात्विक विचार, जीवन दर्शन आदि को परखना चाहिए ।"[1] समाज विज्ञानी जिन्सबर्ग के शब्दों में संगठन एक दूसरे से संबंधित उन सामाजिक प्राणियों का एक समूह होता है, जो किसी निश्चित उद्देश्य या उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक समान संगठन बना लेता है ।

संगठन की प्रमुख विशेषताएँ हैं - समान हित या हितों का होना मूर्त स्वरूप होना, ऐच्छिक सदस्यता होना, सहकारिता की भावना होना, कुछ निश्चित कार्य-व्यवस्था होना, नियम और आदान-प्रदान की रीतियाँ या नियम होना, तथा अल्प अथवा दीर्घ जीवन-अवधि होना ।

अन्य समाजों की तरह भारतीय समाज की भी अपनी एक व्यवस्था है । इसके संगठन में प्रमुखतः दो प्रधान तत्वों को आधार बना दिया ग है लौकिक और पारलौकिक । भारत अपनी आध्यात्मिकता के लिए बहुत मशहूर है और सभी भारतीय इस आध्यात्मिकता की ओर अधिक झुकते हैं । इसको सुगम बनाने के लिए भारतीय ऋषियों ने व्यवस्था बना दी है । भारतीय समाज का संगठन वर्ण-व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था के आधार पर किया गया । ऋषियों ने समाज का विभाजन चार वर्णों - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा चार आश्रमों - ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास में किया । सामाजिक संगठन का यह रूप ऋग्वेदीय ब्राह्मण काल तक पूर्ण रूप से स्पष्ट हो चुका था । वह वर्ण व्यवस्था मूल रूप में कर्म अथवा गुणों पर आधारित थी । अतः प्रारंभ में इस में ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव नहीं था परन्तु आगे चलकर इस में विकृतिय पैदा हुई और इसने जातिगत रूप धारण कर लिया । वर्ण व्यवस्था का आधार

---

1. समाज और धर्म, डॉ॰ राधाकृष्णन, पृ॰ 86.

कर्म के स्थान पर जन्म हो गया । वर्ण और जाति में अन्तर आया । मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार वर्ण चार ही रहे और जातियाँ अनेक ।

सामाजिक संचालन केलिए चार बल या शक्तियाँ अनिवार्य हैं - शास्त्रबल, शक्तिबल, धनबल और सेवाबल । इन शक्तियों में ही विश्व के सभी मनुष्य अपनी प्रवृत्ति के अनुसार विद्वान या पण्डित, राजा या सैनिक, कृषक या व्यवसायी और साधारण सेवक बनकर अपनी सेवा समाज को प्रदान करते हैं । "भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है कि उसने अपनी सामाजिक रचना को वैज्ञानिक स्वरूप के साथ आध्यात्मिक स्वरूप भी प्रदान किया जिससे उसमें अपनी सेवायें देनेवाले व्यक्तियों में अपने कार्य के प्रति हार्दिक निष्ठा भी हो ।"[1] इस प्रकार का सामाजिक संगठन समाज के सदस्यों के हितों के संरक्षण और संवर्धन केलिए होता है ।

भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था :-

सामाजिक संगठन के प्रारंभ में किसी भी देश में किसी भी प्रकार का वर्ण-भेद नहीं था ।[2] कालान्तर में कर्मों के विभाजन और कार्यनिर्वाह की योग्यता के अनुसार भारत में समाज का चार वर्णों में विभाजन हुआ । वर्ण-व्यवस्था के विकास में धार्मिक कर्मकाण्ड का अतिशय महत्व और राज्य संस्था में राजसत्ता की प्रभुता-मुख्य रूप से दो प्रमुख कारण थे । धार्मिक कर्मकाण्ड के कारण ब्राह्मण पुरोहित वर्ग की एक पृथक श्रेणी बन गयी और राज्य संस्था में राजा के अधिकार प्रबल होने से समाज की शक्ति क्षत्रिय वर्ण के हाथ में केन्द्रित हो गयी । इसलिए क्षत्रिय भी समाज के अन्य वर्णों की अपेक्षा अपनी महत्ता को अधिक समझने लगे । फलत: उनकी भी अलग श्रेणी बन गयी । गौण रूप से इस व्यवस्था के विकास में

---

1. तुलसी और भारतीय संस्कृति, डॉ. रघुराज शरण शर्मा, पृ. 220-229.
2. अमरेन्द्र मया बुद्ध्या प्रजा: सृष्टास्तथा प्रभो ।
   एकवर्णा समभाषी एकरूपाश्च सर्वश: ।। रामायण 3:10:19.

आर्थिक सम्पन्नता ने भी योग दिया, जिस से वैश्य वर्ग ने पृथक् श्रेणी का विकास किया ।

भारतीय साहित्य में वर्ण व्यवस्था का प्रथम संकेत ऋग्वेद में मिलता है ।"[1] इस में रूपक द्वारा समाज का विभाजन चार वर्णों में किया गया है । पुरुष रूपी समाज का मुख ब्राह्मण, भुजायें क्षत्रिय, उरू वैश्य और पैर शूद्र हैं । इसका उद्देश्य यह है कि शरीर के अंगों के सदृश ही चारों वर्णों को समाज में अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए । ब्राह्मण को बुद्धि संबंधी कार्य, क्षत्रिय को समाज की रक्षा संबंधी कार्य, वैश्य को धनार्जन से समाज का पोषण और शूद्र को समाज की सेवा करनी चाहिए ।

"वर्ण" शब्द की निष्पत्ति "वृ" धातु से हुई है । इसका अर्थ है - वरण कर लेना, उस वर्ण विशेष को अपने लिए स्वीकार कर लेना, जिस को व्यक्ति उचित समझता है उस कार्य के निर्वाह की योग्यता रखता है । अतः प्रारंभिक काल में वर्ण व्यवस्था गुण कर्म स्वभाव के अनुसार रही थी, जिसके प्रमाण परवर्ती स्मृति आदि साहित्य में है ।[2] वर्ण व्यवस्था के उद्भव के साथ ही चारों वर्णों के कर्मों का भी विभाजन हुआ।[3]

---

1. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्य कृतः ।
   उरू तस्य यद्वैश्य पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ।। - ऋग 10:90:12.
2. जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्विज उच्यते ।
   स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैवेद्येनेज्यया सुतैः ।
   महायज्ञैश्च यज्ञैश्च क्रियते ब्राह्मीयं तनुः ।। - मनु :2:28
3. वाल्मीकि रामायण में राज्य, समाज एवं अर्थ व्यवस्था, डा॰शान्ति स्वरूप गुप्त, पृ॰ 23.

यज्ञ करने के लिए चारों वर्णों के लोगों की समान रूप से आवश्यकता रहती थी। वेदपाठ आदि कृत्यों का संपादन बुद्धिजीवी ब्राह्मण वर्ग कर सकता था। यज्ञ विरोधी असुरों से यज्ञ की रक्षा का भार क्षत्रिय वर्ग को सौंपा गया। यज्ञ में व्यय हेतु धन आदि की व्यवस्था का भार वैश्य वर्ग को सौंपा गया। इसके अलावा यज्ञशाला के शोधन, सामग्री के एकत्रीकरण आदि सेवा का कार्य करना शूद्र का कर्तव्य था। धार्मिक कृत्य यज्ञ आदि में चारों वर्णों की उपयोगिता को दृष्टि में रखते हुए चार वर्णों के विभाजन की सर्वप्रथम सूचना यज्ञ के माध्यम से ही दी गयी है।[1]

वर्ण विभाजन के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार महत्वपूर्ण कार्य का निर्वाह करता था। वह वर्ण व्यवस्था हिन्दू धर्म की शक्ति ही है। इस में किसी भी प्रकार के ऊँच-नीच का भाव विद्यमान नहीं था।[2] परन्तु कालान्तर में यज्ञों की विधि और अनुष्ठान इतने विस्तृत एवं जटिल हो गये कि अनुभवी एवं प्रशिक्षित पुरोहितों के अभाव से यज्ञ कार्य का संपादन असंभव सा होने लगा। धीरे-धीरे संपूर्ण धार्मिक कृत्य ब्राह्मण वर्ग के अधीन हो गया। फलतः धार्मिक क्षेत्र में ब्राह्मणों का एकाधिकार स्थापित हुआ। स्वतंत्र रूप से धार्मिक कृत्यों के संपादन का समाज में विरोध होने लगा।

राजा के रूप में क्षत्रिय वर्ग की सम्प्रभुता का विकास होने से समाज की शक्ति क्षत्रिय वर्ग के हाथों में आ गयी थी। राजसूय, अश्वमेध, वाजपेय आदि यज्ञों की व्यवस्था के कारण राजन्य वर्ग की प्रतिष्ठा में अतिशय वृद्धि हुई। राजा के लिए प्रयुक्त "विशमत्ता" विशेषण इस तथ्य का संकेत करता है कि राज्य शक्ति निरंकुशता की ओर अग्रसर थी। वर्ण विभाजन प्रारंभ में गुण-कर्म स्वभाव के अनुसार था, कालान्तर में वंशानुगत स्वरूप को धारण कर रहा था।

---

1. ऐत:ब्रा: 34:1

2. वेदकालीन समाज, डा. शिवदत्त ज्ञानी, पृ. 81-82.

ब्राह्मण :-

चार वर्णों में ब्राह्मण श्रेष्ठ था ।[1] वह ज्ञान विज्ञान की शिक्षा से समाज के तीनों वर्णों को उन्नत करने में कृत कृत्य रहता था । त्यागमय जीवन, पाण्डित्य, आचार-व्यवहार की शुद्धता, नैतिक आदर्श आदि गुण इसको समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते थे ।

ब्राह्मण को अपना कार्य निष्काम भावना से समाज के कल्याण के लिए संपादन करना होता था । लोभ-मोह से इसको विरत रहने का निर्देश था, जो ब्राह्मण धन के लोभ से किसी यज्ञ में अपने आप को समर्पित करता था उसको समाज में उच्छिष्ट भोजन के समान त्याज्य समझा जाता था ।[2] ब्राह्मण से यह अपेक्षा रहती थी कि वह अपने ज्ञान की गरिमा और तपोमय जीवन साधना द्वारा सदाचार से युक्त रहता हुआ समाज के कल्याण में प्रवृत्त रहे । वह विविध तात्त्विक दर्शन के गूढार्थ का ज्ञाता हो । अपने चारित्रिक गुणों के कारण समाज में प्रतिष्ठा युक्त हो । ब्राह्मण का सम्मान सम्पत्ति-अर्जन से नहीं, अपितु ज्ञानार्जन के कारण था । यज्ञीय प्रक्रियाओं में उच्चारण की शुद्धता ब्राह्मण की प्रतिष्ठा का हेतु थी ।

ब्राह्मण को सामाजिक महत्व प्राप्त था । शरीर में जो स्थान मुख का है वही समाज में ब्राह्मण को प्राप्त था ।[3] पुरोहित को साक्षात् यज्ञ रूप ही माना गया है ।[4] ब्राह्मण वर्ण का कर्तव्य समाज के बौद्धिक और आध्यात्मिक हितों की रक्षा करना था । इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्हें

---

1. वाल्मीकि रामायण में राज्य, समाज एवं अर्थ व्यवस्था, डा. शान्ति स्वरूप गुप्त व डा. श्रीनिवास मिश्र, पृ. 23.
2. ऐत. ब्रा 15:2
3. ताण्डय ब्रा: 6:16.
4. यज्ञ उ वा एष प्रत्यक्षं, यद् ब्रह्मा ब्रह्मणि हि सर्वोयज्ञः प्रतिष्ठितः -

अपने ज्ञान और गुण द्वारा दूसरों की सहायता करनी पड़ती थी, जिसे वे शिक्षक और पुरोहित के रूप में पूर्ण करते थे । पौरोहित्य और शिक्षण दोनों के लिए वैदिक ज्ञान की अनिवार्यता विभिन्न प्रसंगों में ज्ञापित है ।[1] ब्राह्मण वर्ण के लिए समाज में अध्यापन का कार्य बहुत अनिवार्य था । अध्यापन के माध्यम से कर्मकाण्ड के विविध रहस्यों का ज्ञान शिष्यों को कराया जाता था ।[2] शिक्षक के रूप में इसका प्रधान कार्य अपने बेटे को वैदिक शिक्षा एवं याज्ञिक कर्मकाण्ड में प्रवीण करना था ।[3] ब्राह्मण ऋषि आश्रमों या गुरूकुलों में अध्यापन का कार्य करते थे ।

धार्मिक कर्मकाण्ड के संपादन में ब्राह्मण वर्ग पुरोहित के रूप में कार्य संपादन करता था । यद्यपि साधारण गृह्य यज्ञ पुरोहित की सहायता के बिना भी संपन्न होते थे, किन्तु श्रौत यज्ञों में पुरोहित की संख्या सोलह तक होती थी । पौरोहित्य कर्म ब्राह्मण वर्ण के लिए वंशानुगत हो चुका था । कोई ब्राह्मणेतर व्यक्ति स्वतंत्र रूप से पौरोहित्य का कार्य नहीं कर सकता था । इस विवेचन से स्पष्ट है कि शिक्षण कार्य के अतिरिक्त धार्मिक अनुष्ठानों और यज्ञों के द्वारा ब्राह्मण वर्ण राजा और प्रजा दोनों के लिए सुख शान्ति का प्रयत्न करता था । शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण को दान स्वीकार करने और वंश की शुद्धता बनाये रखने का निर्देश है ।[4]

क्षत्रिय :-

भारतीय समाज का द्वितीय महत्वपूर्ण संगठन क्षत्रिय वर्ण के रूप में चित्रित है । संस्कृत कोश में "क्षत्र" शब्द के अर्थ उपनिवेश शक्ति, प्रभुत्व आदि

---

1. ऐत: 17:5.
2. कौ:ब्रा: 7:4.
3. शत:ब्रा: 16:2-4
4. शत: ब्रा: अ:5.

किये गये हैं ।[1] प्राचीन काल में क्षत्रिय वर्ण के लिए समाज की रक्षा का भार निर्धारित किया गया था । सुरक्षा के लिए उनको निरंतर शत्रुओं से युद्ध करना होता था, जिसके कारण उनको शारीरिक बल के साथ आत्मिक साहस की भी निरंतर आवश्यकता होती थी । इसलिए क्षत्रिय को ओज, वीर्य और तेज से युक्त होना चाहिए था ।[2] क्षत्रिय के लिए अपेक्षित था कि इन गुणों को विकसित करके राज्य को प्राप्त करें तथा दीर्घायु तक राज्य का उपभोग करता हुआ यश-कीर्ति का अर्जन करें ।[3]

क्षत्रिय वर्ण का प्रमुख कर्तव्य प्रजा की रक्षा एवं सहायता करना है । किसी भेद-भाव के बिना चारों वर्णों की प्रजा की रक्षा करना राजा का परम कर्तव्य समझा जाता था । दान देना, अध्ययन एवं यज्ञ करना, योग-क्षेम में लगे रहना, ये भी इनके कर्तव्य हैं, किन्तु प्रजा के रक्षण तथा पालन के लिए युद्ध करना क्षत्रिय का श्रेष्ठ कर्तव्य था । कौटिल्य का कहना है कि प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा के हित में राजा का हित ।[4] क्षत्रिय धर्म अत्यन्त कठोर माना गया है क्योंकि रण क्षेत्र में गुरु-शिष्य या पारिवारिक संबंधों का परित्याग होता है ।

समाज के शासन की संपूर्ण शक्ति का केन्द्र क्षत्रिय था । अतः समाज में इसको महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था । राजा के रूप में क्षत्रिय को प्राणिमात्र का अधिपति, धर्म और ब्राह्मण का रक्षक प्रतिपादित किया गया है । राजा को पुरोहित रूप में ब्राह्मण का सम्मान करना होता था ।[5] शत्रुओं के

---

1. Student Sanskrit Dictionary, आप्टे.वी.एस.
2. रघुवंश टीका 2:53.
3. ऐत: ब्रा: 34:5-6.
4. कौटिल्य अर्थ: 1:19.
5. शत: ब्रा: 11:5:7:1.

अतिरिक्त अन्य सामाजिक तत्वों का उन्मूलन करके राज्य में शान्ति एवं व्यवस्था कायम रखना क्षत्रियों का परम कर्तव्य था ।

क्षत्रियों के लिए धर्मयुद्ध से बढ़कर श्रेयस्कर और कुछ नहीं माना जाता था ।[1] कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि धर्मयुद्ध में निहित होने पर वह स्वर्ग प्राप्त करेगा और यदि विजयी बना तो पृथ्वी का अधीश्वर बनेगा ।[2]

वैश्य :-

अर्थ के बिना समाज के स्वरूप की रक्षा सर्वथा असंभव है । अर्थ चिन्ता से त्राण पाने के लिए समाज में वैश्यवर्ग का प्रादुर्भाव हुआ । यह वैश्य वर्ण, कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य के द्वारा अर्थ संग्रह करते हुए समग्र समाज को अर्थ संकट से मुक्त कराने का साधन बना । जैसे शरीर के पोषण के लिए उदर आवश्यक है, वैसे समाज रूपी शरीर के पोषण केलिए उदर स्थानीय वैश्य वर्ग है । वही मुख्य प्रजा है । अर्थ बल ही राष्ट्र की प्रतिष्ठा है, अतः अर्थ प्रधान वैश्य वर्ग ही समाज का शरीर माना गया है ।

समाज के भरण पोषण का भार मुख्य रूप से इस वर्ण पर ही था ।[3] राजकीय आय का मुख्य स्रोत भी यही था । वैश्य से अनिवार्य रूप से "कर" ग्रहण किया जाता था । सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह कृषिकर्म, पशुपालन और व्यापार का कार्य करता था । कृषि कर्म के द्वारा अन्न उत्पन्न करना इसका मुख्य कार्य था । समाज में यह भावना प्रचलित हो गयी थी जिसके पास अन्न की बहुलता है वही समाज में प्रतिष्ठा पाता है ।[4]

---

1. महाभारत भी: 24:31
2. महाभारतकालीन समाज, सुखमय भट्टाचार्य-राजधर्म, पृ. 363.
3. वैश्यो वै पुष्यति । - कौ: ब्रा: 25:15.
4. यस्यैवेह भूयिष्ठान्नं भवति स एव भूयिष्ठं लोके विराजति । ऐत: ब्रा: 1:5.

अन्न प्राप्ति के लिए विभिन्न धार्मिक कृत्यों का संपादन किया जाता था ।[1] वैश्य का द्वितीय प्रधान कर्तव्य पशु-पालन था ।[2] पशु पालन से कृषि कर्म के द्वारा अन्न उत्पादन में सहायता तो मिली ही थी, साथ ही पशु सामाजिक प्रतिष्ठा के हेतु भी थे ।[3] पशुओं की प्राप्ति के लिए विभिन्न धार्मिक कृत्यों का संपादन किया जाता था ।[4] इस युग में विनिमय का मुख्य साधन भी पशु ही थे । अर्थोपार्जन का तृतीय साधन व्यापार था । समुद्र पार तक व्यापार करने के संकेत उपलब्ध हैं । वैश्य वर्ण आर्थिक रूप से संपन्न होता था, यद्यपि सामाजिक दृष्टि से ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण की अपेक्षा निम्न कोटि में परिगणित है ।[5] राजनीतिक महत्त्व के उत्सवों पर अन्य लोगों के साथ वैश्यों को भी निमंत्रित किया जाता था । वैश्यों को यज्ञ करने तथा वेदाध्ययन करने का अधिकार था ।

शूद्र :-

भारतीय वर्ण व्यवस्था में चतुर्थ स्थान शूद्र का है । शूद्र का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में मिलता है ।[6] ऐतरेय ब्राह्मण में आठ बार शूद्र शब्द का प्रयोग है ।[7] भारतीय वर्ण व्यवस्था का आरंभ ऋग्वेद के अंतिम काल से हो गया था, किन्तु शूद्रों की दयनीय दशा का ऐतिहासिक विवरण आत्रेय ब्राह्मण, अन्य धर्मशास्त्रों तथा मौर्यकालीन विदेशी यात्रियों के विवरणों से प्राप्त होता है । शूद्रों की दो कोटियाँ थीं, निर्वासित शूद्र और अनिर्वासित शूद्र ।

---

1. अन्नादोऽन्नपति र्भवति-अश्नुते प्रजयान्नधम् । ऐत:ब्रा: 2:2, 1,6, 32:11
2. पशुकाम खलु: वैश्य: - तैति:सं: 2:5, 10:2.
3. एतद्वै वैश्यस्य समृद्धं यत्पशव: - ताण्ड: ब्रा: 18:4:6.
4. कौ: ब्रा:4:5, 2:2, ऐत: ब्रा: 1:5.
5. ता: ब्रा: 6:.1:10.
6. ऋग: 10:90:12.
7. ऐत: ब्रा: 33:5, 34:1, 35:3.

शूद्रों में उच्चकोटि के शूद्र अनिर्वासित कहलाते थे । वे भारतीय वर्ण व्यवस्था में आनेवाले चतुर्थ वर्ण के लोग थे जिन पर अन्य तीनों वर्णों की सेवा का भार आश्रित था ।[1] इन में सभी प्रकार के कर्म करनेवाले बढ़ई, कुम्हार, स्वर्णकार, वस्त्रकार, नाई, धोबी और सेवक-सेविकाएँ आते हैं । दूसरी कोटि के निर्वासितों में वे थे जो भारतीय वर्ण व्यवस्था से बाहर गिने जाते थे । ये चाण्डाल लोग तथा जन-जाति और श्वपच कहलाये । जन-जाति के लोग वर्ण-व्यवस्था की परिधि से बाहर रहने के कारण निर्वासितों की कोटि में गिने गये ।

समाज में शूद्र को आदर नहीं दिया गया था । ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि दासवर्ण तीनों वर्णों से निम्न माना जाता था । ऋगवेद में प्रयुक्त "दास" शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए रामायण ने इस प्रकार लिखा है कि - दास कर्म करनेवाला, भृत्य के समान स्वामी की सेवा करनेवाला है ।[2] इस से प्रतीत होता है कि दास तीनों वर्णों का विरोधी नहीं, अपितु सेवक था । ऋग्वेदिक काल में दास और शूद्र गृह कार्य या नौकर का कार्य करते थे । ऋग्वेदीय ब्राह्मणों में शूद्रों को "अन्यस्य प्रेष्य", "कामोत्थाप्य" और यथाकामवध्य कहा गया है ।[3] इन तीनों विशेषणों से शूद्र की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश पडता है । वह किसी कार्य को करने में स्वतंत्र था । उसके दैनिक कार्य दूसरों पर निर्भर थे ।

शूद्रों के साथ वैवाहिक संबंध अनुचित माना जाता था, यद्यपि ब्राह्मण कालीन युग में वैश्यों और शूद्रों के मध्य अनुलोम एवं प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाह प्रायः मान्य थे। तथापि यह भी कहा गया है कि शूद्र का आर्यपति समृद्धि की प्राप्ति नहीं कर सकता ।

---

1. वाल्मीकि रामायण में राज्य, समाज एवं अर्थ-व्यवस्था, डॉ. शान्ति स्वरूप गुप्त व डा. श्रीनिवास मिश्र, पृ. 24.
2. ऋग सायण भा: 10:38:3
3. ऐत: ब्रा: 35:3

ब्राह्मण युग में शूद्रों को धार्मिक अनुष्ठानों के अयोग्य माना गया था ।[1] शूद्रों को वैदिक कर्मकाण्ड से पृथक् करने के कई कारण थे । आर्थिक प्रगति एवं सामाजिक विभाजन ने यज्ञों के स्वरूप को नितान्त परिवर्तित कर दिया , जिसके फलस्वरूप यज्ञ बहुत विस्तृत, दुरूह एवं व्यंग्यपूर्ण हो गये । कालक्रम से यज्ञ उच्चवर्णों के विशेषाधिकार हो गये, क्योंकि उन्हीं के पास इन विस्तृत यज्ञों के संपादन की सुविधा एवं साधन थे । महाभारत में युधिष्ठिर ने स्पष्ट कहा है कि याज्ञिक कार्य निर्धन व्यक्ति के सामर्थ्य से परे हैं ।[2] शूद्र गरीब होने के कारण यज्ञों के व्यय में असमर्थ थे । संपन्न शूद्र यज्ञों के अधिकारी रहे होंगे । शूद्रों के धार्मिक कृत्यों के बहिष्कार का मुख्य कारण उनकी आचार संबंधी अपवित्रता थी । शुनः शेप के आख्यान से स्पष्ट है कि विश्वामित्र ने अपने पुत्रों को शाप देते समय आचार की अपवित्रता की ओर संकेत किया था ।

पश्चिम-एशियाई समाज में वर्ग विभाजन :-

बैबिल के पूर्व मिस्र, हीब्रू, सुमेरिया, बाबिलोन, असीरिया यूनान {Greece}, रोम आदि देशों के समाज में वर्ण धर्म की व्यवस्था नहीं मिलती । लेकिन कर्म के अनुसार इन समाजों में और बैबिल में दिये गये समाज में जन विभाग के अन्तर्गत विभाजन की रेखाएँ देखी जा सकती हैं । प्रसिद्ध विद्वान माईकिल रसेल के अनुसार मिस्र के सामाजिक वर्ग विभाजन में भारतीय वर्ण व्यवस्था की अनुरूपता देखी जा सकती है ।[3] उनके अनुसार भारतीय और मिस्र देशों के निवासी विविध श्रेणियों में बँटे हुए थे जिनके अधिकार, सम्मान, स्थिति आदि में भेद था । ग्रीक इतिहासकार पीटर के अनुसार मिस्र के एक समाज के लोग दूसरे समाजों में सम्मिलित नहीं किये जाते थे । राजा, पुरोहित, कर्षक या

---

1. कौ: ब्रा: 12:3, ऐत: ब्रा: 8:1.

2. महाभारत कुम्भकोण 1:3:164:2-3.

3. Michle Ressel, Ancient and Modern Introductions, P.11.

दास भिन्न भिन्न स्थानों पर ही रहते थे ।[1] परन्तु इतना होते हुए भी भारत के समान कठोर वर्ण धर्म व्यवस्था का विकास यहाँ पर न हो सका ।

वर्ग का सामान्य अर्थ है समान सामाजिक स्तरवाले व्यक्तियों का समूह । मैकाइवर के शब्दों में सामाजिक वर्ग समुदाय का ऐसा भाग होता है जो अपने विशिष्ट सामाजिक स्तर के कारण दूसरों से भिन्न होता है । इसी प्रकार की परिभाषा लापियर ने दी है - एक सामाजिक वर्ग एक स्पष्ट सांस्कृतिक समूह है, जिसे संपूर्ण जनसंख्या में एक विशेष स्थिति या पद प्रदान किया जाता है।

मिस्र में समाज का विभाजन भारतीय वर्ण व्यवस्था के समान वर्ग व्यवस्था के अनुसार था । इस वर्ग विभाजन में पहला स्थान राजा और राजकुल का था । वे दूसरों से बिलकुल अलग थे । दूसरा स्थान सामन्तों का था। इन में सर्व प्रथम सामन्त पुरोहित थे । उसके बाद बडे बडे जमीन्दार और राज-कर्मचारी थे । तीसरा कृषक वर्ग, स्वतंत्र नागरिक और व्यापारियों का था । चौथा स्थान दासों का था । भारतीय समाज में ब्राह्मण के लिए निर्धारित काम ईश्वर पूजा, वेदाध्ययन, पौरोहित्य, मन्दिर सेवा आदि था । यही काम करनेवाले सामन्त मिस्र देश में पुरोहित नाम से जाने जाते थे । वे प्रति दिन दो बार और रात में भी स्नान करते थे । शरीर को शुद्ध करके पुजारी मन्दिर में जाता था । द्वार के बाहर से ही देवता को धूप अर्पित करता था । मूर्ति को स्नान कराना, वस्त्र पहनाना और भोग लगाना सामन्त पुरोहितों का दैनिक कार्य था ।[2]

धार्मिक व्यवस्था के कर्णधार सामन्त पुरोहितों का मिस्र समाज में पर्याप्त सम्मान था । वे राजकार्य में भी सलाह देते थे एवं विशेष अधिकार

---

1. Social Life in Ancient Egypt, Peter, P.11-12.

2. The story of civilisations, Will Durant, P.198-199.

युक्त थे । पहले सामन्त पुरोहित राज्य व्यवस्था के आवश्यक अंग थे और राजा के विश्वास पात्र थे । इन में अधिकांश ऊँचे कुल के थे और कुछ मध्यम वर्ग के नगरवासी थे । वे राजा की तरह आदरणीय थे । सामान्यतया पौरोहित्य वंशानुगत हो गया था । प्रजा की धर्म भीरुता और राजाओं की राजनीतिक उदारता से पुरोहितों ने विशेष अधिकार प्राप्त कर ऐसा वर्ग उत्पन्न किया जो कालान्तर में राजकुल और अन्य सामन्तों से भी अधिक समृद्ध हो गया । वे जनता के विश्वास से लाभ उठाते थे । ये जिन विशालकाय मन्दिरों में रहते थे वे किसी राजमहल से कम नहीं थे । बाद में उन्होंने धर्म और नैतिकता के संबंध को भुला दिया । देवालयों में देवताओं की सन्तुष्टि के लिए देवदासियाँ होती थीं जिनसे पुजारियों की वासना की तृप्ति होती थी । इस प्रकार देवालय पुजारियों के अन्तःपुर बन गये । पुरोहितों के इन धार्मिक अनाचारों और आडम्बरों की पराकाष्टा उस समय हुई जब "फेराओ" नरेश अमेन होतेप चतुर्थ मिस्र की गद्दी पर बैठे ।[1] सुमेरिया का समाज अभिजातवर्ग, मध्यवर्ग, तथा निम्न वर्ग में विभक्त था । सुमेरिया में पुरोहितों की नियुक्ति, व्यवस्था और काम मिस्र पुरोहितों के समान ही थे । अभिजात वर्ग में पुरोहित और राजकुल थे ।[2]

बाबिलोन समाज पुरोहितों से सर्वाधिक प्रभावित था । पुरोहितों का प्रभाव राजा पर भी था । पुरोहित अनुदान में अन्न, भूमि, स्वर्ण, चाँदी आदि बहुमूल्य वस्तुएँ पर्याप्त रूप में पाते थे । कालान्तर में ये प्रभूत धन संपत्ति के मालिक हो गये । मन्दिरों के पास मीलों की भूमि, अपार धन और जनसम्पत्ति आदि होने से पुरोहित भी कालान्तर में राजा के समस्त अधिकारों से युक्त थे । इससे मालूम होता है कि बाबिलोन की पौरोहित्य प्रथा वैदिक और परवर्ती भारतीय पुरोहित प्रथा से भिन्न न थी ।

---

1. The Western Experience, Egyptian Society, Alped A.Knope, Newyork, P.15-16.
2. Our oriental Heritage, The history of civilisations,

हीब्रू समाज में दो तरह के पुरोहित थे । बहुदेवताओं को माननेवाले और एक ईश्वर को माननेवाले । देव-देवताओं में बालदेव की पूजा करनेवाले और एक ईश्वर में विश्वास करनेवालों के बीच मतभेद था । अन्त में इस मत-भेद की समाप्ति धर्माधिकारियों की क्रान्ति के साथ हुई । इस प्रकार एकेश्वरवाद की स्थापना हुई । पुरोहित बलि चढाते थे । मन्दिर में कृत्यों को विविध पुरोहित ही करते थे । ये "कर" आदि से मुक्त थे एवं मन्दिर के अनुदान पर निर्भर रहते थे ।

प्राचीन काल के समाज में अभिजात वर्ग या पुरोहित वर्ग का प्रभुत्व था । बाद में भी साम्राज्य युग के मंत्र-तन्त्र तथा आडम्बर के प्रचार से पुरोहित वर्ग शक्तिशाली बन गया ।

मिस्र में समाज का विभाजन वर्ग व्यवस्था के अनुसार किया गया था । इस में सब से प्रथम स्थान राजा और राजकुल का था । प्रारंभ में कुल समाज से बिलकुल पृथक था । दूसरे लोगों से उनके वंश का रक्त दूषित न हो, इसके लिए वे अपने ही परिवार में विवाह करते थे । उन में भाई-बहन और पिता-पुत्री में भी विवाह होता था । इसका कारण यह बताया जाता है कि राज्य की उत्तराधिकारी बहन होती थी । इसलिए राज-पद प्राप्त करने के लिए वे ऐसा करते थे । मिस्र में पहला राजा "मेनेज" था । उसने उत्तरी मिस्र को 3200 ई.पू. जीत लिया था । उसने "थोथ" नामक देवता से प्राप्त कानूनों का प्रचलन किया और अपने को फेराओ ﴾ Pharaoh ﴿ उपाधि से विभूषित किया । तृतीय राजवंश से लेकर छठवें राजवंश तक का काल प्राचीन राज्य कहलाता है । तृतीय वंश का संस्थापक ज़ोसर ﴾ Zoser ﴿ के समय से मिस्र में सांस्कृतिक प्रगति और भौतिक समृद्धि के एक महान युग का प्रारंभ होता है । उनके गुणों से प्रभावित होकर जनता उसकी पूजा भी करने लगी थी । खूफू, यूसेरकाफ,' पेपी प्रथम

आदि आठ राजवंश बेबिल के पूर्व मिस्र में शासन करते थे । वे सुन्दर मकानों में रहते थे इसलिए उन राजवंशों को "फेराओ" ﴾Royal House ﴿ या बड़े मकान में रहनेवाले कहते थे ।[1]

प्राचीन समाज में लोग यह मानते थे कि राजा की विशेष रूप से देवताओं से घनिष्ठता होती थी । इसलिए राजाओं का वैसा ही आदर होता था जैसे देवी-देवताओं का ।[2] बहुत प्राचीन काल में मिस्री या यूनानी लोग, रोमी लोग, हित्ती लोग आदि राजा को ईश्वर द्वारा ठहराए हुए शासक मानते थे । इब्रानी या इस्राएल के लोग भी इस से सहमत होते थे । बाद में इस विचार का विकास हुआ कि ये राजा ईश्वर के प्रतिनिधि थे । इसलिए जो कुछ ये करते थे, वह सब कुछ मान्य था । मिस्र में फरओन राजा प्राचीन काल से आदर पाते रहे थे । कभी राजाओं में ईश्वर के समान गुण देखे गये और उनकी पूजा आरंभ हुई । सम्राटों की पूजा का इस प्रकार आरंभ हुआ ।

शासन एकतंत्र की अपेक्षा धर्मराज्य था । प्राचीन राज्य की सरकार निरंकुश नहीं थी । राजाओं का कर्तव्य प्रजा का संरक्षण और राज्य विस्तार था । उनका सर्वप्रथम लक्ष्य राज्य में एकता स्थापित करना और सहकारिता की भावना को विकसित करना था । हीब्रू लोगों के शासक पहले कुलपति एवं न्यायाधीश थे । उनकी आज्ञा का पालन भी लोग करते थे । ये नेता और योद्धा भी थे ।

यूनान ﴾ Greece ﴿ के निवासी अपने को किसी पूर्वज की सन्तान मानते थे और प्राय: सामन्त के अधीन रहते थे। जो सामन्त सब से शक्तिशाली

---

1. Ancient civilizations of East and West, G.Bongard &Co. Progress publishers, Moscow, P.117.
2. Our oriental Heritage, The story of civilisations, Will Durant, P.206.

होता था ; उसे राजा मान लिया जाता था । राजा पृथ्वी का देवता समझा जाता था । उसके दैवी अधिकार थे । उसके अतिरिक्त राजा के लौकिक अधिकार भी थे । उसी के निर्देशन में धार्मिक क्रिया कलापों का संपादन किया जाता था । सिद्धांत रूप में वह राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश माना जाता था । लेकिन व्यवहार में सुव्यवस्थित और लिखित कानून के अभाव में वह न्यायाधीश के स्थान पर मध्यस्थ के रूप में ही कार्य कर पाता था । राजा की शक्ति विस्तृत और व्यापक थी । वे निरंकुश और स्वेच्छाचारी नहीं थे ।

रोमी समाज की शासन नीति सुदृढ थी । स्वभावानुसार रोमी न्यायप्रिय तथा शासन के प्रति आज्ञाकारी थे । रोम का शासन पार्थिव, राष्ट्रीय तथा सैनिक था । रोमी समाज न्याय और नियम का पालन करनेवाला था । इसलिए प्रान्तों में सुव्यवस्था और शासन आदि का प्रभाव ऐसा पडा कि वर्तमान काल तक अनेक देश और प्रान्तों का संगठन रोम की शासन पद्धति के अनुसार ही है ।

पश्चिम-एशियाई समाज में वैश्य शब्द का प्रयोग नहीं मिलता । लेकिन व्यापार, कृषि, पशुपालन आदि करनेवाले लोग यहाँ रहते थे । जरूसेलम यहूदा राज्य का और शोमरोन इस्राएल राज्य के राजनगर थे । यहाँ के लोगों के जीवन से संबंधित महान घटनाओं में नागरिक जीवन का बडा महत्वपूर्ण स्थान था। यहाँ के लोग खेती में ही लगे रहे । मिट्टी से उनके जीवन का गहरा संबंध था । किसान के लिए जीवन कठिन था । वर्षा और उपज का समय कम होता था । फिर भी किसान वर्ष भर काम करता रहता था । जहाँ वृक्ष अधिक होते थे वह स्थान बहुधा पवित्र माना जाता था । गाँव की बस्ती के आसपास खेत थे और खेतों के पास ही भेड-बकरियाँ और गाय-बैलों के लिए चारा रहता था । ---

---

The life of greece, Society, Will Durant, P. 10-11.

इब्रानी लोग अपने अस्तित्व के प्रारंभिक काल में भ्रमण करनेवाले थे । वे भेड-बकरी, गाय-बैल का पालन करते थे और चारे की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान में भ्रमण करते थे । वे ऐसे क्षेत्रों में घूमते थे जिस में उनके पशु-धन का पालन करने के लिए काफी वर्षा होती थी । वे किसी भी स्थान में बहुत दिन नहीं टिकते थे ।[1]

"कनानी" शब्द का अर्थ व्यापारी है । वे खेती भी करते थे । धर्म का संबंध कृषि से संबंधित जीवन बितानेवाले लोगों की ज़रूरतों से था । अतः वे स्वाभाविक रूप में यह सोचते थे कि वे भी कहीं बस जाएँ और खेती करने तथा अंगूर की बाटी और फल बाग आदि लगाने में लग जाएँ तो उन्हें भी उस देश के देवी-देवताओं के प्रति आदर की भावना प्रदर्शित करनी होगी । उनके बीच एकता की भावना नहीं थी ।

मिस्र में सारी धरती राजा की व्यक्तिगत सम्पत्ति थी । परन्तु खेती करने के लिए वह कृषकों में बाँट दी जाती थी । कृषकों में अधिकांशतः स्वतंत्र नागरिक होते थे । किन्तु कर्षकों में वे भी थे जो सामन्तों और सामन्त पुरोहितों के खेत में काम करते थे । सुमेरिया में कृषि का प्रमुख स्थान था । मिस्रियों की भाँति ये सिंचाई-व्यवस्था, बाढ-नियंत्रण और नहरों द्वारा जल का उपयोग करने के कार्य में कुशल थे । पशुपालन उद्योग के अन्तर्गत सुमेरिया के लोग भेडों और बकरियों के अतिरिक्त गायों का भी पालन करते थे । कृषि कार्य के लिए बैलों को उपयोग में लाया जाता था ।[2]

बाबिलोन में कृषि का महत्त्वपूर्ण स्थान था । वे आदर्श कृषक थे । कृषि को सुव्यवस्थित करने के लिए कानून बने थे । बाबिलोन अन्न उत्पादन

---

1. The people of the Old Testament, Dr.Peter, P.6.

2. Our Oriental Heritage, The Civilisation of Egypt, Agriculture, P. 156.

के लिए विख्यात था । बाबिलोन में पशु-पालन का महत्वपूर्ण स्थान था । पशुओं को पालने के लिए राज्य की ओर से व्यवस्था थी । भेड और दुधारू जानवरों को पालने के लिए जिलों और शहरों में चरवाहे नियुक्त थे । राजा और गवर्नर समय-समय पर इनका निरीक्षण भी करते थे । चरवाहे राज दरबार में आकर अपने पशुओं का ब्यौरा देते थे । व्यक्तिगत पशुओं और भेडों पर टैक्स देना पडता था । बेईमानी करने पर उन्हें दण्ड दिया जाता था । बाबिलोन में व्यापारिक उन्नति हुई थी । प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो. विल डूरेन्ट के अनुसार बाबिलोन की सभ्यता मूल रूप में वणिक् सभ्यता है ।[1]

पश्चिम-एशियाई समाज मिस्र, हीब्रू, सुमेरिया, बाबिलोन, यूनान, रोम आदि समाजों की सभ्यता का एक प्रमुख निर्दय लक्षण दासत्व की प्रथा थी । वहाँ शूद्र जैसे शब्द नहीं मिलते, लेकिन उनके समान काम करनेवालों की संख्या बहुत थी । मिस्र की जनसंख्या में अधिकांश कृषक दास थे, उनका जीवन कठोर था और अपने स्वामियों से मुक्ति मिलना कठिन था । इन सबके घर एक कमरे के होते थे जो अधिकांशतः अन्धकारपूर्ण झोंपडियाँ होती थीं । मिस्र के राजाओं को महल बनाने के लिए मज़दूरों की बडी आवश्यकता महसूस हुई तो उनकी सीमा पर बसनेवाले हीब्रू या इस्राएली लोगों को गुलाम बनाया और उनको अपने भवन-निर्माण योजनाओं में काम में लाया गया । कुछ शासक ऐसे थे जो गुलाम-मज़दूरों के साथ बडा कठोर व्यवहार करते थे । अमीर लोग दासों का निर्दयता पूर्वक शोषण करते थे । पिरामिड निर्माण में लाखों दासों का श्रम रहा और कठिन काम करने के फलस्वरूप सहस्रों दास मृत्यु के शिकार भी हुए ।[2]

बाबिलोन में दास को "वर्दू" नाम से संबोधित किया जाता था । इसके अन्तर्गत तीन प्रकार के दास - युद्ध बन्दी, गुलाम के कुल के तथा

---

1. Our oriental Heritage, Babilonia, Will Durant, p. 218
2. पश्चिमी एशिया में राष्ट्रीयता का विकास, डा. ब्रजेंद्र प्रताप गौतम, पृ. 80.

खरीदे हुए थे।[1] ये दास खरीदे और बेचे जाते थे। वे अपने स्वामियों की संपत्ति थे। वे घर तथा बाहर का काम करते थे। उनपर उनके स्वामी का चिह्न होता था। वे कहीं भागकर नहीं जा सकते थे। किसी दास को शरण देनेवाले और चुरानेवाले को मृत्युदण्ड का भागी होना पड़ता था। भागनेवाले दास को ढूँढ निकालनेवाले व्यक्ति को मालिक पुरस्कार देता था। स्वामी की बात न मानने पर दास का कान काटा जा सकता था। इसके साथ ही दासों को कुछ सुविधायें भी प्राप्त थीं और उनके लिए कानून बने थे। वे कर्ज चुका देने पर स्वतंत्र घोषित कर दिये जाते थे। वे अपने श्रम से व्यक्तिगत संपत्ति अर्जित कर सकते थे। स्वामी से उत्पन्न दासी की सन्तान बेची नहीं जा सकती थी। दास किसी स्वतंत्र स्त्री से विवाह कर सकता था। उसके मरने पर उसकी आधी सम्पत्ति स्वामी और शेष, आधी दास के परिवार को मिलती थी। इब्रानी समाज में दास छः वर्ष तक सेवा करने के बाद स्वतंत्र होने का अधिकारी था। हीब्रू समाज में दासों का जीवन मिस्र और बाबिलोन की तरह इतना कठिन नहीं था।

यूनान में दासों के कर्तव्य बहुत थे। समस्त उत्पादन वही करते थे। केवल एथेन्स में उनकी दशा अच्छी थी। यहाँ पर दासों को यातना देनेवाले को दण्ड मिलता था। ये परिवार के सदस्य के रूप में रहते थे।[2] दासों के मुकदमे उच्च न्यायालय में पेश किये जाते थे। परिश्रमी दासों की स्थिति पहले की अपेक्षा अवश्य ही बदल चुकी थी। दास के लिए यूनानी शब्द "हैलट"[3] था।

दासत्व की प्रथा रोमी समाज का एक कठोर निर्दय लक्षण था। युद्ध में बन्दियों को दासत्व के बन्धन में बाँध देना साधारण बात थी। दासों

---

1. A History of the World, Alice, Magenis & John Consa Appel
2. The life of greece, The Story of civilisation, Society, Will Durant, P.10.
3. The History of Ancient world civilisations, TREVER, P.253.

का जीवन बहुत सस्ता था । दासों को बेचना साधारण बात थी । दासों के व्यापारी भूमध्यसागर के टापुओं में अपना अड्डा रखते थे । लोग कभी दासों से निर्दयता पूर्वक व्यवहार करते थे । इस प्रकार सब कहीं दासत्व की प्रथा दिखाई पडती थी ।

पश्चिम-एशियाई समाज में यह प्रथा रही थी कि युद्ध में जीतनेवाले लोग पराजित लोगों को और उनके परिवार को अपना दास बनाते रहे थे तथा उनके साथ हर प्रकार का अत्याचार करते रहे थे ।[1]

भारतीय एवं पश्चिम-एशियाई समाज का वर्ण-विभाजन एवं वर्ग-विभाजन की दृष्टि से विश्लेषण करने पर मूल रूप से यह बात सामने आती है कि मानव के लिए जीवन में विद्या या ज्ञान, सुरक्षा, कृषि अथवा व्यापार तथा सेवा प्राचीन काल से देश-काल-भेद के बिना प्रमुख रही है । विद्या अथवा ज्ञान के अधिकारी ब्राह्मण अथवा पुरोहित सुरक्षा से संपन्न रखनेवाले अथवा राजा लोग, कृषि अथवा व्यापार करनेवाले वैश्य, कर्षक या व्यापारी और सेवा करनेवाले शूद्र या सेवक भारतीय एवं पश्चिम एशियाई समाज में प्राचीन काल में समान रूप से वर्तमान रहे हैं । भारतीय धर्म-शास्त्रों के अनुसार उन चार वर्णों के मुख्य कर्तव्यों को पूर्णतः अंकित करने के लिए कई नियमों की रेखाएँ निर्धारित की गई हैं । लेकिन दूसरे देशों में भारत के समान कट्टर व्यवस्था का शास्त्रांकित नियम नहीं मिलते । बैबिल के पूर्वकालीन समाज में वर्ग विभाजन तो मिलता है, जिसमें, भारत में प्रचलित वर्ण एवं उनके कर्तव्यों से समानताएँ देखी जाती हैं, फिर भी कहीं-कहीं कुछ भिन्नताएँ भी हैं जैसे भारतीय समाज में जहाँ वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मणों {पुरोहितों} का प्रथम स्थान रहा है तो पश्चिम एशियाई समाज में सर्वप्रथम स्थान राजाओं का है और पुरोहित उनके सामन्तों के अन्तर्गत आते हैं ।

---

1. पश्चिमी एशिया में राष्ट्रीयता का विकास, डा. ब्रजेंद्र प्रताप गौतम, पृ. 80.

भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था :-

मानव समुदाय के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न प्राणियों में समानता का विश्वास उत्पन्न करनेवाली शक्ति ही "जाति" कही जा सकती है । जाति शब्द "जन्" धातु से निष्पन्न है - जाति प्रादुर्भावे क्तिन् । इसी धातु से जन्म, जननी, तथा जनक शब्द भी बने हैं । अतः 'जाति' का संबंध जन्म, जननी, जनक तथा जन्म से सम्बद्ध मानना चाहिए । समाजशास्त्र के अनुसार 'जाति' शब्द जन्म को सूचित करता है । प्राचीनतम समाज से लेकर आज तक समाज के अन्तर्गत जाति का अस्तित्व अक्षुण्ण है । इस शब्द की व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि जाति जन्मना होती है । जाति जन्म मूलक है, कर्म मूलक नहीं । लेकिन कहीं-कहीं कर्म के अनुसार जातियों का जन्म मिलता है । जहाँ तक प्राचीन भारतीय जाति का प्रश्न है वहाँ चातुर्वर्ण्य के अतिरिक्त बहुत-सी जातियों और उपजातियों का उल्लेख मिलता है । समानधर्मा विशिष्टधर्मा के अर्थ में यहाँ पर विशिष्ट जाति-वर्ग का अर्थ हुआ है । इतिहास की अनेक संकीर्ण गतियों के अंतर्गत जाति व्यवस्था का उद्भव और विकास किसी भी देश-भेद के बिना पाया जाता है । लेकिन इसका चित्र खींचना उतना आसान नहीं है क्योंकि यह एक उलझा हुआ प्रश्न है, फिर भी इतना सत्य है कि संसार के सभी देशों में जहाँ-जहाँ मानव जीवित रहा है वहाँ-वहाँ जाति व्यवस्था भी मिलती है ।

जाति-व्यवस्था का मूल आधार उच्च और नीच या अर्थ के संकल्प पर आधारित रहा है ।[1] प्राचीन काल से ही इन दो जातियों के बीच किसी प्रकार का संपर्क सब से बड़ा अपराध माना जाता था । व्यक्ति का मान

---

1. There is, to be sure, an important distinction between a caste-permeated Social organization and one in which wealth is the guiding principle of the system, R.M.Maciver, Society an Introductory Analysis, P.395.

या दर्जा अपने माता-पिता के रक्त के आधार पर निर्धारित किया जाता है ।[1] यह सत्य जैसे भारतीय समाज के अन्तर्गत शत-प्रतिशत सत्य निकलता है, वैसे ही बेबिल के पूर्वकालीन समाजों में भी पाया जाता है । श्वेत से लेकर गहरे काले रंग तक कई जातियों को गिनाया गया है । जिनके प्रमाण भारतीय ग्रंथों, प्राचीन विश्व के इतिहास एवं बेबिल जैसी प्राचीनतम पोथियों में मिलता है । भारतीय साहित्य के अन्तर्गत वेदों, ब्राह्मण-ग्रंथों, धर्मशास्त्रों, स्मृतियों एवं पुराणों में जाति व्यवस्था का उल्लेख मिलता है । यहाँ पर स्वजाति समर्थन एवं विजाति विरोध सब कहीं पाया जाता है ।

"मन्यते जाति भेदं मनुष्याणां तु" जन्मनावाले सिद्धांत ने जैसे भारत में प्रमुखता पायी है वैसे ही अन्य देशों में भी देखा जाता है । जाति व्यवस्था का मूल वर्ण संकरता माना जा सकता है और प्राचीन भारतीय इतिहास के अन्तर्गत विभिन्न वर्णों के मेल से नयी-नयी जातियों की उत्पत्ति चित्रित मिलती है । फिर भी अन्तर्जातीय विवाह प्राचीन भारत तथा अन्य देशों की संस्कृतियों में कहीं भी स्वतंत्र रूप से उल्लिखित नहीं हैं । अवैध विवाह से और कर्तव्यों की उपेक्षा से कई संकर जातियाँ उत्पन्न हुईं । उदाहरण के लिए दरद, दार्ष, यमक, औदुम्बर, दुर्विभाग, वारद, काश्मीर, कुन्दमान, पौरक, हसकायन, शिवि त्रिगर्त, यौधेय, मद्र, कैकय अम्बष्ठ, कौकुर, तार्क्ष्य वस्त्रप, पहलव, वशातल, मौलेय, मालव, शौण्डिक, कुक्कुर, शक, अंग, बंग, शाणवत्य आदि को उत्तम कुल में उत्पन्न छत्रधारी क्षत्रियों की संज्ञा दी गयी है ।[2] दूसरी ओर महाभारत के भीष्म पर्व में अंग, बंग, कलिंग, यकृल्लोमन, मल्ल, सुदेष्ण, वाहीक, वाटधान, आभीर, कालतोय, पहलव आदि जातियों को कहा गया है ।[3] आरण्य पर्व में आन्ध्र, शक, पुलिन्द, यवन, काम्बोज, और्णिक, आभीर आदि म्लेछ जातियों का उल्लेख मिलता है । भरत के नाट्य शास्त्र में किरात, बर्बर, आन्ध्र, द्रविड,

---

1. Contemporary Sociological Theories, P.Sorkin, P.219-220.

2. महाभारत: सभा: 48:12-15.

3. महाभारत भीष्म: 10:44-46.

पुलिन्द आदि जातियों को प्रायः श्यामवर्ण माना गया । ये प्रायः वन्य जातीय होते थे । इसलिए समाज शास्त्रियों ने इन्हें आदिम जाति के अन्तर्गत ही रखा है ।

वर्ण-व्यवस्था व्यक्ति के नैतिक और बौद्धिक जन्म पर आधारित थी जबकि जाति व्यवस्था, जन्म और वंश पर आधारित थी । वर्ण-व्यवस्था का लक्ष्य है-संगठित समाज का निर्माण करना जिसका स्वरूप अंगिक है । जाति-व्यवस्था समाज का विभाजन करती है । कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था के रूप में बदल गयी । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जातियाँ बन गयीं । ब्राह्मण को श्रेष्ठ जाति माना जाने लगा । क्षत्रिय राजा होने के नाते सभी के आदर एवं सम्मान के विषय बन गये । वैश्य धन संपादन में मग्न होकर दूसरों के बीच में अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए परिश्रम करने लगे । वैश्य-शूद्रों के बीच विवाह संबंध के कारण अनेक संकर जातियाँ उत्पन्न हुईं । ब्राह्मण और क्षत्रिय का दूसरी जातियों से विवाह होने के कारण वहाँ भी संकर जाति का आविर्भाव हुआ । ब्राह्मणों में ही दस प्रमुख जातियाँ पायी जाती थीं उन में अनेक उपभेद भी विद्यमान थे ।

जाति-व्यवस्था में सजातीय गोत्रों में ही विवाह स्वीकृत है । ऊँची जातियों के बीच में शुद्धता का विशेष ध्यान रखा जाता था । नीच जातियों से कोई भी संपर्क उनके लिए मना था । छुआ-छूत, कट्टर भेद-भाव इसी का परिणाम था । जाति-व्यवस्था में ऊँची जाति विजातीय या शूद्र जाति से विवाह संबंध निन्दनीय माना जाता था । ऊँची जाति के लोग नीच जाति को हेय दृष्टि से देखते थे । इनके अलावा नीचजाति से कठिन काम भी करवाते थे । नीच जाति ऊँची जाति को घृणा की दृष्टि से देखती थी ।

पश्चिम-एशियाई समाज में जाति व्यवस्था :-

मानवशास्त्रियों ने बेबिल के पूर्वकालीन पश्चिमी एशियाई समाज में जाति के उद्भव एवं विकास का वर्णन किया है । प्रारंभ में सभी मनुष्य एक ही जाति के थें । फिर भी इन में विभिन्नता पाई जाती थी । इसका कारण यह है कि जैसे-जैसे जनसंख्या में वृद्धि होती गयी उनके लिए एक ही स्थान से अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकना संभव नहीं रह गया । भोजन की खोज में वे एक भूभाग से दूसरे भागों में जाने के लिए विवश हुए । यहाँ की भौगोलिक अवस्था एक सदृश नहीं थी । इसकी भिन्नता के कारण मनुष्यों की शारीरिक विशेषताओं में भी अन्तर आने लगा और भेद उत्पन्न हो गया । इस विभाजन का आधार मुखाकृति, सिर की आकृति, कान, होंठ, आँख, नासिका की आकृति, शरीर का आकार और रचना, त्वचा और नेत्रों के रंग , बालों की बनावट, बाल आदि लक्षणों के आधार पर था ।[1]

उत्खनन में प्राप्त अस्थि कंकालों से प्रतीत होता है कि मिस्र में कई जाति के लोग रहते थे । यहाँ के प्रमुख निवासी काकेशियन जाति के थे । अन्य जाति सेमाइट थी । कुछ लोग निग्रोवाइट तथा निबियन जाति के थे । सुमेरिया में सुमेरियन जाति और सुमेरियन दक्षिणी प्रदेश में सेमटिक शाखा की एमोराइट जाति रहती थी ।[2] बाबिलोन में ओमर जाति के उल्लेख मिलते हैं । प्राचीन इण्डो-यूरोपीय जातियों में हित्ती जाति सर्वाधिक सभ्य और शक्तिशाली थी । हित्ती सभ्यता का इतिहास भी पुरातत्व साक्ष्यों पर आधारित है । भाषाविज्ञान की दृष्टि से हित्ती जातियों की भाषा हित्ती (Hittite) भारतीय भाषाओं से मिलती जुलती है । हित्ती जाति का

---

1. पश्चिमी एशिया में राष्ट्रीयता का विकास, डा. ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम, पृ.81
2. Our oriental Heritage, The story of civilisations, Sumeria, Will Durant, P.116.

महत्व ऐतिहासिक दृष्टि से यह है कि यह पूर्वी सभ्यता और पश्चिमी सभ्यता के मध्य की एक कड़ी है ।[1]

प्राचीन काल में हीब्रू नाम इस्राएली जाति के लिए प्रयुक्त होता था और बाद में यहूदी जाति § Jews § के लिए प्रचलित हुआ । ये 12 वीं से 9 वीं शताब्दी ई.पू. में बहुदेव के स्थान पर एक देव "याहवेह" में विश्वास की ओर बल देते थे । इस से हीब्रू जाति में संगठन की भावना आई । धर्म का उद्देश्य प्रमुख रूप से नैतिक है । उस में पुण्य और पाप की शिक्षा वर्णित है । बैबिल के ओल्डटेस्टामेण्ट इसी हीब्रू जाति की और हीब्रू भाषा की देन है । बुक आफ प्रावर्ब §Book of Proverb § यहूदियों के सांसारिक ज्ञान का निचोड़ है । इस में सुमेरियन, मिस्री और यूनानी प्रभाव दृष्टिगत होता है । उनकी शिक्षा है कि ईश्वर पवित्र आचरण से प्रसन्न होता है और दीन-दुखियों की सहायता से प्रसन्न होता है । दर्शन के क्षेत्र में मिस्र को छोड़कर हीब्रू सब से आगे थे । हीब्रू लोग नैतिक और धार्मिक शिक्षा देते थे ।

यूनानी जाति इतिहास में विशिष्ट स्थान रखती है । यूनानी § Greek § जाति की महत्ता इस दृष्टि से है कि इसने विश्व सभ्यता को कई प्रकार से प्रभावित किया है । इसी सभ्यता ने भारतीय सभ्यता से संबंध स्थापित किया था । यूरोपीय संस्कृति पर इस जाति का प्रभाव असीम था । यूनानी संस्कृति को यूरोपीय संस्कृति की जननी कहा जाता है । इतिहासकारों, कवियों और आलोचकों के बीच में यह जाति भाषा, और संस्कृति के लिए अत्यन्त ही प्रसिद्ध थी । अंग्रेज़ी के महाकवि शैली § Shelly § का कथन है हम सभी यूनानी हैं, हमारी कला, हमारा विज्ञान और साहित्य

---

1. The Hittites are important primarily as inter-mediaries between east and west, Barkit Burns. p:61

यूनानी संस्कृति में ही प्रतिष्ठित है । प्लेटो, अरस्तू आदि विख्यात दार्शनिक यूनानी जाति के हैं । बैबिल के नये नियम का मूल पाठ यूनानी भाषा का है । प्लेटो और अरस्तू के दर्शन ने बैबिल को प्रभावित किया है । ईसाई धर्म और गिरिजाघरों पर यूनानी प्रभाव है । इनके प्रमुख लेखक ग्रीक थे । यूनानी जाति के राजनीतिक विचार परवर्ती राजनीति के विद्वानों के लिए मार्गदर्शक बन गये ।

रोमी जाति सुन्दरता की प्रेमी थी । रोमियों ने नियम, और न्याय दिया । रोमी जाति की सभ्यता उच्च कोटि की थी ।

बैबिल के पूर्वकालीन समाज में इन्हीं जातियों के अलावा अनेक सम्प्रदाय मिलते हैं, अनामी, अमोरी, अरवादी, अरकी, गिगाशी, कसलूही, नफ्तुही, पत्रोसी, यबूसी, फिलिस्ती, समारी, लूदी, लहाबी, सीनी, हिव्वी आदि ।[2]

मिस्र के समाज में उच्चजाति और नीच जाति का भेद-भाव था । फिर भी भारत के समान उन में कठोर जाति व्यवस्था का विकास न हो सका । उच्च और नीच जाति के लोग भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहते थे । लेकिन कानून की दृष्टि में सभी लोग समान थे । यद्यपि उन में आर्थिक दृष्टि से श्रेणियाँ थीं परन्तु किसी की भी स्थिति उच्च या नीच कहकर निर्धारित नहीं की गयी थी ।

सुमेरिया में उच्च-नीच का भाव उतना अधिक नहीं था जितना अन्य रोमी आदि जातियों में था । नीच जाति के लोग मध्यवर्ग के लोगों के

---

1. The background of the New Testament, Yohan Dhulla, p 106

2. The people of the Old Testament, Rev.Dr.Peter. p. 92-100

साथ कृषिकार्य आदि करते थे ।[1] बाबिलोन में उच्च-नीच का भाव था । उदाहरण के लिए किसी अपराध में पकडे जाने पर नीच जाति से तिगुनी रकम जुर्माना ली जाती थी । ऊँचे कुल के स्वतंत्र व्यक्ति से तीस गुनी रकम और मध्यवर्ग के व्यक्ति से दस गुनी रकम जुर्माना लिया जाता था ।

यूनान में उच्च जाति के लोग नीच जाति के लोगों से वैवाहिक संबंध नहीं स्थापित कर सकते थे ।[2] नीच जाति के लोग उच्च जाति के खेतों में काम करते थे ।[3] यूनान के अलावा बैबिल के नया नियमकालीन समाज की पृष्ठभूमि में कई जातियाँ मिलती थीं, उदाहरण के लिए फरीसी, सदूकी, शास्त्री, जेलोती, असेनी, कुमरान, देशवासी, सामरी आदि । इनके बीच कठिन या कट्टर भेद-भाव चल रहे थे । इसके बारे में विस्तृत जानकारी बैबिल में चित्रित समाज में मिलती है ।

मनुष्य की शारीरिक विशेषताएँ, भौगोलिक स्थिति और स्वजाति-विजाति संबंध आदि के कारण कई जातियों का आविर्भाव हुआ था ।

प्राचीन भारतीय और बैबिल के पूर्वकालीन पश्चिम एशियाई समाज - मिस्र, हीब्रू, यूनानी, रोमी आदि समाज में समान रूप से कट्टर जाति भेद को मानते थे । दोनों समाजों में ऊँची जाति के लोग नीच जाति को तुच्छ मानने के कारण उन से कोई संबंध नहीं रखते थे ।

---

1. The Oriental Heritage, The story of civilisations, Sumeria race, appearance, P.119-123.
2. The life of greece, Society, Will Durant, P.119-123.
3. Western Experience, Greek civilization, Alfred A.Knopf, Newyork. P.71

भारतीय एवं पश्चिम-एशियाई समाज में पारिवारिक संगठन :-

समाज में सब से छोटी इकाई है व्यक्ति, और व्यक्तियों का समूह है परिवार । परिवार में व्यक्ति - व्यक्ति के बीच निश्चित संबंधों का निर्धारण होता है । परिवार उसी दर्पण को कहते हैं - जो समाज से प्रकाश ग्रहण करते हुए व्यक्ति-व्यक्ति को आँखों में आलोक बिखरता रहा है । मानव समाज का मूल परिवार में निहित है । इसलिए समाज में परिवार का विशिष्ट स्थान होता है । मैकाइवर के शब्दों में - "The family is by far the most important primary group in society."[1]

परिवार एक मधुर बन्धन है, एक आनन्ददायी जिम्मेदारी है, एक उन्मादग्रस्त त्याग है, सुख-दुःख भरा जीवन है । परिवार मानव जीवन में आत्म-संरक्षण, वंशवर्धन और जातीय जीवन के सातत्य को बनाये रखने का प्रधान साधन है । सब सदस्यों का अगाध स्नेह परिवार की आबद्धता का सेतु बनता है। हम जगत को और जगत बहुत कुछ अंशों में हम को भी परिवार की आँखों से देखता आया है । श्रद्धा, यज्ञ, तप, प्रेम, क्षमा, सत्य, व्रत नियम ये समस्त महान गुण मिलकर परिवार की रक्षा करते हैं और उसे प्रत्येक पीढ़ी में नवीन शक्ति के साथ अग्रसर करते हैं ।

परिवार के विषय में विभिन्न विद्वानों ने अपनी भिन्न भिन्न मान्यताएँ व्यक्त की हैं । वेस्टरमार्क के अनुसार माता-पिता और बच्चों से युक्त परिवार एक अत्यन्त स्पष्ट सामाजिक इकाई के रूप में है जिस में पिता प्रधान संरक्षक के रूप में होता है ।[2] मैकाइवर और पेज के अनुसार परिवार वह समूह है जिसका आधार सीमित और संयमित यौन संबंध है एवं जिनके द्वारा

---

1. Society - An Introductory analysis, R.M.Maciver P: २४१
2. Marriage - by Westermark का अनुवाद , विवाह और समाज, शंभुरत्न त्रिपाठी, पृ. 17.

सन्तानों का जन्म और लालन-पालन होना संभव होता है, परन्तु परिवार का मुख्य आधार पुरूष और स्त्री का साथ रहना और सन्तान उत्पन्न करना ही है। बरजस और लाक यह कहकर परिवार की परिभाषा करते हैं कि परिवार वह समूह है जो कि विवाह, रक्त संबंध अथवा गोद लेने आदि से बन्धा हुआ है। इस में एक घर बनाकर पति-पत्नी, माता-पिता, बहन-भाई अपनी-अपनी सामाजिक पृष्ठभूमियों में रहते हुए एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा संगठित होकर एक साँचे की संस्कृति का निर्माण करते हैं। मनुष्य जाति की एक बहुत प्राचीन और छोटी संगठित संस्था परिवार है।

प्रत्येक परिवार किसी एक वंशावली से संबद्ध रहता है। जो वास्तव में निकट संबंधियों का एक समूह होता है। इसी के द्वारा एक परिवार के लोगों का दूसरे परिवार के लोगों से भेद किया जा सकता है। परिवार व्यक्तियों का वह समूह है जो एक साये के नीचे रहते हैं, मूल और रक्त संबंधी गाँठों में बाँधे होते हैं। समाजशास्त्रीय अर्थों में परिवार वही है जिसमें पति-पत्नी और सन्तान सम्मिलित है। परिवार मनुष्य के सभ्य और सुसंस्कृत होने का स्वाभाविक तारतम्य है, जिस में मानव जीवन की सार्थकता है।

परिवार के सदस्य भिन्न हैं - माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन, सास-ससुर, ननद आदि। स्वस्थ एवं व्यवस्थित परिवार, सामाजिक व्यवस्था का सुदृढ़ आधार होता है। परिवार का मुख्य आधार है पति-पत्नी। उनके पारस्परिक संबंध स्वस्थ, मधुर रहे तो परिवार सुदृढ़ रहता है। परिवार ही गृहस्थ जीवन के रूप में विकसित होता है। गृहस्थ जीवन में मनुष्य अपने समस्त

---

1. The family is a group defind by a Sex relationship sufficiently precise and enduring to provide for the procreation and upbringing of children, Society-Maciver and Page. P.288.

उत्तरदायित्वों का निर्वाह निष्ठापूर्वक करता है और सभी पारिवारिक सदस्यों से व्यक्तिगत और भावनात्मक रूप में आबद्ध होता है । पारस्परिक सहयोग एवं कर्तव्य बोध परिवार के सदस्यों का मूल आधार है । परिवार का विकास समाज को विकसित, संवर्धित तथा उसके सांस्कृतिक जीवन को पल्लवित एवं पुष्पित करता है । परिवार के माध्यम से ही समाज और राष्ट्र की प्रगति होती है ।

परिवार समाज का महत्वपूर्ण अंग है और वह हमारे लिए ईश्वर का प्यार भरा उपहार है । यह एक चिरन्तन संस्था है जिसकी नींव माता-पिता और बच्चों के रक्त संबंधों पर आधारित है । परिवार का हर समाज में अत्यधिक महत्व है क्योंकि यह एक बच्चे के जीवन का प्रथम शिक्षणालय है, पाठशाला है, शिक्षा-दीक्षा का केन्द्र है जहाँ वह समाज की रीति-नीति, नागरिक कर्तव्य, सामाजिक कल्याण, बड़ों के प्रति आदर और सामाजिकता का प्रथम पाठ सीखता है । परिवार में ही तो बच्चा सर्वप्रथम प्यार, विश्वास, त्याग, क्षमा, आदर, कर्म, परकल्याण, आपसी समझ आदि का उदाहरण देखता है और इन मूल्यों को ग्रहण करता है । निर्विवाद रूप से परिवार की शक्ति एकता में ही है । परिवार वह प्राकृतिक संस्था है जिसके द्वारा न केवल अबोध और नासमझ बच्चों की देखभाल तथा सेवा-शुश्रूषा और उसकी रक्षा की जाती है अपितु उसे उसके उज्ज्वल भविष्य के मार्ग पर अग्रसर किया जाता है । परिवार मनुष्य के लिए स्वर्ग की अनुभूति करनेवाला सर्वसम्मत और सर्वप्रथम स्थान है क्योंकि यही तो सुख-दुःख, सामाजिकता और सन्तोष का आभास देनेवाला स्थान है । जीवन का आनन्द और जीवन में रुचि का कारण एक सीमा तक परिवार ही है जहाँ मनुष्य अपनत्व पाता है, ममत्व पाता है । जहाँ उसे ऐसा अनुभव होता है कि उसकी किसी को आवश्यकता है, वह किसके लिए हैं ।[1]

---

1. प्रेमचंद परवर्ती उपन्यास साहित्य में पारिवारिक जीवन, आशा बागडी, पृ. 34.

संयुक्त परिवार वह है जो "निवास, भोजन, धर्म, कर्म और आर्थिक दृष्टि से संयुक्त होता है । माता-पिता, उनके पुत्र, पुत्र वधुएँ, भाभियाँ, भाई आदि एक ही घर में रहते हैं । उनके यज्ञ, श्राद्ध, धर्म, कर्म एक साथ किये जाते हैं । सम्पत्ति का स्वामित्व, उत्पादन और उपभोग सम्मिलित रूप में होता है ।[1] इन सदस्यों में कर्तव्यों और अधिकारों का समुचित विभाजन होता है । सभी सदस्य अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए आपसी स्नेह प्राप्त कर आत्मतुष्टि का अनुभव करते हैं । हिन्दू संयुक्त परिवार किसी ज्ञात पूर्वज के सब, दत्तक पुत्रों तथा विवाह द्वारा सम्बद्ध प्राणियों का समूह है ।[2] बेबिल के पूर्वकालीन समाज की तुलना में भारतीय समाज में संयुक्त परिवार प्रणाली अधिक दृढ़ और उल्लेखनीय व्यवस्था है ।

सभी समाज में एक ही तरह का पारिवारिक संगठन नहीं है । बदलते सामाजिक परिवेश के साथ समय-समय पर परिवार का रूप भी बदलता रहा है और विभिन्न समाजों में विभिन्न काल एवं स्थानों पर इसके विभिन्न रूप भी देखने को मिलते हैं । मातृक, पैतृक, बहुपतिक, बहुपत्नीक, स्वैच्छिक, परैच्छिक इस प्रकार विभिन्न प्रकार देखे जा सकते हैं । लेकिन यह सत्य है कि परिवार के अन्तर्गत माँ-बाप, पति-पत्नी, भाई-बहन आदि संबंध चिरकाल से भिन्न परिवर्तन के देश काल के परे स्थिर रहे हैं । पितृ सत्तात्मक परिवारों में पिता-गृहपति होता है और परिवार का संचालन वही करता है । पिता के पश्चात् ज्येष्ठ भाई यह प्रतिष्ठा पाता है । स्त्रियों में पहला स्थान माता का है और उसके बाद ज्येष्ठ पुत्र-वधू का ।

पारिवारिक सम्पत्ति के अधिकार के संबंध में कहा जाय तो

---

1. हरिदत्त वेदालंकार, हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ. 23.

2. वही, पृ. 24.

संयुक्त परिवार में सहवास या एक साथ रहने के कारण परिवार के सभी सदस्यों को सम्पत्ति का समान अधिकार रहता है । माता-पिता के उपरांत भाइयों के बीच सम्पत्ति समान रूप से बँटती है ।

परिवार के कई प्रयोजन होते हैं । इसका प्रमुख उद्देश्य व्यक्तियों के बीच सहृदयता एवं प्रेम बढाना होता है । एक दूसरे के प्रति सहृदयता, शुभ विचार, शत्रु हीनता, और प्रेम परिवार के लिए अत्यंत आवश्यक है । परिवार में किया जानेवाला यह व्यवहार व्यक्ति के लिए समाज में जीने की शिक्षा प्रदान करता है । अपने से बडों के प्रति आदर का पहला पाठ परिवार में ही दिया जाता है ।

नारी का परिवार में प्रमुख स्थान होता है । यह सत्य प्राचीन भारत एवं अन्य देशों में भी समान रूप से पाया जाता है । परिवार के सदस्यों के भरण-पोषण का भार उसी पर रहता है । व्यक्तियों के संबंध को अटूट बनाये रखने में इस प्रकार परिवार का बडा योगदान है । मानव, समूह में रहता है और ~~प्राचीन काल से ही~~ मानव-मानव के संबंध को दृढ बनानेवाले परिवारों का प्राचीन काल से ही अस्तित्व रहा है ।

बैबिल के पूर्वकालीन हीब्रू समाज में परिवार पैतृक था । इसके अन्तर्गत माता-पिता और सन्तानें और गुलाम सम्मिलित थे । पिता समस्त संपत्ति का अधिकारी था ।[1] बच्चे उनकी आज्ञा का पालन करते थे । यूनानी या ग्रीक समाज में परिवार का नियंत्रण पिता के हाथ में था । वह परिवार के सुख-दुःख का ध्यान भी रखता था ।[2]

---

1. The History of Ancient World civilizations, P. 226 and 254.
2. The life of greece, The Home, Will Durant, P. 308-309.

माता-पिता और सन्तान :-

माता-पिता ही जीवन में बच्चे को सन्मार्ग की ओर ले जाते हैं । प्राचीन काल में परिवार में पिता को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था । ऋग्वेद कालीन समाज में पिता घर का स्वामी तथा परिवार का प्रमुख सदस्य होता था । घर के स्वामी के रूप में इसे गृहपति कहा जाता था ।[1] परिवार का भरण-पोषण, शिक्षण-प्रशिक्षण, रक्षण-संरक्षण पिता ही करता था । ऋग्वेद में पिता त्राता, खाद्य सामग्री का दाता और पोषक के रूप में उल्लिखित है ।[2] पुत्रों के भरण-पोषण के इस अनिवार्य कर्तव्य के कारण शब्द कल्प द्रुम में पिता को सन्तान की रक्षा करनेवाला कहा गया है ।[3] सन्तान को सब प्रकार से प्रसन्न रखना पिता का कर्तव्य था । पिता के पास रहता हुआ पुत्र सर्वदा आनन्दित रहता था ।[4] पिता पुत्र का स्नेहवश आलिंगन करता था । पिता परिवार के सभी सदस्यों को आपत्ति के समय संरक्षण देता था ।

पोषण एवं शिक्षण देनेवाला पहला गुरू पिता है । वही परम धर्म है । पिता जैसी आज्ञा दे, वही धर्म है, कभी-कभी पुत्रों पर पिता के असीम प्रभाव के कारण पिता के सामने ही पुत्र सम्पत्ति बँटवाने लगे थे । मनु के पुत्रों ने पिता के सामने ही सम्पत्ति का विभाजन करा लिया था ।

भारतीय संस्कृति के अनुसार माता को स्वर्ग से भी बढ़कर चित्रित किया है - जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी । मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आदि शास्त्र वचनों से भी माता-पिता के महत्व पर बल दिया

---

1. कौ:ब्रा: 2:2, 3:7, 5:6-7.
2. ऋग: 4:17, 17:10:48:1.
3. पति साक्षात्यपत्यं यः स पिता ।, शब्द कल्प द्रुम पृ. 143.
4. कौ: ब्रा: 5:3.

गया है । पिता शब्द से पूर्व माता शब्द का प्रयोग किया जाता था ।[1] किसी कार्य के करने से पूर्व परिवार के सदस्यों की अनुमति प्राप्त करते समय पुत्र माता की अनुमति सर्वप्रथम लेते थे ।[2] इस से परिवार में माता के महत्व का पता चलता है । परिवार में माता-पिता की स्थिति अत्यन्त गौरवपूर्ण मानी गयी है । पद्मपुराण का श्लोक इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है -

"सर्वतीर्थमयी माता सर्व देवमयो पिता
मातरं पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत्
मातरं पितरं चैव यस्तु कुर्यात् प्रदक्षिणं ।
प्रदक्षिणी कृतातेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा ।।"[3]

नारी का सब से महत्वपूर्ण रूप माँ का है । परिवार में माँ और उसकी सन्तान का संबंध अत्यन्त मधुर एवं आत्मीयता का होता है । माँ के हृदय में अपनी सन्तान के प्रति असीम प्रेम होता है । सन्तान की भलाई के लिए वह जीवन भर काम करती रहती है । सन्तान के पालन-पोषण, खाने-पीने, शिक्षा, वर्तमान और भविष्य के निर्माण की जितनी चिन्ता माँ को होती है उतनी ही चिन्ता परिवार में और किसी को भी नहीं होती ।

सन्तान को माता-पिता के वचन का पालन करना चाहिए । जो पिता के वचन का पालन करते हैं, उसके पाप धुल जाते हैं । पिता ही धर्म है, पिता ही स्वर्ग है, पिता परम तप है, पिता के प्रसन्न होने पर सब देवता प्रसन्न होते हैं ।[4] परिवार में पुत्र का बहुत महत्व था । विश्वास था कि पुत्र पिता को आपत्तियों से पार करता है ।[5] अन्न प्राण देता है, कपडा रक्षा करता है,

---

1. अन्वेन माता मन्यतामनुपिता, ऐत: ब्रा: 6:6.
2. वही
3. पद्मपुराण, सृष्टि खण्ड 47:11-12.
4. महाभारत, शान्ति 266:14-29.
5. शाश्वत्पत्रेण पितरो अत्यायन बहलतम:. ऐत: ब्रा: 33:1.

स्वर्ण रूप लेता है, विवाह से पशु मिलते हैं, परन्तु पुत्र उस लोक में भी ज्योति है । पुत्र के इस महत्व के कारण ही पुत्र की प्राप्ति हेतु विभिन्न धार्मिक अनुष्ठान किये जाते थे ।[1] पुत्र ही पिता की संपत्ति और उसके सामाजिक उत्तरदायित्वों का उत्तराधिकारी होता था । पिता पुत्र से अत्यन्त स्नेह रखता था ।[2]

ऋग्वेद के काल में धार्मिक और आर्थिक दृष्टि से पुत्री की स्थिति परिवार में अधिक महत्वपूर्ण नहीं थी । फिर भी पुत्री के लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा का पूर्ण ध्यान रखा जाता था ।

भारत में पारिवारिक जीवन आदर्शात्मक रहा है । यहाँ माता-पिता को अपनी सन्तान के प्रति वात्सल्य भाव, उनका संगोपन, शिक्षा दीक्षा आदि कर्तव्यों के पालन से अपार आनन्द की अनुभूति प्राप्त होती है । परिवार में रहकर व्यक्तित्व भी विकसित होता है । आज्ञा पालन, प्रेम, सहयोग, त्याग, गुरु भक्ति की शिक्षा सन्तानों को परिवार में ही मिलती है ।

हीब्रू समाज के परिवार में माता-पिता के पास बच्चे रह सकते थे । जो उसकी आज्ञा का पालन करते थे । परिवार में पिता का असीमित अधिकार था । प्राचीन मिस्र समाज में माता की स्थिति अच्छी थी । प्राचीन काल में पश्चिम एशियाई समाज में केवल मिस्रियों ने ही स्त्रियों को राजसिंहासन पर बैठने की स्वीकृति दी थी। परिवार मातृ सत्तात्मक था । मिस्र में सारी संपत्ति माता के नाम से होती थी और मरने के बाद पुत्री ही उत्तराधिकारी बनती थी ।[3] ग्रीक समाज में परिवार पितृसत्तात्मक था । पुत्री का जीवन माता-पिता के निर्णय पर निर्भर था । रोमी समाज में माता का पद पिता से

---

1. कौ: ब्रा: 4:8.
2. ऐत: ब्रा: 39:6.
3. The story of civilizations, Will Durant. p: 151-156

कम था, फिर भी उनका आदर किया जाता था । माता को स्वकीय सम्पत्ति रखने का अधिकार था । बालकों का जीवन पूर्णतया माता-पिता पर निर्भर था। पिता चाहता तो बालक का पालन करता या उसे मार डालता था । प्रथम सदी ई .पू. के पटेर पत्रों ‖ PAPYRUS ‖ में एक पत्र मिलता है जिस में एक व्यक्ति ने अपनी पत्नी को इस प्रकार लिखा था, "यदि वह लड़का हो तो रहने देना और लड़की हो तो मार डालना ।"[1]

विवाह और पति-पत्नी संबंध :-

विवाह समूचे सामाजिक जीवन की रीढ है । विवाह वह पवित्र बन्धन है जहाँ से पति-पत्नी संबंध शुरू होता है । प्रेम दाम्पत्य जीवन का आधार स्तम्भ है । स्त्री और पुरुष दोनों परिवार के मूल हैं । पति-पत्नी दो होते हुए भी एक है । दोनों के इस अभेद की स्वीकृति विवाह संस्कार है । भारतीय संस्कृति में विवाह को अत्यधिक महत्व प्रदान किया गया है । इसे एक पूर्ण सामाजिक संस्था के रूप में स्वीकार किया गया है । इसके द्वारा ही वर-वधू को एक संग धार्मिक कृत्य संपन्न करने की अनुमति प्राप्त होती है । वैवाहिक संस्था द्वारा ही सन्तान सुरक्षा के साथ-साथ उचित पालन-पोषण की व्यवस्था को प्राप्त करती है ।[2] विवाह स्त्री और पुरुष का ऐसा सम्मिलन है जो एक निश्चित संस्कार के माध्यम से समाज द्वारा स्वीकृत होता है । विवाह में दोनों पक्षों के सम्मेलन में भाग लेने की स्थिति में तथा इस में उत्पन्न होनेवाले बच्चों की स्थिति में अधिकार और कर्तव्य निहित होते हैं । विवाह और प्रेम

---

1. Background of the New Testament, Dr.Yohan Dhulia, P.165.
2. "Marriage has been considered chiefly as a social institution by means of which the relation between parents and children become part of organised social system", Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol.VIII, P.428.

का परस्पर घनिष्ठ संबंध है, और यह घनिष्ठता साहित्य, लोक-कथाओं, दिवा-स्वप्नों तथा मानव जाति की प्रत्येक संस्था में दृष्टिगत होती है । प्रेम-रोमांस को आदर्श रूप प्रदान करने के लिए विवाह आवश्यक है । विवाह जीवन की शारीरिक तथा भावात्मक आवश्यकता है ।

विवाह का संबंध समाज से है और यह संस्था-समाज से ही व्यक्ति ने प्राप्त की है । समाज द्वारा यह संस्था निश्चित की गयी थी । दम्पति अर्थात् परिवार समाज की इकाई है और उसके सुख-स्वास्थ्य पर समाज का सुख-स्वास्थ्य अवलंबित रहता है । स्त्री और पुरुष पारस्परिक आकर्षण के कारण निकट आते हैं, धर्म और समाज का नियंत्रण स्वीकार कर पति-पत्नी के रूप में वरण करते हैं और स्वस्थ तथा सुखी गृहस्थ जीवन बिताकर मानव की वंश परंपरा को आगे बढ़ाते हैं । दाम्पत्य जीवन का प्रारंभ विवाह से होता है । इसके अन्तर्गत केवल यौन संबंध ही नहीं आता, अपितु उनकी धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्रियायें भी आती हैं जिनके माध्यम से मनुष्य का विकास होता है । विवाह के तीन प्रमुख उद्देश्य माने गये थे - धर्म का पालन, सन्तान की प्राप्ति एवं रति सुख ।[1] पति-पत्नी के संबंधों को जो स्थायित्व और शक्ति प्राप्त होती है वह उन दोनों के आत्यन्तिक, अनन्य प्रेम के कारण होती है । ईश्वर ने मनुष्य को नर-नारी के रूप में बनाया है । विवाह इसी प्राकृतिक विधान का सामाजिक संस्कार है । पत्नी बनकर नारी, पुरुष की सहधर्मिणी और अर्द्धांगिनी बनती है और अपने जीवन की सार्थकता पाती है । पति-पत्नी दोनों के सहयोग से ही दाम्पत्य जीवन का संचालन होता है । कानून, रीति-रिवाज़ एवं सामाजिक मान्यताओं से पुष्ट वैवाहिक प्रेम ही अधिक चिरस्थायी सिद्ध होता है । नर-नारी के स्नेहमय व्यवहार एवं प्रत्येक कार्य में

---

1. अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरूत्तमा ।
   दारा धीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्चह ।।, मनु 9:28.

प्रदत्त सहयोग से एक प्रकार का समझौता एवं स्नेह-भाव जागृत होते हैं जो कि कालान्तर में प्रेम का रूप धारण कर लेते हैं । रूप और सौन्दर्य के विनष्ट होने पर भी उनका प्रेम यथा रूप बना ही रहता है ।[1] जिस घर में पति-पत्नी का परस्पर एकनिष्ठ प्रेम है वह स्वर्ग के समान है । इसके लिए पति-पत्नी को एक दूसरे का संगी-साथी या मित्र बनना ज़रूरी है । पति-पत्नी के विचारों और कार्यों में दिलचस्पी ले और पति, पत्नी की इच्छाओं और आकांक्षाओं का आदर करे तभी यह संभव है । इस प्रक्रिया से दोनों मन समरस होते हैं, एक रूप होते हैं और शारीरिक मिलन गहरे और उदात्त बनते हैं ।

दाम्पत्य प्रेम एक कला है जो सहज नहीं है, प्रयत्न साध्य है । पति को यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि स्त्री के लिए विवाह सबसे महत्वपूर्ण एवं क्रान्तिकारी घटना है, जो केवल उसके नाम को नहीं समग्र जीवन को बदल देता है । वह अपना घर छोडकर जाती है और उसके व्यक्तित्व एवं सामाजिक जीवन में परिवर्तन हो जाते हैं, जिसके साथ समरसता प्राप्त करने में समय लगता है । जो पति इस स्थिति में सूझ-बूझ से काम लेता है वह अपनी पत्नी की पूजा एवं आदर का पात्र बन जाता है । परस्पर प्रेम और आदर पर टिके हुए विवाह ही अधिक स्थायी तथा सुखदायी होते हैं । जो पति-पत्नी को वास्तव में गृहलक्ष्मी और सहधर्मिणी मानकर उसकी इज्ज़त करता है वही उसके अनन्य प्रेम और समर्पण का भागी होता है ।

---

1. When love depends an external attraction only, it is necessarily fickle, but when it implies sympathy arising from mental analities, there is a tie between husband and wife which lasts long after youth and beauty are gone- Origin and Development of Moral ideas- by Westermark P.389.

भारतीय समाज में विवाह, जीवन की सर्वोत्कृष्ट घटना है। ऋग्वेद के अनुसार स्त्री के बिना गृह पूर्ण नहीं माना जाता है। जो स्त्री गृहस्थ के कार्यों में चतुर, पति से अनन्य प्रेम करनेवाली और बच्चे का संरक्षण करनेवाली पतिव्रता होती है, वही वास्तव में भार्या है। भार्या पुरुष का आधा अंग है। भार्या सबसे उत्तम मित्र है। भार्या से ही धर्म अर्थ और काम की सिद्धि होती है। भार्या में ही गृहस्थाश्रम पूरा होता है। "हिन्दू विवाह नर-नारी के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके अर्थ और काम की साधना का मुख्य माध्यम है।"[1] हिन्दू के लिए पत्नी पुरुषार्थ और गृहस्थाश्रम का मूलाधार है। गृहस्थाश्रम का महत्व स्पष्ट करते हुए मनु कहते हैं कि जैसे सब जन्तु वायु के सहारे जीते हैं वैसे ही सब प्राणी गृहस्थाश्रम से जीवन धारण करते हैं।[2] ऋग्वेद के अनुसार विवाह का उद्देश्य था गृहस्थ होकर देवों के लिए यज्ञ करना तथा सन्तानोत्पत्ति करना।[3] भार्या से ही मनुष्य सौभाग्यशाली होता है और भार्या से ही सुख मिलता है। वह धार्मिक कार्यों में पिता की तरह लगाती रहती है और रोग आदि की पीडा के समय माता की तरह सेवा करती है। इसलिए स्त्री ही पुरुष की श्रेष्ठ गति है। विपत्ति के समय और मरने पर पतिव्रता स्त्री ही पुरुष का स्थान देती है। इसी कारण विवाह की रीति चली है।

मिस्र में सर्व-साधारण में एक पत्नी-विवाह प्रचलित था। किन्तु अभिजात वर्ग में बहुविवाह प्रचलित था। प्राचीन मिस्र में परिवार मातृ सत्तात्मक था।[4] साम्राज्य युग में पितृसत्तात्मक प्रथा का आरंभ हुआ।

---

1. गौरीशंकर भट्ट, हिन्दू संस्कृति, एक समाज शास्त्रीय समीक्षा, पृ. 544.

2. मनु: 3:77

3. ऋग: 10:85, 36, 5:312.

4. A History of the World - The Earliest civilization, The Egyptians build a civilization, The greeks build a civilization , Alice Magenes and John coround.

स्त्रियाँ पति-परायण थीं । हीब्रू समाज में विवाह अनिवार्य माना जाता था और अविवाहितों का स्थान समाज में हेय था । प्राचीन प्रथा के अनुसार विवाह हो जाने पर लड़का माता-पिता को छोड़ देता था और वधू के घर जाकर उसके कुल में रहता था । किन्तु यह प्रथा अधिक दिनों तक नहीं चली और लुप्त होने लगी । पति-पत्नी में किसी प्रकार का समझौता न होने पर तलाक की व्यवस्था थी । आदर्श नारी वह थी जो घर के बाहर और भीतर कार्य करती थी और अपने बच्चों तथा पति के विषय में ही निरन्तर सोचा करती थी ।

ग्रीक समाज में विवाह-प्रचलन, प्रेम का परिणाम नहीं था । समाज में कोई दुराचार या दुर्व्यसन नहीं था । वेश्याओं का नाम तक नहीं था।[1] स्त्रियाँ अच्छा भोजन करतीं, सुन्दर वस्त्र पहनतीं, तथा अपनी सम्पत्ति का स्वेच्छा से उपभोग करती थीं । विवाह के लिए कन्या की अवस्था बीस वर्ष और वर की अवस्था तीस वर्ष थी । पति-पत्नी सबल सन्तान उत्पन्न करने के उद्देश्य से संयम से रहते थे । पति की सहमति से सबल पुत्र उत्पन्न करने के लिए पत्नी दूसरे पुरुष से संपर्क स्थापित कर सकती थी, तथा उसी प्रकार पति भी दूसरी स्त्री से संपर्क स्थापित कर सकता था । इन सब का एकमात्र उद्देश्य बलवान् सन्तान की प्राप्ति थी । कन्या को प्राप्त करने के लिए कन्या के पिता को कुछ द्रव्य देना पड़ता था । सुन्दर स्त्रियों के लिए संघर्ष होना सामान्य बात थी । रोमी समाज में विवाह करना राज्यादेश था ।

सफल वैवाहिक जीवन के लिए यह आवश्यक है कि पति-पत्नी को एक दूसरे के गुणों को खोजने का प्रोत्साहन दें, दोषों को देखने से दूर रहें । दोष समझने और बर्दाश्त करने की चीज़ है, उभारने की नहीं, क्योंकि दोष दोनों में होता है । विवाहित स्त्री-पुरुष का स्थान बराबर होता है । पति-पत्नी

---

1. The life of greece, The Story of civilization, Will Durant, P.50-51.

में सामंजस्य हो तो बड़े से बड़े दोष भी सहज ही दूर हो जाते हैं और यदि न हो तो छोटे से छोटे दोष भी तिल का ताड बनने लगते हैं । विवाह और पारिवारिक जीवन तभी सफल होता है जब पुरुष और स्त्री में एक दूसरे को समझने की जिज्ञासा होती है और ऐसे रागात्मक संबंध स्थापित करने की लालसा होती है ।

भारतीय एवं बैबिल के पूर्वकालीन पश्चिम एशियाई समाज में एकपत्नीत्व अधिक प्रचलित था । दोनों समाजों में बहुविवाह भी हो सकता था। अधिकांश विवाह दोनों में सजातीय होते थे । भारत में सवर्णीय भी होते थे । दोनों समाजों में विवाह का मुख्य लक्ष्य सन्तानोत्पत्ति था ।

परिवार में नारी का स्वरूप :-

नारी, मानव समाज की प्रधान भूमिका का निर्वाह करती है । नारी की महिमा अनन्त है । वह जननी है, उस में ममता है, ममत्व स्नेह है और परिपालन की अमोघ शक्ति । नारी में उत्सर्ग की ऊँचाई और प्रेम का समीकरण पाया जाता है । परिवार में नारी पति और बच्चों के लिए सब कुछ होती है और किसी ममता भरे यंत्र की तरह दिन-रात उनकी चिन्ता में डूबी अपना काम करती रहती है । पत्नी वह जो मात्र पति की देख भाल ही न करें, पालन-पोषण भी न करें, अपितु उस में उदात्तता जगाए, श्रम के संस्कारों को उठाए, उन्मार्ग से हटाकर, सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे, साधे और अराधे संकट के क्षणों में, उबारे और सबारे विपन्नता में। पत्नी अभाव में प्रभाव का दर्शन देती है । घर में सदा प्रसन्न रहकर अपने पति की सफलता पर न्योछावर होनेवाली पत्नी श्रेष्ठ है ।

नारी ही समाज और देश की रीढ़ हैं । मानव जीवन के साथ माँ की महिमा का घनिष्ठ संबंध रहा है । समाज और राष्ट्र विनष्ट हो

सकते हैं पर माँ की ममता सदा बनी रहती है, अमर रहती है । माँ का आशीर्वाद और सीख, ~~शिशु~~ युवकों का निर्माण करती हैं ; वृद्धों का मनोरंजन करती है तथा अधीरों को धैर्य प्रदान करती है । घरेलू वातावरण को मधुर बनाती है और मानव मन को विनीत बनाती है । इसलिए माँ और उसकी महिमा मानव-संस्कृति और समाज का श्रृंगार है ।

नारी का स्थान घर है । नैतिकता और प्रेम में वह श्रेष्ठ होती है । पातिव्रत धर्म स्त्री का सब से बड़ा धर्म माना गया है । पति के चरणों की दासी बनने में ही उसके जीवन की सार्थकता देखी गयी है । पातिव्रत्य धर्म को नारी के चरित्र की अन्तिम कसौटी मानकर उसे गृहिणी पद से सम्बद्ध कर दिया गया । बहुत पुराने काल में नारी का सर्वदा से सम्मान्य पद रहा है, उसके विषय में तो यहाँ तक कहा गया कि जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवताओं का वास रहता है । "ऋद्धि सिद्धि सम्पन्न कुल रहता है ।"[1] वेद, उपनिषद्, स्मृति आदि सभी में नारी की मुक्त कंठ से प्रशंसा की गयी । वह उच्चासनारूढ़ रही । वेदकाल में नारी महिमामयी देवी तुल्य समझी जाती थी और उपनिषद्काल में शक्ति रूप ब्रह्म के समकक्ष । वेदों में स्त्री को पत्नी के रूप में गृहलक्ष्मी के पद पर प्रतिष्ठित किया गया है -"श्रिया वा एतद्रूपं यत्पत्न्यः" और पत्नीहीन पुरुष को यज्ञ करने के लिए अयोग्या कहा गया है "अयज्ञो वा एषः योऽपत्नीकः ।"[2] इसके बाद स्मृति और पुराणों में नारी पर मर्यादा पालन के नाम पर अनेकानेक बन्धन लगा दिए गए । बौद्ध-धर्म से विकृत रूप में विकसित वज्रयानी सम्प्रदाय में नारी उच्चासन से गिरी तो तुलसी और उसके समकालीनों ने उसे किंचित् क्षमा नहीं किया ।

भारतीय समाजों में नारी मानव-समाज का श्रृंगार और उसकी

---

1. मनुस्मृति, श्लोक :56, पृ. 77.
2. तै: ब्रा: 2:2:2:6.

शक्ति का अजस्र स्रोत है । उपनिषद् में उसे शक्तिस्वरूपा माना गया है । मनुष्य के लिए क्षमा, त्याग और अहिंसा जीवन के उच्चतम आदर्श हैं । नारी इस आदर्श को प्राप्त कर चुकी है । अपने इस रूप में वह मानव समाज का निर्माण और विकास करती है । वह मानव जीवन की संजीवनी है, जीवन दायिनी शक्ति है । मानव सभ्यता और संस्कृति की जननी है । नारी से मानव समाज का जन्म होता है । उसी के स्नेहिल संरक्षणों में मानव का पालन-पोषण, उसका संवर्धन एवं विकास होता है । नारी से शक्ति और प्रेरणा प्राप्त कर नर शक्तिमान होता है । नारी नर जीवन के सृजन, पोषण और उन्नयन की आधार शिला है। वह सामान्य नारी को ही नहीं, महात्माओं, सन्तों, शास्त्रज्ञों और अवतार ईश्वर की भी जननी है । समाज में सुव्यवस्था, प्रेम, शान्ति और ऐश्वर्य की स्थापना में उसी का महत्वपूर्ण हाथ है । नारी नर के लिए सौन्दर्य, प्रेम, सुख, समृद्धि और आनन्द का कारण बनती है । इसलिए वह आदरणीय है । इसलिए पुराण काल में ऋषियों ने उसका मंगल गान किया है और घोषणा की है "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता: ।"[1]

उदार चिन्तकों ने नारी को समाज में समादृत करना चाहा । ऋग्वेद में नारी को स्वयं गृह कहा गया है । शतपथ ब्राह्मण में स्त्री को पुरुष का आधा अंग बताया गया है । महाभारत में कहा गया कि भार्या ही श्रेष्ठतम सखा है तथा जिसके भार्या है वह सुखी है । स्त्री को धर्म, अर्थ, और काम का मूल बतलाया गया है । माता को परम गुरू भी कहा गया है । इस प्रकार भारतीय समाज में नारी का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है । भारतीय सांस्कृतिक चेतना में नारी मूल रूप में सौंदर्य, प्रेम, करुणा और वात्सल्य की मूर्ति है । उसके अभाव में जीवन अपूर्ण है । उसी के सामने सुख और आनन्द है ।

---

1. मनुस्मृति, 31:56.

बेबिल के पूर्वकालीन पश्चिम एशियाई समाज में नारियों की स्थिति अच्छी थी । प्रसिद्ध इतिहासकार बर्नस के अनुसार पूर्वी लोगों में केवल मिस्रियों ने ही स्त्रियों को राजसिंहासन पर बैठने की स्वीकृति दी । परिवार मातृसत्तात्मक था । मिस्र में सारी सम्पत्ति स्त्री के नाम से होती थी और उसके मरने के बाद पुत्री ही उत्तराधिकारिणी बनती थी । अपने परिवार की सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए (राजा के संबंध में राज्य) भाई को बहन से विवाह करना पडता था । लेकिन कुछ लोगों में यह प्रथा नहीं थी । मिस्रियों के समाज की यह विचित्र सी प्रथा थी कि रक्त शुद्धि के लिए वे बहिन से विवाह करते थे । नारी सार्वजनिक कार्यों में पुरुष के समान भाग लेती थी ।

हीब्रू समाज में धनी स्त्रियाँ विलासिता में जीवन बिताती थीं । व्यभिचार में आनन्द लेती थीं । इस से नैतिक स्तर गिरता है । स्त्रियों के सदाचारी जीवन में ही जाति या समाज का कल्याण है । इतना होते हुए भी कुछ स्त्रियाँ हीब्रू संस्कृति में देदीप्यमान हैं । पुत्रवती स्त्रियाँ आदर का पात्र थीं । किन्तु इनकी संख्या कम थी । इस बात को ध्यान में रखकर उन में माताओं का आदर, कुंवारेपन एवं विवाह को अनिवार्य कर दिया गया । भ्रूणहत्या आदि निन्दनीय थे । आदर्श नारी पति-परायण स्त्री थी ।

यूनानी या ग्रीक समाज में नारी उतनी स्वतंत्र नहीं थी जितनी कि मिस्र की थी । शासन के निर्देश पर स्त्रियों को कठोर शारीरिक प्रशिक्षण दिया जाता था जिस से कि वे हृदय-पुष्ट सन्तान उत्पन्न करें । वे शारीरिक सुन्दरता के लिए समस्त ग्रीक समाज में प्रसिद्ध थीं । निर्भीकता और स्वावलंबन के साथ उन्हें इन्द्रियों के प्रति उदासीन होने की शिक्षा दी जाती थी । समाज में दुराचार और व्यभिचार नहीं था । प्रेम विवाह भी न था ।

रोमी समाज में कहीं कहीं स्त्रियों की दशा सुधरी हुई थी। रोमी जगत में स्त्रियों का पद पुरुष से कम था, फिर भी उनका आदर किया जाता था। रोम में नारियाँ स्वाधीन थीं और इनको स्वकीय संपत्ति रखने का अधिकार था। कई स्त्रियों का समाज में ऊँचा स्थान था। लेकिन कालान्तर में स्त्रियों को विलास का साधन ही समझा जाता था और दासियों का जीवन अति दुःखपूर्ण था।

प्राचीन भारतीय समाज में नारी को आदरणीय मानने की प्रवृत्ति रही थी। मनुस्मृति में "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः"[1] कहकर नारी को गौरव एवं सम्मान देने का प्रयत्न किया गया है। वैदिक काल के इतिहास के सूक्ष्म अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियों को पुरुषों के समानाधिकार प्राप्त थे। वे पुरुषों के साथ ही सामाजिक जीवन में भाग लेती थीं, साथ ही साथ बराबर का धार्मिक अधिकार तो प्राप्त था। कालान्तर में नारी का गौरवपूर्ण स्थान नष्ट हो गया। मानसकालीन समाज में नारी भोग्या और दासी मानी जाने लगी। उसका सामाजिक जीवन नष्ट होकर घर में सिमट गया। परन्तु सुधारवादी, समाजवादी, तुलसीदास आदि उदार चिन्तकों ने नारी के उदात्त रूप के चित्रण का प्रयत्न किया। फलस्वरूप रामचरितमानस में नारी को पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। श्रीराम, नारी का सम्मान करते थे।

बेबिल के पूर्वकालीन पश्चिमी एशियाई समाज में मिस्र की नारी आदरणीय थी। प्राचीन समाज में परिवार मातृसत्तात्मक था। इसलिए समाज में नारी को पूर्ण प्रतिष्ठा मिली थी। लेकिन हीब्रू समाज में धनी स्त्रियाँ विलासिता और व्यभिचार में आनन्द लेती थीं। लेकिन वहाँ भी आदर्श पतिपरायण होने से समाज में वे आदरणीय मानी जाती थीं। ग्रीक समाज में नारी मिस्र के समान उतनी स्वतंत्र नहीं थी फिर भी समाज में सम्माननीय थी।

---

1. मनुस्मृति, 31:56.

रोम में कई नारियों का समाज में ऊँचा स्थान था । प्राचीन भारतीय एवं बैबिल के पूर्वकालीन पश्चिम एशियाई समाज में नारी पुरुषों के समान सामाजिक कार्यों में भाग लेती थी । दोनों समाजों में नारी को पूर्ण प्रतिष्ठा मिली थी । लेकिन कालान्तर में वह विलासिता का साधन मात्र बन गयी । येशु के पूर्वकालीन समाज में नारियों की यही अवस्था रही । येशु ने नारी वर्ग के उत्थान के लिए खूब प्रयत्न किया । इसलिए बैबिल में नारी को पुरुष के समान पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त हुई ।

भारतीय एवं पश्चिम एशियाई समाज में धर्म का स्वरूप :-

मानव जीवन में धर्म का विशेष महत्व है । धर्म हमें हर दिशा में अपना कर्तव्य करने, निस्वार्थ होकर त्याग की भावना के लिए प्रेरित करता है । इसलिए धर्म नैतिक तथा परमार्थिक आनन्द का मार्ग माना गया है । आध्यात्मिक क्षेत्र में ईश्वर के प्रति मन में रहनेवाला विश्वास ही धर्म कहलाता है । यह कुछ विशिष्ट प्रकार के आचारशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र पर आश्रित होता है, जैसे ईसाई धर्म, हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, यहूदी धर्म, इस्लाम धर्म आदि । महाभारत में व्यास मुनि ने कहा है कि धर्म को किसी भी अवस्था में नहीं छोडना चाहिए । न तो किसी कामनावश, न किसी भय से और न लोभ से , यहाँ तक कि जीवन हेतु भी धर्म को नहीं छोडना चाहिए । मानव जीवन धर्म पर आश्रित रहता है । वे एक दूसरे के पूरक भी हैं । धर्म कर्तव्यों का सैद्धान्तिक पक्ष है । कर्तव्य धर्म का प्रकाशन या बाह्य रूप है । यह आन्तरिक जगत् या आचरण की संचालिका शक्ति है ।

धर्म के बिना मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं है । धर्म हमारा आदर्श गुरू है । विजय पराजय के समय धर्म हमें पतित नहीं होने देता । इसलिए धर्म साहित्य के भीतर प्रतिष्ठित किया जाता है तो वह साहित्य को भी सदैव ऊँचा उठाता है ।

भारतीय विद्वानों ने धर्म को जीवन में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है । भारतीय सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में धर्म ही सर्वोपरि है । धर्म को पृष्ठभूमि में किये गये समस्त कार्य कल्याणकारी माने जाते हैं तथा उन से ही जीवन में उन्नति एवं सिद्धि प्राप्त होती है । डा. राधाकृष्णन के अनुसार धर्म की अवधारणा के अन्तर्गत हिन्दू उन स्वरूपों और प्रक्रियाओं को लाते हैं, जो मानव जाति को गति एवं जीवन प्रदान करती है ।[1] "धर्म" की प्रसिद्धतम परिभाषा मीमांसा सूत्रों की है -
"चेदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ।"[2] कुमारिल ने स्पष्ट लिखा है जो द्रव्य गुण और कर्म इष्ट प्राप्ति के लिए वेद में बताये हैं, वे सभी धर्म शब्द से गृहीत होते हैं ।[3] वेदोपदिष्ट धर्म की इष्ट साधना अदृष्ट या अलौकिक ही हो सकती है ।

भारतीय समाज धर्ममूलक है । धर्म भारतीय समाज का स्थायी भाव है । धर्म की श्रेष्ठता की ओर संकेत करते हुए कन्हैयालाल मुंशी लिखते हैं - "धर्म भारतीय संस्कृति का संकेत शब्द है । मानव जीवन और कार्य में भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच सेतु का काम वह करता है । धर्म मनुष्य को पूर्ण बनाता है, जीवन के समस्त अंगों का समन्वय करना सिखाता है, व्यक्ति को उन्नत बनाता है और सभी के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है ।"[4] भारतीय जीवन में विविध संस्कार, विद्यारंभ, विवाह, माता-पिता, गुरू और अतिथि की सेवा, मानसिक उन्नति आदि धर्म के अंग माने गए हैं । भारतीय संस्कृति में स्वीकृत चार पुरूषार्थों - धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में धर्म का स्थान सर्वोपरि है । धर्म से रहित अर्थ एवं काम को भारतीय संस्कृति हेय मानती है । अतः अर्थोपार्जन एवं काम धर्म के अनुकूल होना चाहिए ।

---

1. Religion and Society, Dr.Radhakrishnan, P.105.
2. मीमांसा, 1:1:2
3. श्लोकवार्तिका, पृ. 37, (वाराणसी, 1978).
4. श्रीमद् भागवत, 3, 25-32-33.

दर्शन भारतीय धर्म, भक्ति, अध्यात्म, एवं जीवन की आधार शिला है । दार्शनिक चिन्तन के चार प्रमुख पक्ष हैं ब्रह्म {ईश्वर}, जीव{आत्मा}, जगत् {संसार} और मोक्ष । भारतीय दर्शन में आत्मा और परमात्मा {ईश्वर} की एकता का विचार महत्त्वपूर्ण है । इस एकता या अद्वैत में माया बाधक है । काम, क्रोधादि माया के ही अंग हैं । अतः इन पर विजय प्राप्त करना ही जीवन का श्रेय और प्रेय है । ब्रह्म, जीव, जगत् और माया के स्वरूप तथा शरीर की नश्वरता का ज्ञान तथा ईश्वर प्राप्ति को मानव जीवन का परम पुरूषार्थ माना गया है ।

भारतीय समाज अवतार में विश्वास करता है । इस में देव का भी सन्निवेश है । देव शब्द का अर्थ है "दिव्य गुणों से सम्पन्न" । भारतीय मनीषियों ने प्रकृति को दिव्य गुणों से सम्पन्न मानकर उसकी देवता के रूप में उपासना की है । इन्द्र, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु इत्यादि देव रूप में पूजे जाते हैं । ब्रह्म, विष्णु, महेश को क्रमशः सृष्टि के उत्पन्नकर्ता, पालनकर्ता, एवं संहारकर्ता के रूप में स्वीकार किया गया है ।

बेबिल के पूर्वकालीन पश्चिम एशियाई मिस्र समाज में "धर्म" साधारण बहुदेववाद से दार्शनिक एकेश्वरवाद के रूप में बाद में विकसित हो गया । मिस्र का दर्शन प्राचीन है । यूनानी संस्कृति मिस्र के सामने शिशुवत् थी । मिस्र का प्राचीन दर्शन नैतिक है । उनका विश्वास है कि ईश्वर पवित्र हृदयवाले व्यक्ति को पुरस्कृत करते हैं और मनुष्य के सभी कल्याणमय कार्यों के स्रष्टा और पोषक हैं तथा सभी प्राणियों के प्रति दयालु हैं ।

---

1. The wisdom of Egyptians was a proverb with the greeks who felt themselves Children besides the ancient race, Will Durant, The Story of civilization, P.193.

प्राचीन हीब्रू धर्म का विकास कई अवस्थाओं में हुआ । उसका प्रारंभ तो क्रूर अन्धविश्वासों में हुआ किन्तु इसका चरम विकास आध्यात्मिक और नैतिक धारणाओं में हुआ । इसका प्रधान कारण इस्राएल की भौगोलिक स्थिति है । जब उन्होंने कनान देश पर विजय प्राप्त की तो इसके कार्यकलापों का केन्द्र मिस्र और एशिया की सभ्यताओं के मध्य में हो गया जिससे उक्त सभ्यताओं का प्रभाव हीब्रुओं पर स्वाभाविक रूप में पडा । हीब्रुओं में प्रारंभिक काल में भूत-प्रेत की पूजा की जाती थी जो वृक्षों, पर्वतों, पवित्र कूपों और विभिन्न स्वरूपोंवाले पाषाणों में रहते थे । पिशाच विद्या एवं जादू टोने के अतिरिक्त बकरों की बलि दी जाती थी । कुल विशेष के देव भी रहते थे । सर्प पूजा तो प्रारंभ से लेकर ई.पू. 720 तक प्रचलित थी । ये सर्प उनकी बुद्धि और प्रजनन शक्ति के प्रतीक थे । लिंग की तरह बाल (Baal) की पूजा उन में प्रचलित थी जो पौरूष का द्योतक था ।[1] इन प्राकृतिक शक्तियों की पूजा की भावना (Animism ने कालान्तर में देवों के मानवीकरण की ओर प्रेरित किया । देवों का नामकरण हुआ और वे कुल विशेष से संबंधित किये गये । यह विश्वास हीब्रुओं में प्रारंभ से लेकर 11 वीं शताब्दी ई. पू. तक चलता रहा ।[2] बैबिल के नये नियम (New Testament) में यूनानी दर्शन का प्रभाव बहुत है । ईसाई धर्म और गिरिजाघर पर इनका प्रभाव है ।

धार्मिकता के लिए मूल यूनानी शब्द दिकाए ओसुने (Dikaiosune) है । इस शब्द का अनुवाद करना कठिन है । इसमें अनेक विचार सम्मिलित हैं ।[3] धर्म में ऐसे सनातन तत्व हैं जो शाश्वत हैं और युग युगान्तर से मानव का पथ प्रदर्शन करते आ रहे हैं तथा करते रहेंगे । धर्म मनुष्य की लौकिक और अलौकिक उपलब्धियों का साधन है ।

---

1. The background of the New Testament, Dr.Yohan Dhulia. P:44
2. The History of Ancient World civilizations, P.224.
3. The Daily study Bible, Dr.William Burclay. P:65

जीवन की मूल समस्या है ईश्वर के साथ संगति प्राप्त करना, ईश्वर के साथ ठीक संबंध में रहना, ईश्वर की न तो उपेक्षा करना और उस से बचकर भागना, ईश्वर से मेल मित्रता और सच्ची संगति में रहना । इसी संगति का साधन है धार्मिकता । अर्थात् ईश्वर के प्रति ऐसा जीवन, आचरण, भावना, हृदय और अभिवृत्ति जैसा ईश्वर चाहता है । इसलिए धार्मिकता का अर्थ है ईश्वर के साथ ठीक संबंध में रहना । इसलिए सच्चा धर्म ईश्वर प्राप्ति का एक शान्तिपूर्ण मार्ग होता है । वह मनुष्य समाज की रक्षा और विकास का मूलाधार है ।

भारतीय एवं पश्चिम एशियाई समाज धर्म और आध्यात्मिक मूल्यों को सदैव बहुत महत्व देता था । दोनों समाज ईश्वर के अस्तित्व को **स्वीकार करके** उसके प्रति अनुराग को जीवन का आदर्श मानते थे । प्राचीन भारतीय एवं पश्चिम एशियाई समाज बहुदेववाद में विश्वास करता था । दोनों समाज में अनेक देवताओं की पूजा होती थी । बाद में पश्चिम एशियाई समाज में बहुदेववाद का उच्छेदन कर एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा हुई । दोनों समाजों में प्रारंभिक काल में कई पूजा विधियाँ थीं । पश्चिम एशियाई समाजों का प्रारंभ क्रूर अन्धविश्वासों में हुआ था, किन्तु उसका विकास आध्यात्मिक और नैतिक प्रगति में देखा गया ।

द्वितीय काल या 12 वीं शताब्दी ई. पूर्व. से बहुदेव के स्थान पर एक देव याहवेह { Yahweh } में विश्वास को और बल दिया गया । इस से हीब्रुओं में संगठना की भावना आई । इस काल में एकेश्वर याहवेह को आराधना पर विशेष बल दिया गया । हीब्रुओं का विश्वास था कि ईश्वर की आज्ञानुसार चलने से जीवन में विघ्न बाधाएँ नहीं आएँगी । वह सभी लोगों का रक्षक है, वह अपने अनुयायियों का रक्षक है आदि । हीब्रु लोग धार्मिक और नैतिक हैं । हीब्रु धर्म तो यहूदी धर्म और ईसाई धर्म की आधारशिला है ।

ग्रीक या यूनानी अनेक देवी-देवताओं के उपासक थे । इसलिए उनका धर्म बहुदेववादी था ।[1] पहले धर्म और दर्शन एक दूसरे में मिले-जुले थे । सर्वप्रथम यूनानियों ने ही दोनों को पृथक किया । प्लेटो और अरस्तू ने दर्शन के क्षेत्र में नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर दर्शन शास्त्र की विभिन्न शाखाओं को जन्म दिया । उनके प्रयत्नों से दर्शन शास्त्र सभी विषयों का प्राण बन गया । प्लेटो ने फिलोसफर राजा को सर्वश्रेष्ठ राजा या शासक कहा है । यूनानी दार्शनिकों - थेल्स, पाइथागोरस, सुकरात, प्लेटो, अरिस्टोटिल के विचार परवर्ती विचारकों के लिए उद्बोधक बने । इन्होंने ईश्वर, विश्व, देश, काल, आध्यात्मवाद, परिवर्तन और विकास की महत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार किया और ग्रीक या यूनानी भाषा में व्यक्त किया ।

भारतीय एवं पश्चिम-एशियाई समाज में नीति का स्वरूप:-

नीति वह आचरण है,जो सदैव शुभ परिणामों की ओर संकेत करता है । नीति से नीतिशास्त्र का जन्म हुआ है, नीतिशास्त्र में इस तथ्य का अध्ययन किया जाता है जो मनुष्य के आचरण को अच्छा, उचित या शुभ बनाता है । नीतिशास्त्र में मनुष्यों के कृत्यों की अच्छाई-बुराई, औचित्य-अनौचित्य पर विचार किया जाता है । मनुष्य के वे सभी कार्य या व्यवहार नैतिकता के अन्तर्गत आते हैं जो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के हित को दृष्टि में रखकर किये जाते हैं ।

भारतीय समाज आदर्शवादी, धर्मनिष्ठ एवं अध्यात्म परायण होने के कारण यहाँ नीति को महत्व देते हुए, नैतिक मूल्यों की रक्षा करने और उन्हें अपनाने पर बल दिया गया है । वास्तव में नैतिक मूल्यों के पालन से ही

---

1. The life of greece, The story of civilizations, Will Durant

समाज में सुख शान्ति स्थापित हो सकती है । प्रेम, दया, करूणा, सेवा, त्याग, सत्याचरण, सहिष्णुता, परहित, पारस्परिक कोमल व्यवहार, इन्द्रिय संयम, सहानुभूति, नम्रता इत्यादि से संबंधित नैतिक मूल्यों को स्वीकारा एवं सराहा गया है । भारतीय समाज की यह विशेषता रही है कि यहाँ सदैव नैतिक प्रवृत्तियों का समर्थन एवं अनैतिक प्रवृत्तियों का निषेध किया गया है । "सत्यमेव जयते" भारतीय समाज का नीति वाक्य रहा है ।

महाभारत के उद्योग पर्व के 33 से 40 अध्याय विदुर नीति के नाम से विख्यात हैं । इन अध्यायों के अनुशीलन से स्पष्ट है कि इन में नृप कर्तव्य एवं लोक कर्तव्य दोनों को ही नीति कहा गया है । श्रीमद् भागवत के अन्तिम श्लोक में नीति शब्द व्यवहृत हुआ है । रामायण में नीति शब्द का संकेत अनेक स्थलों पर मिलता है ।

नीति के लिए अंग्रेज़ी में § Ethics § नाम प्रचलित हैं । "एथिक्स" शब्द यूनानी § Greek § है जिसका अर्थ मूल शब्द "एथास" के कारण चरित्र या रूढ़ि अथवा आदतें हैं । नैतिकता मनुष्य के आचरण की ओर इंगित करती है । मनुष्य की आदतें, अनेक चरित्रों का विवेचन करती है । नैतिकता के लिए मनुष्य की उन आदतों को परखा गया है जिन्हें मनुष्य नियमानुसार स्वीकार कर लेता है । नैतिकता मानव-जीवन के आदर्शों की ओर इंगित करती है । साथ ही नैतिकता मानवीय व्यवहार पर आधारित है। सत्य, सौन्दर्य और शुभत्व मनुष्यों के चरम उद्देश्य हैं । यूनानी एथास अर्थात् चरित्र का अर्थ है एक विशेष प्रकार से संकल्पित कर्मों से बना हुआ संपूर्ण जगत् या समष्टि ।[2] यह सच है कि पेड़ की परख उसके फल से होती है । अच्छा चरित्र स्वयं को अनिवार्य रूप से अच्छे संकल्पित कर्मों से प्रकट करता है ।

---

1. महाभारतकालीन समाज, सुखमय भट्टाचार्य, पृ. 468

2. Christian Ethics, Dr. Benjamin Khan, P.1.

बैबिल के पूर्वकालीन पश्चिम एशियाई समाज मिस्र में नैतिकता के अन्तर्गत प्ताहहोतेप के सिद्धांत § Instructions of Ptahhotep § का उल्लेख किया जा सकता है ।[1] प्ताहहोतेप जो पाँचवें राजवंश §2500 ई॰पु॰§ के किसी नरेश का प्रधानमंत्री और मेम्फिस §Memphis § का गवर्नर भी रह चुका था । इस में अपने पुत्रों के लिए उपदेश दिया है । इस में नव युवकों के निर्देश के लिए बहुत सी बातें लिखी हैं । इन उपदेशों को जो सुनेगा, सौभाग्यशाली बनेगा और जीवन भर तेजस्वी बनेगा, सन्तुष्ट रहेगा । अपने ज्ञान पर फूल मत उठाओ, घमण्ड मत करो कि तुम बड़े ज्ञानी हो । ज्ञान की कोई सीमा नहीं है । कोई यह नहीं कह सकता कि वह सब जानता है । इन उपदेशों में सत्य, परोपकार, नम्रता आदि पर भी विशेष बल दिया गया है । मिस्री समाज इनके उपदेशों को मानते हैं । युवकों को पौरूषवान् सहनशील, प्रसन्नचित्त, न्यायी एवं दानी होने को शिक्षा दी गई है । इसके साथ ही उन में लोभ, इन्द्रिय परायणता एवं गर्व को त्यागने और विनम्रता तथा दयालुता को ग्रहण करने की राय भी दी गयी है ।[2] हीब्रू समाज पर इनका प्रभाव है । पुराना नियम में सोलमन रचित ज्ञान साहित्य §Wisdom Literature § पर इनका अधिक प्रभाव है । हीब्रू नैतिकता में व्यक्ति को शान्त, संयमी, परिश्रमी, बुद्धिमान और ईमानदार बनने का उपदेश दिया गया है । उनका नैतिक दर्शन पुराने नियम में प्राप्त होता है ।

ग्रीक समाज में सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, आदि ने नैतिक दर्शन पर विचार किया । सुकारात की शिक्षा है कि सत्य की खोज करने के लिए भीतर जाओ, दूसरों को नहीं अपने को पहचान लो, अज्ञानता बुराइयों की जड़ है, शरीर चिन्ता, धन, सम्पत्ति आदि की चिन्ता छोड़ अपनी अन्तरात्मा

---

1. The History of Ancient world civilizations, Will Durant, P.69.
2. The author Ptahhotep also caouases the avoidance of greed, Sensuality and pride and urges moderation and restraint, Burns. P. 37

को सुधारो । भलाई धन से नहीं धन भलाई से उत्पन्न होता है आदि । प्लेटो ने कई ग्रंथ लिखे हैं, इन में जनतंत्र {रिपब्लिक} और कानून { Law } नामक पुस्तकें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । उन्होंने दार्शनिक राजा को आदर्श शासक माना है । उन्होंने ईश्वर के विचार { Idea of god } को श्रेष्ठ माना है और ईश्वर को सृष्टिकर्ता माना है । मनुष्य में सद्गुणों के विकास पर ज़ोर देता था । नैतिक दर्शन संबंधी विचारों में अरस्तू के विचार प्लेटो से सरल है ।

प्रत्येक समाज अपने भीतर, शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए एक विशिष्ट प्रकार की आचार पद्धति निर्धारित करता है । इस आचार पद्धति का लक्ष्य यही होता है कि समाज के सदस्य एक दूसरे से टकराने के बदले परस्पर स्नेह से मिल जुलकर जीवन व्यतीत करें और समाज के सामूहिक जीवन को समृद्ध एवं सुखी बनायें । समस्त समाज द्वारा स्वीकृत यह विशिष्ट आचार पद्धति धीरे धीरे एक सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित व्यवस्था का रूप धारण कर लेती है और समाज के भीतर रहनेवाले सभी व्यक्तियों के आचरण का निर्देशन और नियंत्रण करने लगती है । इस सुनिश्चित एवं व्यवस्थित आचार पद्धति को नैतिकता की संज्ञा दी जाती है । इस व्यवस्था के अनुरूप किये जानेवाले आचरण को नैतिक कहकर समाज उसकी सराहना करता है और विपरीत आचरण को अनैतिक कहकर उसकी भर्त्सना करता है । नैतिकता मनुष्य के सामाजिक जीवन में शान्ति को जन्म देती है एवं मनुष्य के कल्याण की बात कहती है ।

नीति मानव के लौकिक आचरण को नियमित करती है । उसे मर्यादित करती है । इसलिए उस में समाज कल्याण की भावना निहित रहती है । फलतः नीति सम्मत आचरण को ही उचित कहा गया है । मानव के लिए उचित कर्म करना ही धर्म है । समाज में रहनेवाले अन्य मनुष्यों के प्रति भी उसका आचरण नैतिकता की अपेक्षा रखता है । जीवन को सफल बनाने के लिए

अनेक प्रकार के कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है । मानस और बैबिल में इन्हीं नीति संबंधी विचारों पर बल दिया जाता है । नीति के कई विभाग किये जा सकते हैं जैसे व्यावहारिक नीति, आर्थिक नीति, राजनीति आदि ।

भारतीय एवं पश्चिम एशियाई समाज में नीति व्यक्ति और समाज के हित को समान दृष्टि से देखते हैं । दोनों समाजों में नैतिक मूल्यों की रक्षा करने और उन्हें अपनाने पर बल दिया गया ।

रामचरितमानस का समाज :-

समाज और संस्कृति से मानव-जीवन प्रेरित एवं प्रोत्साहित होता है । समाज और संस्कृति इतिहास के चिरन्तन घटक हैं । साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं अपितु दीप्ति है । अतः साहित्य का श्रेय एवं प्रेय यह है कि समाज और संस्कृति का निरूपण करने के साथ समाज को दिशा-निर्देश करे । भारतीय साहित्य में संस्कृति एवं समाज का चित्रण होता रहा है । रामायण एवं महाभारत भारतीय संस्कृति के गौरव ग्रंथ हैं । वैसे ही कवि तुलसीदास का "रामचरितमानस" तो समाज एवं संस्कृति का प्रामाणिक दस्तावेज़ है ।

भारतीय समाज में परंपरागत कुछ विश्वास एवं सामाजिक मान्यताएँ विद्यमान हैं । आदिम युग से ही मनुष्य कुछ विश्वासों एवं मान्यताओं को, भले हो वे बुद्धिग्राह्य न हों, स्वयं सिद्ध सत्य मानता आया है । यही कारण है कि अतिमानवीय शक्तियों पर विश्वास, शुभाशुभ, शकुन विचार, मुहूर्त, ज्योतिष विचार और सामाजिक रूढ़ियाँ भी स्वीकृत हैं। प्राचीन समाज की विशेषताओं के विवेचनात्मक अध्ययन से यही परिलक्षित होता है कि भारतीय समाज आदर्शोन्मुखी रहा है । भारतीय समाज की उल्लेखनीय विशेषता है - मानवता । यहाँ संकीर्णता एवं लघुता के स्थान पर हृदय की विशालता को

श्रेयस्कर माना गया है । जाति, वर्ण, धर्म के संकुचित दीवारों को मिटाकर मानवता को सर्वोपरि माना गया है । भारतीय समाज में मानवता आध्यात्मिकता पर आधारित होने के कारण धार्मिक, दार्शनिक एवं नैतिक मूल्यों को विशेष महत्व दिया गया है । अत: भारतीय समाज में प्रेम, अहिंसा, परोपकार, सहयोग, भ्रातृभाव, संयम, सदाचार, आत्मोपम्य बुद्धि से व्यवहार इत्यादि मानवीय मूल्यों को महत्ता प्रदान की गई है । भारतीय समाज में आध्यात्मिक मूल्यों का सदैव महत्व रहा है । आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति की आत्मा है । भारतीय समाज के विकास में भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों का समन्वय है किन्तु भारतीय मनीषियों ने आध्यात्मिक दृष्टि को सर्वोपरि माना है । भारतीय समाज में संस्कारों का विधान भी आध्यात्मिक मूल्यों को दृष्टि में रखकर किया गया है । कालान्तर में समाज में अव्यवस्था, भ्रष्टाचार, अन्याय, भोग-विलास, आदि फैल गया । तुलसीदास के काल में हिन्दू समाज पतनोन्मुख अवस्था में पहुँच गया ।

तुलसीदास ने जनकल्याण के दृष्टिकोण को सामने रखकर मानस में राम कथा को मर्यादा और आदर्शों में ढालने के लिए आवश्यकतानुसार एवं लक्ष्यानुरूप परिवर्तन, परिवर्धन, परिष्कार एवं नवीन उद्भावनाओं का समावेश भी किया है । तुलसीकालीन समाज में साधारण लोगों की स्थिति बहुत दयनीय थी । अपने समाज की स्थिति को तुलसी ने मानस में कलिकाल वर्णन के द्वारा मार्मिक ढंग से व्यंजित किया है । दारिद्र्य, अकाल, भुखमरी, विषमता आदि की गहरी पीडा को भुगतने पर तुलसी ने अपने देशकाल का चित्रण कलियुग वर्णन में किया है ।[1] राजा की उदासीनता से प्रजा असहाय-सी बन गई थी । तुलसी के समय महामारी का प्रकोप भी घोर विपत्ति बनकर आया था । वर्ण व्यवस्था

---

1. मानस उत्तर कलिकाल वर्णन

अधःपतित हो चुकी थी । आर्थिक क्षमता के आधार पर समाज दो वर्गों में विभाजित हुआ था । इसलिए उच्चवर्ग और निम्नवर्ग के जीवन में बहुत अन्तर आ गया था । पारस्परिक भेद, कटुता, निराशा, विलासिता चारों ओर व्याप्त थी । उच्चवर्ग के लोगों ने निम्नवर्ग के मनुष्यों को मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया था । समाज गिर रहा था, पतित बन गया था । व्यक्ति दबा, कुचला जा रहा था । मनुष्य जीवन दास्यता और दयनीयता की जंजीरों से जकडा हुआ था । प्रतिशोध की भावना बढ रही थी । समाज में नयी नयी कुरीतियों का निर्माण हो रहा था । अनुशासनहीन जीवन पद्वति से समाज त्रस्त था । मनुष्य की कुवासना से उसके कर्म, उपासना, भ्रष्ट बन गयी थी । परिणामस्वरूप समाज में त्याग, वृत्ति, कर्म-कौशल , संगठन आदि का अभाव हो गया था ।

ऐसी सामाजिक स्थिति में जनसमाज को उनका उद्वार करनेवाला, मार्गदर्शानेवाला, संघटित करनेवाला, उनकी मृतवत् आस्थाओं को जीवित करनेवाला, आदर्श नेता चाहिए था । तुलसी ने रामचरितमानस में श्रीराम के माध्यम से इस कमी को पूरा किया । जीवन का श्रेष्ठ आदर्श समाज के सामने प्रस्तुत करने और उसकी ओर हमें प्रवृत्त करने के लिए ही ईश्वर स्वयं अवतरित होते हैं । भगवद्गीता में कहा गया है -

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृज्याम्यहम् ।।"[3]

जब जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म बढता है तब धर्म के पुनरुत्थान एवं अधर्म के विनाश के लिए ईश्वर अवतार लेते हैं । भारतीय चिन्तन में अनेक अवतार माने गये हैं फिर भी श्रीराम भारतीय समाज एवं साहित्य के प्राण हैं । श्रीराम लोकनायक के रूप में अवतरित हुए हैं । वे समस्त विरोधी तत्वों तथा गतिरोधों

---

1. भक्तिकाव्य का समाज शास्त्र, डा. प्रेमशंकर, पृ. 115 -116
2. समाज और संस्कृति, तुलसी, सूर एवं दादू में, सावित्री चन्द्र शोभा, पृ. 2
3. भगवद्गीता, अ:4:7.

के कारणों का परिष्कार कर समाज में सहयोग और एकता की भावना उत्पन्न करते हैं । और उसे उद्देश्य पूर्ति की दिशा में अग्रसर करते हैं । श्रीराम समाज में रहते हुए, समाज से अपने को ऊपर उठाने में सक्षम होता है । उनके पास ऐसी आँखें हैं, जो निराशापूर्ण वर्तमान के परिपार्श्व पर उज्ज्वल, समुन्नत भविष्य को देखने की क्षमता रखती हैं । उनका व्यक्तित्व प्रेरणादायी है । वे युग द्रष्टा भी हैं । समाज के कल्याण का, मंगल का, अभ्युदय का चिंतन करते हुए समाज का मार्गदर्शन करते हैं । समाज कल्याण, विश्वास और धर्म की रक्षा पूरा करना उनका लक्ष्य है ।

मर्यादा-प्रिय गोस्वामी तुलसीदास ने तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक विकृतियों को दृष्टिगत रखकर एक आदर्श समाज की परिकल्पना की जो परिष्कृत वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था पर आधारित थी । तुलसी वर्णाश्रम व्यवस्था को सामाजिक सुव्यवस्था, सुखशांति एवं समृद्धि का आधार मानते थे । वे वर्ण व्यवस्था का आदर्श रूप चित्रित करते हुए इसी के आधार पर सुख शान्ति का विकास प्रस्तुत करते हैं -

"बरनाश्रम निज-निज धरम निरत वेद पथ लोग ।
चलहि सदा पावहि सुखहि नहिं भय शोक न रोग ।।"[1]

तुलसी के अनुसार वर्णाश्रम धर्म का पालन ही स्व-धर्म है, समाज कल्याण का साधन है । उनके अनुसार जब समाज में चारों वर्ण अपने-अपने कर्तव्य एवं कर्मों में लीन रहते हैं तथा एक वर्ण दूसरे वर्णों के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करते तभी सुख, शांति एवं सन्तुलित समाज की संरचना संभव होती है । पारदर्शी तुलसी ने समाज में संगठन, सुव्यवस्था और संतुलन स्थापित करने केलिए जहाँ परिष्कृत वर्ण व्यवस्था को स्वीकार किया वहाँ साथ ही व्यक्तिगत जीवन में उदारता, सहिष्णुता और समता को स्वीकारा है ।

---

1. मानस उत्तर 20.

तुलसी समन्वय के कवि हैं । अतः उन्होंने वर्ण व्यवस्था को भी समन्वयात्मक दृष्टि से चित्रित किया है । वर्ण भेद को तुलसी ने परंपरा के अनुसार स्वीकार किया है । वह जन्मना से नहीं कर्मणा से हैं । रामचरितमानस जाति, वर्ण की दीवारें लाँघकर सब के लिए प्रिय हैं । मानस के राम के दरबार में जाति भेद नहीं । गुह को राजघराने का मेहमान बनानेवाले राम कभी जाति-भेद को स्वीकार नहीं करते । अपनी लघुता के विचार से निषादराज वशिष्ठ को दूर से ही प्रणाम करके मर्यादा की रक्षा करता है, परन्तु महर्षि वशिष्ठ उसे निःसंकोच "बरबस" गले लगाकर अपने वर्ण की उच्चता के साथ हृदय की विशालता का भी परिचय देते हैं । मानस समाज की भक्ति की भावभूमि और जीवन-दर्शन में सब की समानता यहाँ दृष्टव्य है । तुलसी ने भक्ति के क्षेत्र में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है । राम, गुह, कोल, किरात, निषाद, आदि के प्रति स्नेह भाव रखते हुए ऊँच-नीच की भावना को नष्ट करने का सन्देश देते हैं ।

मानस समाज ने जन समाज में नव चैतन्य का संचार किया । समाज को दिशा और गति देनेवाले तुलसी ने "रामराज्य" का वर्णन करते हुए समाज में नयी शक्ति और उत्साह का निर्माण किया था । केवल वानर समाजों के बल पर, रावण वध करनेवाले श्रीराम दीन-दुर्बलों को, पीडितों की गुहार को सुना ही नहीं, वे तो ऐसे लोगों के रक्षक हैं, यह दृढ विश्वास तुलसी ने जनसमाज में जगाया । सत् की प्रतिष्ठा और असत् की पराजय मानस का केन्द्रीय तत्त्व है । इस सत्-असत् की पृष्ठभूमि पर मानस के समाज ने अपने व्यावहारिक आदर्शों को प्रस्तुत किया है ।

मानस का समाज पारिवारिक पवित्रता का पारिजात है, पारिवारिक कथा काव्य है । परिवार में माता-पिता, पति-पत्नी, सन्तान,

---

1. रामचरितमानस की लोकप्रियता का विवेचनात्मक अध्ययन, डा. रामचरित्र सिंह, पृ. 118

सास-ससुर, भाई-भाई, गुरू शिष्य, मित्र आदि का आदर्श देखा जा सकता है । श्रीराम मध्यकालीन दुराचार और सामन्ती भोगविलासी मूल्यों को चुनौती देते हैं । वे सभी पतियों के आदर्श रूप रहे हैं । वे राजमुकुट छोड़कर त्याग की भावना स्वीकार करके धर्म की रक्षा के लिए पिता की आज्ञा का पालन करते हैं । इस दृष्टि से वे आदर्श पुत्र हैं, यही नहीं वे समाज नायक हैं, लोक नायक हैं । वे मध्यकाल के वैकल्पित चरित नायक के रूप में प्रस्तुत हैं, जिनका पारिवारिक जीवन निरन्तर प्रासंगिक कहा जाता है । राम, भरत, लक्ष्मण की भ्रातृ भावना अनुपमेय है । जब राम को अपने राज्याभिषेक की सूचना मिलती है, तब वे यही कहते हैं कि हम सब भाई एक साथ जन्मे, खाना, सोना, लड़कपन के खेल-कूद, यज्ञोपवीत, विवाह आदि सब साथ साथ हुआ परन्तु इस निर्मल वंश में यही एक अनुचित बात हो रही है और सब भाइयों को छोड़कर एक बड़े का ही राज्याभिषेक हो रहा है ।[1] सुमित्रा वन-गमन के प्रसंग में लक्ष्मण को भ्रातृभक्ति की सीख देती है -

गुरु पितु मातु बन्धु सुर साईं । सोइ अहि सकल प्राण की नाईं ।
रामु प्राण प्रिय जीवन जीके । स्वारथ रहित सखा सबही के ।[2]

मानस में चित्रित पारिवारिक सौहार्द्र का पवित्र उदाहरण भरत की आत्म ग्लानि में मिलता है । अपने लिए प्राप्त राज्य को ठुकराकर राम को लौटाने के लिए भरत का चित्रकूट जाना एवं चौदह वर्ष तक व्रतस्थ रहकर विरागी जीवन व्यतीत करना भाई के प्रेम का उदात्त आदर्श है ।

मानस में तुलसी ने नारी के विविध रूपों को प्रस्तुत करते हुए समग्रतः नारी को चित्रित किया है । तुलसी का नारी के प्रति सम्मान एवं सद्भावना का पुष्ट प्रमाण उनके द्वारा चित्रित नारी पात्र हैं । वह आदिशक्ति है,

---

1. मानस बाल: 143:1
2. मानस: अयो: 74:3.
3. रामचरितमानस विभिन्न संदर्भ, मुकुन्दलाल मुंशी, पृ. 165.

माँ है, द्रष्टा है । तुलसी ने इन नारियों के वर्णन के द्वारा भारतीय नारी को उन्नत करने का प्रयास किया है । तुलसी ने राम परिवार की नारियों, ऋषि-पत्नी अनसूया, जनकपत्नी सुनयना एवं सीता का उत्तम आदर्श प्रस्तुत किया है । साथ ही राम के शत्रु की पत्नी मन्दोदरी, त्रिजटा राक्षसी को भी आदर्श नारी के रूप में चित्रित किया है । राम का एक पत्नीव्रत नारी के प्रति सम्मान का ही प्रमाण है । तुलसी नारी के पराधीन जीवन से संवेदनशील हैं । नारी के प्रति उनके संवेदनशील उद्गार नारी गौरव की वृद्धि करते हैं -[1]

कतविधि सजी नारि जग माही । पराधीन सपनेहु सुखु नाही ।

तुलसी के रामराज्य में नर-नारी समान रूप में सम्मानित थे । तत्कालीन विलासी समाज के सम्मुख नारी-जीवन की स्थिति एवं प्रवृत्तियों पर तुलसी ने कटु व्यंग्य किये हैं । ऐसी नारियों का उत्थान भी चाहते थे और समाज में नारी विषयक भावना को परिवर्तित करना चाहते थे । नारी की एक मानव रूप में सर्व समान भाव से प्रतिष्ठा करना सामाजिक जीवन में निश्चय ही तुलसी का नया कदम था ।

तुलसी ने धर्म के जिस स्वरूप को माना "वह" नानापुराण निगमागम सम्मत है । उन्होंने सभी शास्त्रों का अध्ययन कर उनके सारतत्वों को ग्रहण किया और धर्म की महत्ता सिद्ध की है । तुलसी ने धर्म को व्यापक अर्थ में स्वीकार किया । मानस में धर्म प्रत्येक व्यक्ति को गौरव प्रदान करनेवाला है । मानस का आधार भक्ति है । भक्ति में आत्मिक सुख, सन्तोष एवं शान्ति को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है । मनुष्य मात्र के प्रेमी तुलसी ने राम नाम और राम भक्ति के द्वारा जनसमाज को गार्हस्थ्य में रहते हुए मोक्ष का मार्ग बताया । मानस में आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा का आग्रह सर्वत्र दिखाई देता है । आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना के लिए तुलसी ने ऐसे प्रसंग

---

1. मानस बाल 3:102.

चित्रित किये हैं जिन में पूजन-अर्चन, उपासना, आराधना, श्रद्धा भक्ति का प्राधान्य है । उन्होंने भौतिकता की उपेक्षा कर आध्यात्मिकता का समर्थन किया है । रावण भौतिकता का प्रतिनिधि है जिस पर राम की आध्यात्मिकता विजय प्राप्त करती है । सांसारिकता मोह है, ईश्वर सत्य है, अतः काम, क्रोध, लोभ, इत्यादि का परित्याग करने के लिए विभीषण रावण को समझाते हैं -

"काम, क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ ।
सब परिहरि रघुवीरहि भजहु भजहि जेहि संत ।।[1]

मानस में व्याप्त आध्यात्मिकता जीवन-परायण है । वह लौकिक व्यवहारों का पोषण एवं चिन्तन करती रहती है ।

मानस में तुलसी ने दर्शन की विभिन्न धारणाओं का जिस सरल, बुद्धि ग्राह्य, लोक-भोज्य और सहज भाषा में सरलीकरण किया है, उसकी मिसाल अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ती ।[2] दार्शनिक विचार के चार प्रमुख अंगों - ब्रह्म, जीव, जगत् और मोक्ष का विवेचन मानस में विस्तृत रूप में प्राप्त होता है । भारतीय दर्शन में जीव और ब्रह्म की एकता का विचार महत्त्वपूर्ण है । यह मानस में चित्रित मिलता है । इस एकता या अद्वैत में माया बाधक है । काम क्रोधादि माया के ही अंग है । अन्तः इन पर विजय प्राप्त करना जीवन का श्रेय और प्रेय है । निर्गुण-सगुण उसके रूप है -

"सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा । गावहि मुनि पुराण बुध वेदा ।"[3]

तुलसी ने जीवात्मा को परमात्मा का अंश माना है -

"ईश्वर अंश जीव अविनाशी ।" जीव माया के वशीभूत है । आत्मज्ञान प्राप्त होने पर माया का आवरण हट जाता है । उसकी मान्यता है कि माया के कारण जड़ और चेतन में जो ग्रंथि पड़ी हुई है उसका छूट जाना ही मोक्ष है ।

---

1. मानस सुन्दः दोः 38.
2. रामचरितमानस विविध संदर्भ, मुकुन्दलाल मुंशी, पृ. 50.
3. मानस बालः 116:1

राम सत्य प्रतिज्ञ है और वेद की मर्यादा के रक्षक है । उनका अवतार ही जगत् के कल्याण के लिए हुआ है । वे दुष्टों का नाश करनेवाले और देवताओं के हितकारी हैं । श्रीराम पृथ्वी पर गौ, ब्राह्मण तथा निर्बलों के हितार्थ मनुष्यावतार धारण करते हैं -

"गौ द्विज धेनुदेव हितकारी । कृपासिन्धु मानुष तन धारी ।"[1]

तुलसी ने मानस में कई पात्रों के माध्यम से नीतिपरक व्यवहार का व्याख्यान किया है । राम, लक्ष्मण, वशिष्ठ, काकभुशुंडि आदि तो नीति संबंधी बातें करते ही हैं । वसिष्ठ ने राम एवं राजसभा के समक्ष नीति एवं धर्म के जो तत्व समझाए हैं, वे सामाजिक नीति का यथावसर उल्लेख हुआ है । मानस ने समाज को जो व्यावहारिक नीति का उपदेश दिया, उसने समाज को दृढता दी, उत्साह बंधाया और जीवन में प्रगतिशील होने की शक्ति प्रदान की । तुलसी ने राजनैतिक आदर्शों का भी यथा योग्य वर्णन किया गया है । उन्होंने रामराज्य के आदर्शों का चित्रण इन शब्दों में किया है ।

दैहिक दैविक भौतिक तापा । राम राज नहिं काहुहि व्यापा ।
सब नर करहि परस्पर प्रीति । चलहि स्वधर्म निरत श्रुति नीति ।[2]

मानस का उद्देश्य समाज का मंगल है । गंगा नदी के लोकमंगल स्वरूप के प्रति जो लोक विश्वास है, उसका सार्थक उपयोग करते हुए तुलसी ने अपनी काव्य गंगा को सब का हित करनेवाली कहा है ।[3] मानस समाज मंगलमयी ज्योति है, जो धर्म के रूप में प्रकाशित करती रहती है । लोक कल्याण का विश्वास प्रकट करते हुए राम समाज से संदेह, भ्रम, मोह आदि

---

1. मानस बाल: 5:39:2.
2. वही, 7:20:1.
3. कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि सम सब कहँ हित होई ।
   मानस: बाल: 13:5

को दूर करना चाहते थे, यह उद्देश्य मानस के समाज के द्वारा पूर्ण करते हैं ।[1] तुलसी समाज की रागात्मिका शक्ति को चिन्मयोन्मुख और रामोन्मुख बनाने का संकल्प लिये हुए थे । उनकी आत्मोपलब्धि का ही एक अंग है - लोक मंगल । उनके राम समाज-मंगल के गुणग्राम और मुक्तिदाता हैं ।[2]

तुलसी ने मानस समाज के आदर्श गुणों का विचार करते हुए उसे षड्विकारों से रहित, स्थितप्रज्ञ, सत्यप्रिय, रामचरनानुरागी, परस्त्री को माँ माननेवाला, निर्लोभी, सहिष्णु आदि गुणों से युक्त माना है ।[3] तुलसी ने राम की सत्ता को सर्वत्र व्याप्त माना है । मनुष्य के विचार, कर्म, ज्ञान, उपासना, सब में राम है, इस धारणा के माध्यम से समाज जीवन को विवेकशील बनाने का प्रयास तुलसी ने किया था । शीलबोध, उदात्तता के द्वारा तुलसी जीवन का पूर्णतः उत्थान चाहते थे । मानस, समाज के मन में यह धारणा दृढ़ की, कि उत्पीडन या अत्याचार का शमन प्रत्येक समर्थ व्यक्ति का धर्म है । अत्याचार का विरोध पीडितों को आश्वस्त करने के लिए किया जाता है ।[4] मानस का समाज सभी व्यक्ति और समाज को स्वावलम्बी, आत्मनिर्भर बनाने की प्रेरणा देता है ।

मानस के सन्त समाज में जीवनादर्शों की सहज अवधारणा उपस्थित है । निष्काम, निरन्तर तृप्त, परहित में तत्पर, मन-वचन, कर्म से

---

1. निज संदेह मोह भ्रम हरनी, करी कथा भव सरिता तरनी ।
   मानस बाल: 30:2
2. जगमंगल गुनग्राम राम के । दानि मुकुति धन धरम धाम के ।
   मानस बाल: 31:2.
3. मानस अयो: 129:1-4.
4. निशिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह ।
   सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह ।। - मानस 3:9.

नियमों का पालन, गर्वहीन, समत्व बुद्धि, मन की शीतलता, सत्य प्रिय, ईश्वर भक्ति-रत, अविचल, ये सभी सन्त समाज की विशेषताएँ हैं । तुलसी ने रामचरित्र के अन्तर्गत विभिन्न मानवीय संबंधों का चित्रण करते हुए सामाजिक जीवन के महत्वपूर्ण भागों का संस्पर्श किया है । तुलसी ने राम के माध्यम से सामाजिक जीवन को धर्मरथ प्रतिपादित किया है, इस धर्मरथ के उपकरण थे - सत्य, शील, शक्ति, धैर्य, विवेक, संयम, क्षमा, दया, समता, वैराग्य, सन्तोष, दान, भक्ति ।[1] साधु, सज्जनों एवं संतों के स्वभावगत गुणों का, समाज पर विशेष प्रभाव पड़ता है, जिनके कारण समाज में सन्तसमाज सन्तुलन, शान्ति एवं सुख की सृष्टि करते हैं । संत समाज के द्वारा समाज में समता, दया, प्रेम, धैर्य, सन्तोष तथा निरभिमान, मनुष्य जीवन के आवश्यक अंग बताये गये हैं साथ ही साथ समाज में व्याप्त छल-कपट, क्रोध लोभ से दूर रहने का आह्वान देते हैं । मानस ने जन समाज के सामने राम के माध्यम से जीवन का दृष्टान्त स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया था । वह नैतिक गुणों के साथ-साथ सामाजिक गुणों - सत्य, दया, विवेक और समता पर बल देते हैं ।

तुलसी ने मानस के माध्यम से भारतीय समाज की श्रेष्ठता सिद्ध की है । उन्होंने भारतीय समाज को व्यापक परिवेश में देखा था । मानस में इसका प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगत होता है । तुलसी ने मानस में कलियुग की स्थिति एवं उसके लक्षणों के वर्णन के माध्यम से तथा रावण के अत्याचारों के चित्रण के बहाने अपने युग की सामाजिक स्थिति की झलक हमारे सामने प्रस्तुत की है । भारतीय समाज में तुलसी वास्तविक जीवन लेकर उतरे । मानस में भारतीय समाज अनेक रूपों में व्यक्त हुआ है । अयोध्या का राजपरिवार, पारिवारिक संबंध, गृह कलह, साधारण लोग, वानरों और राक्षसों का निरूपण कर कवि ने सामाजिक आदर्श की प्रतिष्ठापन पर बल दिया है । तुलसी ने तत्कालीन समाज में व्याप्त

---

1. मानस 6:79:3, 3-5.

धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक विषमताओं में सामंजस्य स्थापित करने का भरपूर प्रयास किया । उन्होंने सभी क्षेत्रों में व्याप्त अशान्ति, अनाचार, विषमता को दूर करने के लिए समन्वयात्मक दृष्टि रखी और धार्मिक क्षेत्रों में शैव एवं वैष्णव, वैष्णव एवं शाक्त मतों का समन्वय किया । कर्तव्य एवं नैतिक व्यवस्थाओं पर उन्होंने सामाजिकता की नींव डाली । मानस समाज पारस्परिक उत्तरदायित्वों को संभाला तथा नैतिक, सामाजिक व्यवस्था को नव संस्कारित कर संतापित मानव समाज को प्राणदायिनी शील देकर जागृत किया । लौकिक विवेक का अलख जगाकर उस युग के मानव समाज को दुःखों से छुटकारा दिलाया । पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, व्यावहारिक तथा राजनैतिक सत् कर्तव्यों की ओर जनता को उन्मुख किया । समाज को मानस रोगों से मुक्त कर उसे उच्चतर सामाजिक आदर्शों का स्पष्ट धरातल दिया ।[1]

बैबिल का समाज :-

बैबिल के पुराना नियम में मनुष्य-समाज के लिए मूल हीब्रू में "बने इलोहीम" शब्द का प्रयोग करते थे । हीब्रू में इस शब्द से समूह का बोध होता है । "बने इलोहीम" का मुख्य अर्थ है दिव्य समाज या दिव्य दल के सदस्य । इस्राएली या यहूदी विचारधारा में उनको ईश्वर के सेवक माना जाता था । बैबिल में समाज के लिए अनेक शब्द हैं - बने इलोहीम, एम, लाओस, एतने, गोइम, देमोस,[2] एक्लेसिया,[3] कोइनोनिया[4] आदि ।

---

1. तुलसी नवमूल्यांकन, डा. रामरतन भटनागर, पृ. 181.
2. There is a contrast between 'am or Laos=Israel as the chosen people, and ethene or goim, the gentiles - The New International Dictionary of New Testament, Theology, Vol.2, P.788-790, Australian Emu Book Agencies.
3. Dictionary of Biblical Theology, The people of the New covenent, P.420.
4. Christian Ethics, Dr.Benjamin Khan, P.24.

इस्राएलियों का विश्वास है कि वे ईश्वर द्वारा चुने हुए लोग हैं । बैबिल के पुराना नियम के मूल हीब्रू में इनको "एम" (am) कहा जाता है । बैबिल के नया नियम के मूल ग्रीक में इसके लिए "लाओस" (Laos) शब्द का प्रयोग करते हैं । इस्राएली या यहूदी समाज को छोडकर दूसरे समाज के लिए या विजातीय समाज के लिए हीब्रू में "गोई" या "गोइम" (goy, goyim) शब्द है । इसकी व्युत्पत्ति "जेनस" (Gens) लाटिन भाषा से हैं, इसका अर्थ होता है राष्ट्र या समाज (nation) । अंग्रेज़ी में इसे "जेनटाइलस" (gentiles) कहते हैं । नया नियम के मूल ग्रीक में इसके लिए "एतने" (Ethne) और "देमोस" (demos) शब्द का उपयोग करते हैं ।[1] नया नियम के मूल ग्रीक में आराधना समाज (Community of worship) के लिए एक्लेसिया (ekklesia) शब्द का प्रयोग करते हैं ।[2] बैबिल के नया नियम के मूल ग्रीक में आदर्श समाज या भक्त समाज के लिए "कोइनोनिया" (Koinonia) शब्द है ।[3] "कोइनोनिया" ईसा द्वारा बुलाये गये भक्तों एवं विश्वासियों की संगति या कलीसिया के लिए भी प्रयुक्त होता है । कलीसिया विश्वासियों का समूह है । यह कलीसिया ईसा द्वारा बुलाहट एवं कार्य से अस्तित्व में आई है । इस संगति या समाज में जो कुछ समाज के लिए कर रहा है वह केवल यह है कि वह मनुष्य को मनुष्य बनाने का प्रयत्न कर रहा है । नई पृथ्वी और नया आकाश को अस्तित्व में लाने के लिए मानव व्यवहार में एक नवीकरण एवं रूपांतरण की आवश्यकता है । यह आशा उसी समय पूरी हो सकती है जब मनुष्य का व्यवहार ईश्वर की उस इच्छा में, जो येशु में प्रकट हुई, ढाला जाए । "कोइनोनिया" में केवल एक ही मुख्य नियम है, जो परिस्थितियों से परे शुभ और उचित है । वह प्रेम या अगापे (Agape) है - ईश्वर से प्रेम और पडोसी से प्रेम । बैबिल के अनुसार इस प्रकार आदर्श समाज में आदर्श जीवन के लिए पवित्रात्मा ईश्वर का वरदान की आवश्यकता है ।

---

1. The New International Dictionary of New Testament, Theology, Vol. 2, P.788-790.
2. Dictionary of Biblical Theology, Xavier Leon-Du four, P.420.
3. Christian Ethics, Dr.Benjamin Khan, P.24.

प्रारंभ में "कोइनोनिया" में सामूहिक भावना बड़ी सबल थी। वे "मैं" का नहीं, "हम" का प्रयोग करते थे। उस में ईश्वर और मनुष्य से प्रेम करनेवालों का स्थान है। वे अपनी निजी सम्पत्ति भी दूसरों के लिए देते थे। वे ईश्वर की सम्पन्नता में भाग लेने के कारण सन्तुष्ट रहते थे। आपस में सहायता करते थे, एक साथ प्रार्थना भी करते थे। वे ईश्वर की स्तुति करते थे।

बैबिल में मानव समाज के उद्‌भव और विकास, पतन और प्रगति का चित्रण मिलता है। बैबिल के आरंभ में मनुष्य की सृष्टि, पृथ्वी पर उसके अधिकार, और स्वतंत्रता आदि का वर्णन है। पुराना नियम में मनुष्य के पाप में गिरने और अपनी रक्षा स्वयं करने का वर्णन है। उस में मनुष्य अपने निर्णय एवं कर्म से बार-बार ईश्वर के निर्णय एवं अभिप्राय का विरोध करते हैं और उसको विफल करने का प्रयास करते हैं। मनुष्य समाज की बिगड़ी हुई स्थिति को सुधारने के प्रयास में, अन्त में ईश्वर की ओर से येशु पूर्ण एवं सच्चा महामानव, समाज कल्याण के लिए मानव की मुक्ति के लिए इस पृथ्वी पर आये। उनका अनुकरण करके मनुष्य आदर्श-मनुष्य बन सकता है।

मनुष्य के पाप के कारण समाज की हानि हुई। मनुष्य भ्रष्टता का भागी बना। लेकिन बैबिल के अनुसार मनुष्य अन्त में उद्धार पाएगा और नया मानव समाज बनेगा। एक नया आकाश और नयी पृथ्वी बनेगी और ईश्वर का प्रेमपूर्ण राज्य पूर्णतः स्थापित होगा।

कुलपति याकोब के बारह पुत्रों से इस्राएलियों के या यहूदियों के बारह कुलों या गोत्रों का उद्‌भव है। प्रारंभ में रोमी और ग्रीक लोगों में भी छः या बारह कुल थे। ये "कबीला" नाम से जाने जाते थे।

इन कबीलों या गोत्रों के लोगों का ईश्वर से मूशा के नेतृत्व में एक वाचा (covenent) बँधा हुआ था । इसे टेन-कमान्टमेन्टस कहा जाता था । उस वाचा का किसी उपयुक्त अनुष्ठान के द्वारा किसी केन्द्रीय उपासना स्थल पर नवीकरण होता था । वाचा या टेन कमान्टमेन्टस में कर्तव्यों की एक संहिता होती थी, और उन में उपासना-स्थल की देखभाल भी एक दायित्व होता था । वाचा के अनुसार यह भी विधान था कि दोनों पक्ष संकट काल में एक दूसरे की रक्षा में सहायक हो ।

कबीलों या गोत्रों पर पंचायत का शासन था । इस प्रकार के गोत्र या कबीलों के पंचायती शासन को ग्रीक भाषा में "एमफिक्टोनिया" (Amphietyonia) कहते थे । पहले मिस्र में उनकी स्थिति अच्छी थी । लेकिन फेराओ कुल के राजा उनको पीडित करने लगे । इसके पहले याकोब के एक पुत्र पूर्व जोसफ मिस्र के गवर्नर थे । फेराओ राजा की गुलामी और दण्ड से पीडित और भयभीत होकर यहूदी जाति या इस्राएली मूशा के नेतृत्व में मिस्र से कनान देश की ओर निकली । उनका निष्क्रमण बहुत लम्बे काल तक याने लगभग चालीस वर्ष तक चलता रहा । मार्ग में अनेक कष्ट झेलने पडे, कठिन जीवन बिताना पडा । लेकिन इस काल में उन में जातीय चेतना का और समाज का विकास हुआ । उन्हें अपने नियमों को निश्चित करने का मौका मिला । ईश्वर से उनको बहुत कृपा मिली । ईश्वर उनके साथ थे । सब से पहले कनान में प्रवेश करनेवाला समाज कबीला गोत्र या संघ (Amphictyony) था । बारह गोत्रों में यहूदा कुल अन्त में दावीद राजा के नेतृत्व में प्रमुख समाज बन गया ।

प्राचीन समाज की व्यवस्था में कोई सुसंगठित नियम नहीं था।

---

1. Introduction to the Old Testament, Dr.Stanly Anoburn p.45
2. Introduction to the Old Testament, Dr.Stanly Anoburn. p.64

प्राचीन धर्मानुष्ठानों का उद्देश्य था समाज कल्याण । कालान्तर में मानव समाज की पीढ़ियों में बुराई बढ़ती गयी और यहाँ तक बढ़ी कि उनका नाश समीप ही था । परन्तु ईश्वर ने अपने अनुग्रह और भलाई के कारण मनुष्य को अपनाने का नया उपाय निकाला ।

बैबिल में यहूदी या इस्राएली समाज की जीवन-गाथा द्वारा मनुष्य जीवन के संघर्ष पर भी प्रकाश डाला गया है । पुराना नियम का निर्गमन ग्रंथ, हमारे लिए आदर्श बन सकता है । इस्राएलियों का निर्गमन वस्तुतः एक सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक आन्दोलन था । यह इस बात का प्रमाण है कि ईश्वर शोषितों-पीडितों को स्थान देता है । बैबिल में ऐसे कई उदाहरण है जहाँ ईश्वर की कृपा से युवा योद्धाओं को चुनकर जनता का नेतृत्व करने के लिए उन्हें नियुक्त किया जाता है । इन में सर्वप्रथम मूशा (Moses) है । मिस्र के राजाओं का अत्याचार देखकर मूशा का खून खौल उठा । उन्होंने अपनी जनता को गुलामी से मुक्त करने की ठान ली । हारून भी मूशा के साथ था । अपनी जनता का नेतृत्व करनेवाली स्त्रियों में एस्तेर, यूदित मुख्य हैं । अन्य युवा नेताओं में जोशुआ, दब्बोरा, बाराक, सामसन इत्यादि भी आते हैं जिन्होंने अन्याय एवं गुलामी के विरुद्ध संघर्ष किया । इसया, जरमिया, एसकियेल, दानियेल, जोएल, आमोस, योना, ज़कर्या, मलाकी, स्नापक योहन आदि नबियों ने स्थान-स्थान पर बीच-बीच में अपने कर्तव्यों से विमुख होनेवाले लोगों को चेतावनी दी । दावीद तथा मक्काबी भाइयों ने भी अपने समाज के आदर्श तथा धर्म-भावना की रक्षा की । राष्ट्रीयता और सच्ची धर्म-भावना की रक्षा में संघर्षरत युवक-युवतियों पर ईश्वरीय कृपा का वरद हस्त बना रहा ।

---

1. People of the covenent - An Introduction to the Old Testament. P 17

इस्राएली या यहूदी समाज का सब से बडा दायित्व यह है कि वह उस वाचा या 'टेन कमान्टमेन्टस' के प्रति निष्ठावान रहे, जिस से वह ईश्वर के साथ बंधी हुई है । उसका पाप यह है कि इस बन्धन में जो उसका कर्तव्य है, उसको उसने निभाया है या उसकी उपेक्षा की है । वाचा के साथ नैतिक दायित्व भी हैं, क्योंकि ईश्वर यह चाहता है कि मनुष्य हृदय से नैतिक आचरण करें । ईश्वर हृदय को देखते हैं - वह हृदय और मन का परीक्षण करता हैं । ईश्वर के साथ ठीक संबंध का अर्थ है हृदय परिवर्तन । सब से अधिक हृदय ही धोखा देनेवाला है । इसलिए मनुष्य मा मार्ग उसके वश में नहीं है । परन्तु ईश्वर के हाथ में है, जो विशुद्ध हृदय और विशुद्ध मार्ग का दाता है । ईश्वर के साथ घनिष्ठ और व्यक्तिगत संबंध धर्म है - इस मान्यता के अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति अपने पापों के लिए उत्तरदायी है । साथ ही यदि सच्चा धर्म हृदय में स्थित है तो उसकी व्याप्ति और उसकी प्रियता समस्त समाज तक होनी चाहिए । इसलिए समस्त समाज का, उन लोगों की सहभागिता में स्वागत होगा जो हृदय से ईश्वर की भक्ति और सेवा करते हैं । ईश्वर पवित्र और धर्मी है, अतः वह समाज से पवित्र और धार्मिक जीवन की अपेक्षा करता है । वह आज्ञापालन, धार्मिकता और विनम्रता की अपेक्षा करता है ।

पुराना नियम का ध्यान से अध्ययन करने पर यह बात साफ नज़र आती है कि इस्राएल जाति की प्रारंभिक चेतना के क्षितिज पर ईश्वर हित का आज्ञाकारी बनना, व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन का सब से महत्त्वपूर्ण लक्षण था । मनुष्य का व्यवहार किसी साधारण रीति-रिवाज़ के अनुसार नहीं था, वरन् मनुष्य के लिए वह कार्य करना अनिवार्य था जिसका आदेश उसे चुने हुए महात्माओं के द्वारा ईश्वर ने दिया था । इस्राएलियों का दृढ विश्वास था कि उनके जीवन का लक्ष्य अपना सुख एवं उपलब्धियाँ ही नहीं है, वरन्

---

1. Introduction to the Old Testament, Dr.C.Stanly. P.7

समाज का कल्याण और ईश्वर हित को पूरा करना है । इस प्रकार वे सामाजिक आदर्श और मानव-आदर्श का पालन करते थे ।

प्राचीन यहूदी समाज में अनेक समूहों के चित्रण मिलते हैं । इन समूहों का साध्य तो एक था कि विश्वास या धर्म की रक्षा की जाए, परन्तु उस साध्य को प्राप्त करने के साधनों के विषय में भिन्न विचार थे । इनमें अधिक भक्त समाज थे । मकाबी की पहली पुस्तक में इनको "असीदेबी {Asidaens } कहा गया है । यह शब्द हीब्रू शब्द "हसीदीम" का ग्रीक रूप है, और इसका अर्थ भक्त लोग, भक्त समाज या विश्वासी लोग हैं । पुराना नियम में दानियेल की पुस्तक में इन भक्त यहूदियों की आशाओं और विश्वासों की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है ।

ईश्वर, मनुष्य समाज से धर्माचरण और न्याय की माँग करता है । आमोस और होशे के समान एशया नबी ने अपने युग के दुराचरण की निन्दा की । उसने कहा, भलाई करना सीखो, यत्न से न्याय करो, उपद्रवी को सुधारो, अनाथ का न्याय चुकाओ, विधवा का मुकद्दमा लड़ो । उसने पश्चात्ताप और ईश्वर की ओर मन परिवर्तित करने का आह्वान किया । नबी ईश्वर का दास है, जो समाजोत्थान के लिए ईश्वर के द्वारा चुना हुआ दूत या प्रतिनिधि माना गया है । इस दास को एक सार्वलौकिक कार्य सौंपा गया है कि वह समस्त समाज के लिए प्रकाश हो । नैराश्य, विफलता, दुःख और उसकी मृत्यु उसके समाज के पापों के लिए प्रायश्चित्त होगा । नबियों की मुख्य शिक्षा यह है कि सामाजिक जीवन में ईश्वर को उचित स्थान दिया जाना चाहिए । सभी नबियों ने समाज में विश्वास की रक्षा की । उनका विश्वास था कि लोगों को शुद्ध करने तथा व्यक्ति-व्यक्ति के बीच, समाज-समाज के बीच ठीक संबंध स्थापित करने के लिए ईश्वर मनुष्य रूप में आयेगा ।

पालस्तीन में यहूदी लोग तीसरी सदी ई.पू. में मिस्र के प्तोलेमी राजाओं के अधीन थे। येशु के जीवन काल में पालस्तीन रोमन साम्राज्य के अधीन था।[1] यहूदी समाज अपने विश्वास के प्रति निष्ठावान था। परन्तु शीघ्र ही परीक्षा होनेवाली थी। विदेशी धार्मिक विचारों से समझौता करने की परीक्षा का मुकाबला करने के लिए उन्हें अपनी सारी शक्ति लगाने की आवश्यकता थी।

ईश्वर ने येशु में देह धारण कर मानव समाज को एक नया मोड़, एक नया मार्ग, एक नया जीवन-आदर्श और पूर्ण उद्धार का एक नया उपाय दिया और येशु ने ईश्वर के राज्य का प्रचार कर नया सामाजिक आदर्श भी प्रस्तुत किया। येशु उस नये युग, नई जीवन प्रणाली का साकार रूप और आरंभ था। उसने समाज को आह्वान दिया, हे, सब प्रकार से थके और बोझ से दबे लोगों, मेरे पास आओ, मैं तुम्हें विश्राम दूँगा।[2] ईश्वर ने समाज से ऐसा प्रेम रखा कि उसने अपना इकलौता पुत्र दे दिया। इसलिए समाज में भी मानव को एक दूसरे से प्रेम करना चाहिए।

प्रेम ईश्वर के राज्य का नागरिक होने का प्रमाण पत्र है। इस सिद्धान्त पर येशु बल देते हैं। विवाह भोज के रूप में स्वर्गराज्य का दृष्टान्त देते हुए येशु मण्डप में आने के लिए स्वजातीय-विजातीय, भले-बुरे, सब लोगों को निमंत्रण देते हैं।[3] अतः रामराज्य की भाँति स्वर्ग राज्य में भी ऊँच-नीच का

---

1. 2000 years ago Palestine was ruled by the Romans, Religious studies in depth, Jesus an Enquiry,David Naylor Ann Smith, Macmillion Education, London, 1985.

2. बैबिल मात्यु 11:28

3. बैबिल लूक 22:1-7.

कोई प्रभेद नहीं किया जाता है । अतिथियों के लिए सिर्फ एक बात की आवश्यकता है, और वह है प्रेम भाव । अतः मेहमानों में एक को पाकर जो विवाहोत्सव के वस्त्र नहीं पहने था अर्थात् जिसके दिल में प्रेम नहीं था, स्वामी उसका बहिष्कार करता है ।[1] अर्थात् समाज का निर्माण प्रेम के आधार पर ही किया जा सकता है । येशु अत्यन्त सरल भाषा तथा प्रायः दैनिक जीवन के दृष्टान्तों का सहारा लेकर अधिकारपूर्ण मौलिक, सामाजिक, धार्मिक शिक्षा दे रहे थें ।

समाज में जाति भेद और अनाचारों के कारण व्यक्ति के दमन की ओर येशु की दृष्टि गयी । उन्होंने पाया कि यह दमन वस्तुतः जाति भेद की कठोरता का ही परिणाम है । समाज की सुरक्षा के लिए जिन सामाजिक नियमों तथा विधि-निषेधों की योजना की जाती है वह कालान्तर में जाति भेद और परिस्थिति भेद के कारण रूढि का रूप धारण कर लेते हैं । इन जाति भेद और रूढियों की जकड में आने के कारण व्यक्ति और समाज का विकास अवरुद्ध हो जाता है, तब इनके विरुद्ध येशु को आवाज़ उठानी पडी । सामाजिक नियम एवं संस्थाएँ मानव के कल्याण के लिए बनायी गयी हैं, मानव उनके लिए नहीं बनाया गया - Sabhath is intended for man and not man for Sabhath.[2] येशु ने सामाजिक संस्थाओं एवं रूढियों के अत्याचार की चक्की में पिसनेवाले मानव को मुक्त करने के लिए सुधार की आवाज़ उठायी । जाति भेद से पीडित होनेवाले सभी लोगों को उन्होंने सान्त्वनादी और उनके साथ भाईचारे का व्यवहार किया ।

स्वर्गराज्य पर यहूदियों का एकाधिकार नहीं है, मानव मात्र इसका सदस्य बन सकता है । यहूदी अपने को ईश्वर की चुनी हुई प्रजा समझते थे

---

1. बैबिल लूक 22: 1-14.
2. बैबिल मर 2:27.

तथा बैबिल में जो येशु और स्वर्ग के राज्य की प्रतिज्ञा है उसका एक भौतिक एवं राष्ट्रीय अर्थ लगाते थे । ईसा ने यहूदी समाज को समझाया कि मसीह यहूदी जाति का नेता बनकर उसे रोमियों की गुलामी से मुक्त करने नहीं, प्रस्तुत सब मनुष्यों को पाप से मुक्त करने के लिए स्वर्ग से आए हैं । वास्तव में स्वर्ग का राज्य ईसा पर विश्वास करनेवालों का समुदाय है, जो पृथ्वी पर आरंभ होता है, उनके सन्देश का प्रचार कर समाज का उत्थान करता है ।

ईसा यहूदियों का धर्मग्रंथ (पुराना नियम) प्रामाणिक तो मानते थे किन्तु वह शास्त्रियों की भाँति उनकी निरी व्याख्या नहीं करते थे, प्रत्येक उसके नियमों में परिष्कार करने का साहस भी करते थे । पर्वत प्रवचन में उन्होंने कहा - मैं मुशा का नियम तथा नबियों की शिक्षा रद्द करने नहीं, बल्कि पूरा करने आया हूँ । वह शास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित जटिल कर्मकाण्ड का विरोध करते थे और नैतिकता को ही धर्म का आधार मानकर उसी को अपेक्षाकृत अधिक महत्व देते थे । ईसा के अनुसार धर्म का सार दो बातों में है, एक तो ईश्वर को अपना दयालु पिता समझकर समूचे हृदय से प्यार करना, तथा उसी पर भरोसा रखना, दूसरे, अन्य सभी मनुष्यों को भाई-बहन मानकर किसी से भी बैर न रखना, अपने विरुद्ध किये हुए अपराध क्षमा करना तथा सच्चे हृदय से सब का कल्याण चाहना । जो यह भ्रातृप्रेम निबाहने में असमर्थ हो, वह ईश्वर भक्त होने का दावा न करें, ईश्वर भक्ति की कसौटी भ्रातृप्रेम ही है ।

बैबिल में येशु पारिवारिक संबंधों को सुदृढ बनाने का आह्वान देते हैं । येशु ने अपने जीवन का अधिकांश भाग अपने परिवार में अपने पडोसियों तथा स्वजनों के बीच बिताया । अतः ईसा का विकास अपने माता-पिता के साधारण जीवन क्रम के साथ हो रहा था । यह उनके मानवीय होने का सुन्दर उदाहरण है । येशु माता-पिता के साथ नज़रत गये और उनके अधीन रहे ।

येशु की बुद्धि और शरीर का विकास हुआ । वे ईश्वर तथा मनुष्यों के अनुग्रह में बढ़ते गये । मनुष्य, मनुष्य पर निर्भर रहता है । शिशु को पूर्ण रूप से विकसित होकर "मानव" बनने के लिए वर्षों तक माता-पिता के स्नेह तथा सहायता की आवश्यकता है । यहूदी परिवार के दायित्वों का निर्वाह करते हुए येशु की माता मेरी पति और पुत्र के कार्यों में व्यस्त रहती थी । येशु अपनी शक्ति के अनुसार माता-पिता को सहायता करते थें । बडे होने पर उन्होंने अपने पिता का हाथ बँटाना शुरू किया ।[1]

बैबिल के अनुसार विवाह ईश्वर और समाज के सामने एक प्रतिज्ञा, एक वाचा (covenent) है कि पति-पत्नी दोनों जब तक जियेंगे तब तक पति-पत्नी के रूप में जियेंगे । इसलिए विवाह यदि समझौता है तो संस्कार भी है । विवाह दो व्यक्तियों की एकता है जिस में दोनों एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं । आदर्श विवाह का आधार प्रेम है जो अपना नहीं, दूसरे का ध्यान रखता है, जो सेवा करने में गौरव मानता है, जो दूसरे को समझता है और इसलिए दूसरे को सदा क्षमा करता है । विवाह में दो व्यक्तियों के बीच अटूट संबंध होता है । विवाह दो व्यक्तियों की पूर्ण एकता है, जिस में केवल एक कर्म के लिए नहीं वरन् जीवन के समस्त कार्यों को सन्तोषप्रद एवं सहभागितापूर्वक चलाने के लिए दो व्यक्ति साथ होते हैं । येशु के अनुसार साधारण मनुष्य के लिए संयम का मार्ग अपनाना संभव नहीं है । लोगों को विवाह करना चाहिए । जिन्होंने स्वर्ग राज्य के निमित्त अपने को नपुंसक बनाया है अर्थात् जो ईश्वर के राज्य की सेवा के लिए अविवाहित हो रहते हैं, ये येशु के लिए स्वीकृत हैं । जिन्होंने ईश्वर के काम के लिए स्वेच्छा से कुंवारेपन, ब्रह्मचर्य, शुद्धता, दरिद्रता, अपरिग्रह, संयम का व्रत ले लिया है, उनके लिए ईश्वर का अनुग्रह अनिवार्य हैं ।

---

1. बैबिल लूक 2: 51-52.

2. The Daily study Bible, Dr.William Barclay. St. Mathew 90-92

येशु स्त्रियों का आदर करते थे । उनके उपदेश और दृष्टान्त के कारण स्त्रियों की दशा में बहुत भिन्नता पाई जाती थी । कहीं कहीं स्त्रियों की दशा सुधर गई थी । कई स्त्रियों का समाज में ऊँचा स्थान था ।

येशु की शिक्षा में दो भाग मिलते हैं । एक धार्मिक और दूसरा नैतिक । धार्मिक क्षेत्र में ईश्वर के अद्भुत प्रेम को प्रकट किया और ईश्वर के राज्य की घोषणा की गयी । नैतिक क्षेत्र में धार्मिक शिक्षा के अनुरूप पुरानी व्यवस्था को नया रूप दिया गया और व्यवहार संबंधी नवीन शिक्षाएँ दी गयीं । इन दोनों को अलग करना बहुत कठिन है । बैबिल में नैतिकता का मूल ईश्वर है । इस से स्पष्ट होता है कि दूसरों के दुःख, उनकी मुसीबतों और उनकी आवश्यकताओं के बारे में सोचना मसीही नैतिकता का केन्द्र बिन्दु है ।

बैबिल के अनुसार येशु का ईश्वरत्व सब से महत्वपूर्ण है । ईसाई समाज का विश्वास है कि ईश्वर मनुष्य जाति के पापों का प्रायश्चित्त करने तथा मनुष्यों को मुक्ति के उपाय दिखाने के उद्देश्य से येशु के रूप में अवतरित हुआ । फलस्वरूप बैबिल में वर्णित ईसाई समाज की भक्ति, पूजन पद्धति, आराधना, साधना आदि सब के सब ईसा पर केन्द्रित हैं । येशु ईसाई धर्म के प्रवर्तक मात्र नहीं वरन् उनके प्राण भी हैं । बैबिल दर्शन के अनुसार उनके अवतार की विशेषता यह है कि ईसा के ईश्वरत्व तथा मनुष्यत्व दोनों की वास्तविकता पर बल दिया जाता है । एक ओर येशु, ईश्वर के नाते आराधना तथा पूर्ण आत्मसमर्पण के अधिकारी बन जाते हैं, दूसरी ओर वास्तविक मनुष्य होने के नाते वे भक्तों के अत्यधिक निकट होकर कोमल भक्ति के पात्र भी हैं । तीस वर्ष तक साधारण किन्तु निष्पाप मानव जीवन बिताकर उन्होंने जो सद्गुणों का जीता जागता उदाहरण उपस्थित किया है, वह अन्तकरण को प्रेरित किये बिना नहीं

1.The Mission and Ministry of Jesus, Georgen, Donald. P:11

रह सकता । क्रूस पर उनके दारुण दुःख भोग का ध्यान भक्तों के हृदय पर गहरा प्रभाव डालकर उन्हें जीवन की कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने में समर्थ बना देता है । बैबिल के अनुसार मनुष्य की सृष्टि इसलिए हुई कि वह कुछ समय तक संसार में रहने के बाद स्वर्ग में ईश्वर के आनन्द का भागी बने । प्रथम मनुष्य के विद्रोह से संसार में पाप का प्रवेश होने के कारण मुक्ति का मार्ग बन्द हुआ । येशु ने मनुष्य जाति के पापों का प्रायश्चित किया तथा सब को ईश्वरीय कृपा का अधिकारी बनाया । जिसके द्वारा मनुष्य अपने पापों के लिए पश्चात्ताप करने से इनकार करेगा, वह नरक में जायेगा । बैबिल के अनुसार मनुष्य की अमर आत्मा एक ही बार मानव शरीर धारण कर संसार में जीवन व्यतीत करती है । उनका कहना है कि कयामत के दिन सब मनुष्य सशरीर जी उठेंगे तथा ईसा उनका न्याय करने के लिए स्वर्ग से आयेंगे । धर्मी ईश्वर के साथ स्वर्ग में प्रवेश करेगा और अधर्मी नरक में कठिन शिक्षा का भागी बनेगा ।

प्रसिद्ध बैबिल दार्शनिक संत अगस्टिन के अनुसार आदम से लेकर येशु तक ऐसे लोगों का समाज है जो ईश्वर के प्रेम से बन्धे हैं । उस में ईश्वर से प्रेम करनेवालों को ही स्थान है । येशु ने प्रेम और पूर्णता के सिद्धांतों में सब नियमों को पूरा किया ।[1] वहाँ नियम ईश्वर की इच्छा है । जब नियम ईश्वर की इच्छा है तो फिर सारी नियम व्यवस्था में ईश्वरीय प्रेम की झलक दिखाई देनी चाहिए । नियम नियम के लिए नहीं वरन् उनकी पूर्ति के लिए हो कि व्यक्ति ईश्वर से प्रेम करता है । उनकी राय में सबत के दिन शुभ कार्य करना उचित है येशु की वाणियाँ व्यावहारिक नीति को सरल बनाती हैं । संत पौल का कहना है कि बुराई के बदले में किसी से बुराई न करो- यदि तेरा बैरी भूखा हो तो उसे खाना खिलाओ, यदि प्यासा है तो उसे पानी पिलाओ बुराई से न हारो, परन्तु भलाई से बुराई को जीत लो ।[2]

---

1. बैबिल मात्यु 5:48.

2. बैबिल रोमि 12:17-21, 1 कोरि 6:7

जीवन के हर कार्य के लिए बैबिल में निर्देश मिलता है । ईसा हर मोड पर इस प्रकार "गाइड" और गुरू की सही भूमिका में दिखाई देते हैं । इस से पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक शिक्षा मिलती हैं । बैबिल ईश्वर विद्या-आत्मविद्या का भण्डार है ।

मानस और बैबिल का मूल उद्देश्य पूरे समाज और उसके साथ प्रत्येक व्यक्ति और परिवार को सुखी, शान्त और सम्पन्न बनाना है । दोनों ग्रंथ व्यक्ति, परिवार और समाज को परम आनन्द की स्थिति में पहुँचाने का संदेश देते हैं । मानसकालीन समाज में और बैबिल कालीन समाज में, समाज अपना स्वास्थ्य खो चुका था । तुलसी और येशु ने लोगों के मन और बुद्धि को सचेत करते हुए, परस्पर आत्मीयता को वृद्धि करनेवाले, समकेन्द्रित, श्रेयस की पहचान कराई । जीवन सुखकर करने के हेतु तुलसी और येशु ने शोषितों और पीडितों को भौतिक समाधान के लिए भक्तिमार्ग और प्रेम मार्ग उपलब्ध करा दिया । दोनों ने भक्ति और प्रेम से क्षेत्र में यह प्रतिपादित किया कि ईश्वर, सबके लिए समान रूप से प्राप्य और संवेद्य है ।

निष्कर्ष :-

प्रत्येक समाज का अपना विधान है और प्रत्येक व्यक्ति इस विधान को मानने के लिए मज़बूर है । मानस और बैबिल में जो सामाजिक आदर्श हैं वह व्यक्ति को पारस्परिक व्यवहार की उचित शिक्षा देते हैं और ऐसे कर्तव्यों के पालन का आदेश देते हैं । दोनों ग्रंथों में प्रेम और त्याग की भावना ही सामाजिक जीवन का स्रोत है । सामाजिक नीति के पीछे प्रेम है । प्रेम व्यक्ति विशेष और समस्त व्यक्तियों के सामान्य हितों, आवश्यकताओं की पूर्ति पर बल देता है । प्रेम यद्यपि सामाजिक नीति प्रदान करता है

ारन्तु वह सामाजिक न्याय से कहीं आगे चलकर विशेष व्यक्ति की आवश्यकताओं ार भी ध्यान देता है । मानस पारिवारिक जीवन आदर्श व्यक्तियों के द्वारा सिद्ध किया गया है । बैबिल में सिद्धांतों पर भी बल दिया गया है । संयुक्त ारिवार का महत्व मानस में मिलता है । लेकिन बैबिल में संयुक्त परिवार की ओर संकेत होने पर भी मानस की अपेक्षा उसका महत्व कम ही है । मानस में क ही समाज का वर्णन अधिक रूप में मिलता है । लेकिन बैबिल में कई समाजों ा वर्णन है । मानस के पीछे एक ही समाज अर्थात् भारतीय समाज और संस्कृति ा चित्रण है । लेकिन बैबिल के पूर्व हम कई समाजों और संस्कृतियों का परिचय ाते हैं । जिनका प्रभाव बैबिल में चित्रित समाज पर देखा जा सकता है । सके अलावा बैबिल में मानव जाति के उद्भव से लेकर प्रगति तक का वर्णन मिलता । इसमें कई संस्कृतियाँ हैं, कई समाजों का प्रभाव है । मानसकालीन समाज ध्यकाल का समाज है लेकिन बैबिल में एक हज़ार छः सौ वर्षों के समाजों का र्णन मिलता है । इतना सब अन्तर होने पर भी इन सभी समाजों के मूल में ुछ ऐसे तत्व मिलते हैं जो सब कहीं समान रूप से देखे जा सकते हैं । मानस और ाबिल में ऐसे ही कई सामाजिक तत्व देखे जा सकते हैं ।

दूसरा अध्याय

रामचरितमानस एवं बैबिल - एक परिचय

रामचरितमानस रचना एवं महत्व :-

रामचरितमानस एक धर्मशास्त्र है, नीतिशास्त्र है, पुराण है, समाजशास्त्र है और सर्वोपरि प्रतिभा एवं सर्वोत्कृष्ट संस्कृति का द्योतक आदि सभी प्रमुख तत्वों से युक्त एक अद्भुत काव्य-ग्रंथ है । मानस अमृतमय उत्तम संग्रह है । वह ऐसा महाग्रंथ है जिस में काव्य और शास्त्र दोनों के ही गुण विद्यमान हैं । इस में महाकाव्य की समस्त विशेषताएँ तो सन्निविष्ट हैं ही, शास्त्र की भी समस्त विधायें प्रतिपादित हैं । भक्ति रस के इस महाकाव्य में विचार तत्वानुरूपिणी भावाभिव्यंजनायें विविध दृष्टिकोण से, यथा पारिवारिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक एवं राष्ट्रीय, वर्णित हैं । मानस साधारण जन समाज को मनोरंजन देनेवाला, विद्वानों को विश्राम[1] देनेवाला मर्यादा के नये मानदण्डों की स्थापना के लिए जनमानस में परिवर्तन देनेवाला आशावादी काव्य है । वह किसी भी भाषा में लिखे गये भक्ति काव्य से श्रेष्ठतर है । एक तो ज्ञान और कर्म से मर्यादित भक्ति का ऐसा प्रखर प्रवाह अन्य कहीं देखने को नहीं मिलता । दूसरे साधारण जनता में उसका-सा समादर किसी दूसरे भक्तिकाव्य का सुनने में नहीं आता । महासंत- महात्मा, महामनस्वी-महाकवि तुलसी का महाकाव्य मानस में न जाने कितने महासागर समाहित हैं और वे महासागर भी ऐसे कि जिन में ज्यों ज्यों डूबिये त्यों त्यों परमानन्दानुभवपूर्वक मन-चित्त निर्मल होता चला जाता है । उनकी महिमा और गरिमा बढ़ती ही रहती है ।

मानस में आदि से अन्त तक रामचरित का ही विशद वर्णन

---

1. बुध विश्राम सकल जन रंजनि । - बाल 30:3

किया गया है । श्री महादेवजी ने इसको हृदयांकित कर रखा था जिसे सुअवसर पाकर पार्वतीजी से कहा, उसी से प्रसन्न होकर इसका नाम रामचरितमानस रखा ।[1] तुलसी ने अपने विरक्त जीवन में नाना तीर्थों की जो यात्रा की थी उन में एक मानसरोवर या मानस के शीर्षक का एक कारण भी है । मानस का अतुलनीय समारोहपूर्ण आरंभ ग्रंथ की गौरव-गरिमा के शतशः अनुकूल है ।

मानस लोगों के सामने एक सफल सार्थक और आज के संदर्भ में भी बहुत कुछ प्रासंगिक काव्य रचना है । इसकी मूलभूत विशेषता है - लोकमंगल या लोकहित । मानस में श्रीराम सभी मानवीय संबंधों के बीच से होकर गुज़रे हैं । वे पुत्र हैं, भाई हैं, पति हैं, सेवक हैं, स्वामी हैं, उनके पुरजन-परिजन हैं, संगी-साथी हैं, शत्रु-मित्र हैं । मानव जीवन के वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, व्यावहारिक आदि जितने भी संबंध हो सकते हैं, उन सब के बीच श्रीराम की प्रतिष्ठा की गयी है । उनके साथ ही मानस के विभिन्न पात्र मानव-जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं । इसलिए मानस धर्मग्रंथ होते हुए भी धार्मिक मण्डलियों की सीमा तोडकर जन जन का कण्ठहार बन गया है । वह पग पग पर उनका मार्ग निर्देश करता है, आवश्यकतानुसार उन्हें रोकता चलता है । इसी कारण हिन्दुओं के लिए वह आज तक आचार-संहिता रहा है । इस में भक्ति का मंत्र है, एक महान् तपस्वी के त्याग का अत्यन्त स्वाभाविक रूप में वर्णन है, भारतीय दर्शन के प्रमुख पक्षों से युक्त अद्वैतदर्शन है, आध्यात्मिक चिन्तन है ।

मानस भारत के ज्ञानक्षितिज पर सदा उदित भास्कर है, जिसकी ज्ञानकिरणें विश्व भर में बिखरी हुई हैं । वेदों से ही उनका उद्गम है ।

---

1. रचि महेस निजमानस राखा । पाइ सुसमउ सिवा मन भाखा ।
   तातें रामचरितमानस बर । धरेउ नाम हियँ हरि हरषि हर ।
   मानस बाल: 34:6.

वहाँ से उनकी विचारगंगा प्रवाहित होती है । मानस राजमहल से लेकर झोंपडी तक प्रत्येक मनुष्य को प्रभावित करता रहा है । यह हिन्दुओं द्वारा आदर के साथ पढा और सुना जाता रहा है । जोर्ज ग्रियेर्सन ने कहा है कि "वह हिन्दू जनता के जीवन, भाषा अथवा चरित्र में प्रायः तीन चार सौ वर्ष से ओतप्रोत है और केवल अपने कवितागत सौन्दर्य के लिए ही आदर तथा प्रेम नहीं प्राप्त करता है, यह उन से पवित्र धर्मग्रंथ की तरह सम्मानित होता है । जिस धर्म का उसने प्रचार किया है, वह सादा और उच्च है एवं ईश्वर के पूर्ण विश्वास पर निर्भर है ।"[1]

रामचरितमानस का रचना काल सं. 1631 माना गया है ।[2] संस्कृति के उन्नायक एवं युगप्रवर्तक तुलसीदास का काव्य भारतीय समाज के लिए ऐसी संजीवनी है जो उसे अमरत्व प्रदान कर रहा है । उनके काव्य में भूत के आवरण में वर्तमान छिपा हुआ है । सामाजिक चेतना से सम्पन्न लेखक अपने समय का महत्वपूर्ण दस्तावेज़ बनते हैं और बार-बार लोग उन से नयी पहचान स्थापित करना चाहते हैं । शताब्दियों बाद भी सामाजिक चेतना से संपन्न कृति सही अर्थों में कालजयी कही जा सकती है । हर समय में उसे चुनौतियाँ मिलती हैं उसे नयी दृष्टि से देखा-परखा जाता है । तुलसी सच्चे अर्थों में जनकवि-महाकवि कहे जा सकते हैं क्योंकि उन्होंने अत्यन्त प्रचलित रामकथा के माध्यम से, परंपरागत विश्वास को मानते हुए, सामान्य जन जीवन का चित्रण तो किया है । लेकिन उसका मुहावरा भी जनता के समीप है । उन्होंने देवभाषा को छोडकर अपनी ही बोली अवधी में सामान्य जीवन के लिए मानस की रचना की । उनकी सभी रचनाओं में भविष्य के संकेत दृष्टिगोचर होते हैं । तुलसी की रचनाओं में रामलला नहछू, रामाज्ञा प्रश्न, जानकी मंगल, रामचरितमानस,

---

1. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, पृ. 472.
2. संवत सोरह सौ एकतीसा । करउँ कथा हरि पद धरि सीसा ।
   नौमी भौम वार मधुमासा । अवधपुरी यह चरित प्रकासा ।।
   मानस बाल: 33:2-3.

पार्वती मंगल, गीतावली, श्रीकृष्णगीतावली, विनयपत्रिका, बरवैरामायण, दोहावली, कवितावली, वैराग्य संदीपनी, आदि प्रमुख हैं । मानस उनकी समस्त कृतियों में विशिष्ट है । तुलसी के शास्त्र ज्ञान और पांडित्य को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें लम्बे समय तक वेद, पुराण, साहित्य, भाषा, छन्द आदि की शिक्षा मिली थी ।

तुलसीदास ने वैराग्य स्वीकार करने के बाद भारत के प्रसिद्ध तीर्थ-स्थानों की यात्रा की । इन यात्राओं में ही उन्होंने देश की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक दुर्दशा को देखा । इस समय सम्राट अक्बर की अवस्था 16-18 वर्ष की थी । देश में राजनीतिक दृष्टि से पर्याप्त अस्थिरता थी । देश का धर्मप्राण सामाजिक ढाँचा हिल चुका था । इन सारी स्थितियों को तुलसी ने जी भरकर और खुली आँखों से देखा ।[1] वे एकदम घबरा उठे । परिणामस्वरूप राम की भक्ति में लीन हो गए और फलस्वरूप रामचरितमानस की रचना हुई । उन्होंने अयोध्या में मानस का आरंभ किया जिसका अधिकांश भाग काशी में पूरा हुआ ।

तुलसी हिन्दी साहित्य के ही नहीं, बल्कि विश्व साहित्य के अद्वितीय, प्रतिभा संपन्न भक्त कवि हैं । वे युग निर्माता और लोकनायक भी हैं । साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, तथा धार्मिक दृष्टि से उनका स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं अमूल्य है । सर जोर्ज ग्रियेर्सन ने उन्हें भारत के सर्वश्रेष्ठ सुधारकों एवं महाकवियों में एक बतलाया है ।[2] प्रसिद्ध इतिहासकार विनसन्ट स्मिथ ने तुलसी के संबंध में लिखा है तुलसी हिन्दी कविता कानन में सब से बडा वृक्ष है । उन्होंने उनको मुगलकालीन भारत का सर्वश्रेष्ठ महापुरूष इसी दृष्टि से

---

1. रामचरितमानस में योग के स्रोत , डा. शिवशंकर शर्मा, पृ. 29.
2. तुलसी के अध्ययन की नई दिशाएँ, डा. रामप्रसाद मिश्र, पृ. 37.

कहा है, अकबर का साम्राज्य समाप्त हो चुका है, किन्तु तुलसी का साम्राज्य विद्यमान है, वर्तमान है।[1] गोस्वामी ने प्राचीन को अर्वाचीन रूप दिया, अपने समय को अनुपम संस्कारों का सन्देश देकर उत्तेजित किया और भविष्य के लिए अपने काव्यों की रत्न राशि छोड गये। तुलसी समाज-व्यवस्था के तत्कालीन स्वरूप को बदले बिना उसे व्यापक सुधार और संशोधन द्वारा अधिक नैतिक और मानवीय बनाने के पक्षपाती थे। इसी आदर्श में उन्होंने भारतीय संस्कृति की समस्त उपलब्धियों का पुनराख्यान करते हुए तत्कालीन सामाजिक ढाँचे को अधिक मानवीय बनाने का प्रयास भी किया है। फलस्वरूप भारत की निजी पहचान उसकी अपनी अस्मिता की रक्षा में तुलसीदास का महत्वपूर्ण योगदान है। तुलसी ने मानव समाज के समस्त शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक व्यापारों का अनुभव किया था। उनके मुख से एक विशाल जन-समुदाय की सरस्वती बोली थी। तुलसी की रुचि भक्ति की ओर अधिक थी और उन्होंने अध्ययन और अनुभव से भी उस में अन्तरंगता बढा ली थी। सच्चे वीर तो विद्वान हैं, जो पाँचों चंचल इन्द्रियों को जीतते हैं। तुलसीदास को हम ऐसे वीरों में अग्रगण्य पाते हैं। बाह्य जगत में राम रावण पर विजय प्राप्त करते हैं तो तुलसी अपने अन्तर्जगत के शत्रुओं - काम, क्रोध, मद, लोभ आदि से जीवन भर युद्ध करते हुए कीर्ति पाते हैं। उनका जीवन एक काव्य है, क्योंकि काव्य को वे जीवन से जोडकर सजीव बनाते थे। तुलसीदास जीवन की संपूर्णता के कवि है।[2]

तुलसी अब भी जीवित हैं, मानस उनका प्रत्यक्ष रूप है, जो अमर है, अजर है, अमिट है और अचल है। रामचरितमानस उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है, उनकी कीर्ति का अमर स्तम्भ है। उस में विशाल, व्यापक, चिरन्तन चिन्तन है। वह सत्साहित्य है। सत्य, ज्ञान, दर्शन तथा बुद्धि का स्वच्छन्द

---

1. तुलसी के अध्ययन को नई दिशाएँ, डा. रामप्रसाद मिश्र, पृ. 38.
2. मानस चिन्तन,' संपादक जानकीवल्लभ शास्त्री, पृ. 149.

विकास एवं विशालता से ओतप्रोत है । यह रामचरितमानस गृहस्थों का अमूल्य धन है । यही इस युग में हिन्दुओं का वेद है । उत्तर भारत के हिन्दुओं को यह ग्रंथ उतना ही प्यारा है जितना ईसाईयों को बैबिल । ज्ञानी भी इसका आनन्द लेते हैं और अनपढ़-अशिक्षित भी इसे बड़े चाव से गाते सुनते हैं । हर एक प्रकार की सुरुचि रखनेवालों के लिए उस में यथेष्ट सामग्री है । इस में पथिक को रास्ते भर शान्ति की छाया है, सर्वत्र मधुर सोते प्रवाहित हैं, सद्विचारों की शीतल छाया वर्तमान है । मानस बार बार पढ़ने से जी नहीं ऊबता, जिसप्रकार हम, आकाश, तारा, चन्द्रमा, सागर, लहर आदि को लाखों वर्षों से देखते आ रहे हैं, पर जब उसे देखते हैं, तब वह नवीन लगता है उसी प्रकार मानस भी, क्योंकि उसमें हमारे नित्य-नैमित्तिक जीवन का प्रतिबिम्ब है ।

मानस की सीमाएँ उपदेश, मर्यादा, शील और संवेदना के तत्वों से निर्मित हैं । प्रेम और मनोरंजन के भाव इन सीमाओं को पहचानकर भी उमड़ते हैं । यहाँ योग की गंभीरता और भक्ति की सरसता का सुखद सामंजस्य प्रतिभासित होता है । मानस में कल्पना की कमनीयता, औचित्य पर आधारित है । रामचरितमानस में भरे भक्ति रस की थाह अमेय है । रामरूपी नायक परब्रह्म ईश्वर ही उसकी गंभीरता और गरिमा का प्रमाण है । मानस के विस्तृत विशाल परिवेश में भक्ति का व्यापक प्रवाह होते हुए भी सूक्ष्म तत्व-दर्शन के प्रमाण अनेक रूपों में - प्रसंगों में सुलभ हैं ।

मानस की कथा सात काण्डों में विभाजित है - बालकाण्ड, अयोध्या काण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, लंकाकाण्ड, उत्तरकाण्ड । उन में तीन काण्ड सर्वाधिक विख्यात और सर्वाधिक श्रेष्ठ हैं । बालकाण्ड कला की दृष्टि से, अयोध्याकाण्ड आदर्श की दृष्टि से और उत्तरकाण्ड दर्शन की दृष्टि से अतीव श्रेष्ठ है । बालकाण्ड ग्रंथ का आनन है, सुन्दर एवं मुखर । अयोध्याकाण्ड ग्रंथ का हृदय है, शक्ति केन्द्र एवं भाप-मापक ।

उत्तरकाण्ड ग्रंथ का मस्तिष्क है, चिन्तन एवं विवेचक । अरण्यकाण्ड में ब्रह्म जीव माया का निरूपण तथा सन्त लक्षण, अरण्य आवाज़ के अनुकूल ही है । किष्किन्धाकाण्ड का ऋतुवर्णन उपदेश-गर्भित है जो जीवन निर्माण की अनुपम औषधि भी प्रदान करता है । सुन्दरकाण्ड में राम ससैन्य लंका पहुँच जाते हैं । लंकाकाण्ड राक्षसों के वध में तत्पर राम की विशेषता का उद्घाटन करता है । लंकाकाण्ड का युद्ध वर्णन भी उत्कृष्ट ओजपूर्ण शैली में लिखा गया है और तुलसी की वर्णनपटुता का निदर्शक है । सात सोपानों में संपन्न रामचरितमानस में किसी-न-किसी रूप और रूपान्तर से जिन तत्वों का विवेचन और विश्लेषण किया गया है वे हैं - धर्म, वैराग्य, योग, ज्ञान और भक्ति ।

मानस को लिखकर तुलसी ने संस्कृत काव्यों की भाव संपदा, स्तोत्र साहित्य की विनय विभूति तथा नीतिपरक वाङ्मय की अमूल्य सामग्री एकत्रित कर दी ।[1] मानस में एक कवि नहीं अनेक कवि बोल रहे हैं । तुलसी ने अपने विस्तृत अध्ययन का वास्तव में सदुपयोग किया और इसलिए उनका मानस, मानस में उतरकर घर-घर पहुँच गया ।

मानस की महत्ता के बारे में कहा जाय तो यही कहना उचित है कि तुलसी का मानस अपने निर्माण काल से आज तक किसी संप्रदाय विशेष का धार्मिक ग्रंथ नहीं अपितु मानव मात्र के स्वाध्याय का विषय रहा है । व्यक्ति का व्यक्ति के प्रति, देश का देश के प्रति, स्वजनों का स्वजनों के प्रति, गुरूजनों और पूज्यों के प्रति क्या कर्तव्य होना चाहिए, इसके लिए मानस भारतीय विचारधारा का पथ-प्रदर्शक रहा है । इस में भक्तों को अनन्य अलौकिक भक्ति की पावन धारा[2] तथा आध्यात्मिक तत्वों का मधुर सागर, साहित्यज्ञों

---

1. नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
   रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।। - मानस बाल: 7.
2. प्रेम भक्ति जो बरनि न जाई । सोइ मधुरता सुसीतलताई ।
   सो जल सुकृत सालि हित होई । राम भक्त जन जीवन सोई ।।

को कवित्व रस और अलंकार का भण्डार,[1] समाज शास्त्रियों को समाज कल्याण के उपाय[2] और नीतिज्ञों को नीति[3] एवं सत्याचरण का चरम उत्कर्ष मिलेगा ।[4] वह ज्ञान का वह सरोवर है जिसकी धवल धाराएँ विभिन्न मार्गों से प्रवाहित होती हुई मानव मन के कल्मष को परिष्कृत कर उसे निर्मल स्वच्छ दर्पण की भाँति निखार देती हैं ।

मानस किसी भी भाषा में लिखे गए भक्तिकाव्य से श्रेष्ठतर है । उसकी महत्ता के कई कारण हैं । उसकी रचना लोक-कल्याण के लिए लोक-भाषा में हुई । भारतीय लोगों के पास कोई भी धर्म पुस्तक नहीं थी जो उसके धर्म भाव को पुष्ट करती और उसे आदर्श से अनुप्राणित करती । तुलसी ने भारत में पहली बार धार्मिक शिक्षा के लिए सामान्य भाषा को अपना माध्यम बनाया । उन्होंने एक ऐसी लोकप्रिय कथा को अपनाया जिसके पात्र अत्यन्त मानवीय थे, परन्तु उन्होंने कथा के साथ-साथ आचार-विचार एवं नैतिक, सामाजिक एवं वैयक्तिक आदर्शों को गुम्फित कर दिया और अनियम एवं उच्छृंखलता में डूबी हुई जनता के सामने आदर्श व्यवहार का उदाहरण उपस्थित किया । इसके अतिरिक्त उन्होंने हिन्दू-धर्म और दर्शन को अपने समय के अनुसार नया रूप दिया और उसमें नये अर्थ खोज निकाले । उन्होंने हिन्दू

---

1. छंद-सोरठा सुन्दर दोहा । सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा ।
   अरथ अनूप सुभाउ सुभासा । सोइ पराग मकरंद सुबासा । मानस बाल: 36:3
2. मुद मंगलमय संत समाजू । जो जग जंगम तीरथ राजू । मानस बाल: 4
   जड चेतन गुन दोषमय विश्वकीन्ह करतार ।
   संत हंस गुन गहहि पय परिहरि वारि विकार ।। मानस: बाल: दो:6
3. मुखिया मुख सो चाहिए खान पान कहूँ एक ।
   पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित विवेक ।। मानस अयो: 315.
4. सौरज धीरज तेहि रथ चाका । सत्य सील दृढ ध्वजा पताका -
   मानस लंका 69:3.

उपासना-पद्धति को विस्तार दिया उसे दार्शनिक रास्ता दिया । पुरुष, प्रकृति, जीवात्मा, जगत् और माया के संबंध में उनकी मान्यताओं का आधार वेदान्त दर्शन है, परन्तु उन्होंने अन्य दार्शनिक मतवादों से सामंजस्य बिठाने की चेष्टा की । इस प्रकार भारतीय चिन्तन क्षेत्र में उनकी सेवाएँ अमूल्य हैं ।

तुलसी ने मानस में यह प्रयत्न किया कि उनके विचार चाहे जितने ही गंभीर हों, उनकी भाषा-शैली स्पष्ट, प्रसाद गुण पूर्ण और चित्रमयी हो । कदाचित् भारतीय चिन्तन के समस्त इतिहास में ऐसा कोई भी विचारक नहीं है जिसने साधारण मनुष्य के सामने महान् समस्याओं को रखा और उनका निराकरण उपस्थित किया । मानस के प्रत्येक पृष्ठ पर दर्शन, धर्म और नीति के कितने ही जगमगाते हीरे बिखरे पड़े हैं ।

तुलसी ने विरोधी संप्रदायों में मैत्री-भाव स्थापित करने की चेष्टा की । भारत की जनता के लिए तुलसी का प्रसाद रामभक्ति ही है, जिसने सहस्रों अशान्त हृदयों को शान्ति और सन्तोष का वरदान दिया है । तुलसी की शिक्षा थी राम की शरणागत वत्सलता में आस्था । इस आस्था ने हिन्दू हृदय को पुष्ट रखा और हिन्दू आत्मा को जागृत बनाया ।

मानस साहित्य की दृष्टि से भी सब का कल्याण करना चाहता है और भक्ति की दृष्टि से भी सब का कल्याणकारी है । वास्तव में ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण भक्ति की प्रतिष्ठा मानस में हुई है ।

मानस में रामकथा जिस प्रकार कही गयी है उस से लोगों की नैतिकता ऊँची हुई है, मनोबल बढ़ा है और भौतिक विभव पर आध्यात्मिक ऐश्वर्य की विजय वैजयन्ती फहराती दिखाई पड़ती है ।

मानस का प्रचार-प्रसार :-

तुलसीदास युगद्रष्टा और युगस्रष्टा कवि हैं । वे क्रान्तिकारी और क्रान्तदर्शी हैं । उनका व्यक्तित्व महान् और प्रतिभा अप्रतिम है । अपनी नैसर्गिक प्रतिभा के पारस स्पर्श से वे मानस को स्वर्णिम बना देते हैं, जिसकी चमक-दमक चिरस्थायी रहती है और देश की संकुचित दीवारों को फाँदकर उसकी कीर्ति-धवलिमा विश्वव्यापी हो जाती है । तुलसीदास की विजय-वैजयन्ती है- रामचरितमानस । उसे जितना तोला और तराशा गया है, उतना ही वह अमूल्य और आभामय प्रतीत हुआ है । अवधी भाषा में लिखे गये रामचरितमानस का अनुवाद न केवल भारतीय भाषाओं में अपितु कई विदेशी भाषाओं में भी हुआ है । यह भारतीय काव्य-मर्मज्ञ विद्वानों और सद्विचारकों को स्फूर्ति एवं प्रेरणा देनेवाली कृति है, तो दूसरी ओर अशिक्षित या अर्द्ध-शिक्षित लोगों के द्वारा वेद-ग्रंथ के समान समादृत भी है । इसका कारण यह है कि मानस में साहित्य, भक्ति, धार्मिक, दार्शनिक तत्व एवं जीवनोपयोगी उपदेशों का समावेश हुआ है जो अन्यत्र दुर्लभ है । तुलसी ने वाल्मीकि रामायण से कथामात्र ग्रहण कर रखी थी और अपने ढंग से अवधी भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास किया । वे जिन घटनाओं से अधिक प्रभावित हुए, उनका वर्णन कुछ विस्तारपूर्वक तथा उन में मग्न होकर किया है । तुलसी तो राम के अनन्य उपासक तथा सेवक थे । उन्होंने समस्त जगत् को सीताराममय देखा ।[1]

भक्ति के आवेश में गोस्वामी ने काव्य के लक्षणों का निरादर नहीं किया । काव्य की प्रौढता का उन्होंने सदा ध्यान रखा और औचित्य तथा पात्रों के चरित्रों की परिस्थिति का अपने आदर्शानुकूल पोषण किया । मानस के श्रीराम काव्यनायक मात्र न रहकर सामान्य जनों के नित्य जीवन के सहचर हो

---

1. सियराममय सब जग जनी करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी । मानसः बालः 7:। चौ ।

गये । भक्ति के ग्रंथ भी कई लिखे गये हैं पर रामचरितमानस के अतिरिक्त और कोई ऐसा ग्रंथ नहीं है. जो चरम काव्योत्कर्ष पाकर साहित्य मर्मज्ञों की मुक्त-प्रशंसा का पात्र बना हो ।

भारतीय संस्कृति के प्रति अटल आस्था ने परंपरागत सांस्कृतिक मूल्यों को पहचानने की शक्ति तुलसी को दी, जो मानव को सार्थक बनाने में उपयोगी हो सकती हैं ।[1] तुलसी के व्यक्तित्व को रूपायित करनेवाली भक्ति, सामाजिक बोध और सांस्कृतिक चेतना उनके राम में प्रत्यारोपित हुई । अगर तुलसी राममय हो गये तो राम भी तुलसीमय हो गये । इसलिए मानस में पुनर्जनित राम एक विशाल जनता के लिए सांस्कृतिक पुनरुद्धारक हो गये और उनके जीवन को नया रूप दे सके । इस में हमारा आचार-विचार, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं पारिवारिक विधि, विधान, ज्ञान, कर्म एवं भक्ति के दार्शनिक, अनुष्ठानपरक एवं उपासनापरक सिद्धांत तथा अब तक की संचित आर्ष, पौराणिक तथा वैदुषी साहित्यिक श्री का अपरिमित भंडार ओतप्रोत है । तुलसी ने यौवन काल में भारतीय संस्कृति की रक्षा की और भविष्य के लिए पथ-प्रदर्शन किया ।

इंग्लैंड के सर जोर्ज ग्रियेर्सन महोदय रामचरितमानस को वही स्थान देते हैं जो बैबिल का है । ग्रियेर्सन ने मानस को नौ करोड मनुष्यों की बैबिल बताकर सर्वोत्तम काव्य के गौरव में प्रतिष्ठित किया ।[2] जोर्ज ग्रियेर्सन

---

1. राम कथा में जीवन मूल्य, डा. अनिलकुमार मिश्र, पृ. 111.
2. It has been described as the Bible of ninety millions of people, and is certainly more familiar to every Hindu of Northern India that our Bible is to the average English peasant. There is not a Hindu of Hindustan proper, whether prince or Cottar, who does know its most famous Verses and common talk is not coloured by it.
Grierson, Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol.12 P.471.

ने लिखा है - इसे नौ करोड व्यक्तियों की बैबिल कहा गया है और निश्चित रूप से उत्तरी भारत के प्रत्येक हिन्दू के बीच इसका प्रचलन औसत अंग्रेज़ किसान के बीच बैबिल के प्रचलन से अधिक है । संपूर्ण उत्तर भारत का एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं चाहे वह राजकुमार हो या पर्णकुटीवासी, जो उसकी प्रसिद्ध चौपाइयों को नहीं जानता है तथा जिसकी सामान्य बोलचाल भी इस से अलंकृत न होती हो । "यों बैबिल के समान एक जीवन्त धर्मग्रंथ होना भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है - कवित्व और उपनिषदों सा अध्यात्म बैबिल में भी है, किन्तु बैबिल या दूसरे धर्मग्रंथों में उनके लेखकों द्वारा काव्य का वह ठाठ नहीं बाँधा गया है, जो मानस के आरंभ में है । डा. केय ने अपने इतिहास में लिखा है "उत्तरी भारत के हिन्दू समाज के सभी वर्गों में, अपवाद स्वरूप कुछ संस्कृत पंडितों को छोडकर यह आज सर्वत्र, चाहे निर्धन हो या धनी, युवा हो या वृद्ध विद्वान हो या मूर्ख, प्रशंसित और आदृत है तथा कभी कभी इसे उत्तरी भारत के हिन्दुओं का बैबिल कहा गया है ।[1] तुलसी ने काव्य रचना की प्रक्रिया पर, पूरी तैयारी से और अतिरिक्त विस्तारपूर्वक लिखा है । मानस निरा धर्मग्रंथ नहीं है । उत्तरकाण्ड के अन्त में कहा गया है -

यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्री शम्भुना दुर्गमम् ।
भाषा-बद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम् ।।[2]

---

1. Almost all classes of the Hindu community in North India, witn the exception perhaps of a few Sanskrit pandits, it is today every where appreciated and venerated whether by rich or poor, old or young, learned or unlearned, and it has sometimes been called the Bible of the Hindu people of North India, A History of Hindu Literature, F.E.Keay, P.53.

2. मानस उत्तर 130, ख: ।

मानस विशेष रूप से उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब, राजस्थान तथा गुजरात के ग्राम-ग्राम एवं गृह-गृह की संपत्ति बना हुआ है । मानस में लोकधर्म और लोकनीति की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति मिलती है । लोकधर्म गहरी भावुकता-संवेदनशीलता के साथ काव्य में वर्णित है जिस में एक नूतन उन्मेष दिखाई देता है । मानस में राम परब्रह्म हो जाते हैं और इस में दर्शन, धर्म, तथा नीति का पूरा वातावरण मिल जाता है । रामचरित पारिवारिक, वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और ग्रामीण चेतना का सूर्य हो जाता है । मानस में पूर्णतः आदर्शवादी और आध्यात्मवादी तत्व हैं । मध्यकाल के दर्पण मानस में अलौकिकता का सहारा लेकर पापी, साधारण, खल आदि सभी प्रकार के मनुष्यों के हृदयपरिवर्तन और फलतः समाजपरिवर्तन का एक भ्रामक सर्वव्यापी विश्वास अवतरित हुआ है ।

सर जोर्ज ग्रियेर्सन एवं आचार्य विनोबाभावे के शब्दों में तुलसी उत्तर भारत के महानतम लोकनायक एवं लोकसेवक, मध्यकालीन भारत की आत्मा, भारत की चिरंतन धर्म-परंपरा के अनन्य रक्षक, हिन्दी भाषा के प्राण आदि हैं । भारतीय वाङ्मय का महानतम काव्य रामचरितमानस भक्तिमार्ग का सर्वोत्तम ग्रंथ है । उनकी भक्ति-पद्धति समन्वित भक्ति-पद्धति है । उस में ब्रह्म, विष्णु, शिव आदि को स्थान है । उसने चिरन्तन मानवादर्शों के अतुलनीय प्रतीक राम के नाना रूपों की मनोहारिणी झाँकियाँ दिखाई हैं । सदाचार से मन और सद्भक्ति से आत्मा के कल्याण का जो जीवन-दर्शन उन्होंने मानव जाति के समक्ष प्रस्तुत किया था वह चिरंतन मूल्यों से संपन्न है । उनका भक्ति दर्शन, सर्वथा ग्राह्य एवं प्रेरक ही है ।

उत्तर भारत के हिन्दुओं की पहचान दो ही चीज़ों से होती है - वे हैं रामचरितमानस की पोथी और तुलसी का पौधा । महात्मा गान्धी ने कहा है.-"भारत में यदि कोई ग्रंथ झोंपडियों से महलों तक में स्थान

पा सका है तो वह तुलसीकृत रामायण है ।[1] मानस को सामान्य वर्ग भी सम्मान देता है और उच्चवर्ग भी । साधुसमाज भी मानस का भक्त है और पूँजीपति भी मानस के नाम पर संस्थाएँ बना रहे हैं - चला रहे हैं । निम्नवर्ग बड़ी ललक के साथ गुह, निषाद और शबरी की तसवीरों को देखता है । धर्म-प्राण व्यक्ति इसे अपवित्र हाथों से स्पर्श करने का साहस नहीं करते । उत्तर भारत में स्नान करने के उपरांत इसका पाठ वैसे ही किया जाता है जैसे किसी भी मान्य धार्मिक ग्रंथ का । रामनवमी के अवसर पर श्रद्धालु जनता अत्यन्त पवित्र हृदय से व्रत रखकर इसका नवाहन पाठ करती है । लोग मास-परायण करते हैं । भारतवर्ष में लाखों की संख्या में ऐसे व्यक्ति हैं, जो इसका नित्य पाठ करते हैं । सैकड़ों की संख्या में ऐसे उत्साही प्राणी हैं जिन्हें संपूर्ण रामचरितमानस कंठस्थ है । मानस का अखंड पाठ अनेक नगरों, विशेष रूप से अयोध्या काशी और प्रयाग में चलता रहता है ।

मानस एक आशीर्वादात्मक ग्रंथ है । इसकी प्रत्येक पंक्ति का श्रद्धालु लोग मन्त्रवत् आदर करते हैं और इसके पाठ से लौकिक एवं पारमार्थिक अनेक कार्य सिद्ध करते हैं । इन में मिलनेवाले उपदेशों का विचारपूर्वक मनन करने एवं उनके अनुसार आचरण करने से और चिन्तन करने से ईश्वर का साक्षात्कार आसानी से हो सकता है ।

मानस की गेयता अर्थात् गाये जाने की योग्यता के कारण भी मानस अत्यन्त लोकप्रिय हुआ । स्थान स्थान पर झाँझ और ढोलक के साथ अनेक रागों में अनेक प्रकार की टेक दे-देकर जब मानस का व्यापक गायन होने लगा और प्रत्येक व्यक्ति अपने घर में ही अवकाश के समय अपने परिवारों के साथ अथवा अपने इष्ट मित्रों के साथ बैठकर मानस गाने लगा तब तो आगे चलकर इतनी मानस-मंडलियाँ बन गईं कि वे घूम-घूमकर मेलों, उत्सवों और पर्वों पर मानस गा

---

1. गाँधीजी की सूक्तियाँ, पृ. 84.

गाकर उसके प्रचार में प्रबल सहायक सिद्ध हुईं । रहीम ने मानस की प्रशस्ति में कहा था - रामचरित मानस विमल, संतन जीवन प्राण । हिन्दुआन को वेद सम, जमनहिं प्रकट कुरान ।।
वे मानस को वेद और कुरान बताते हैं ।[1]

मानस की भाषा इतनी सरल रखी है कि अशिक्षित तथा अल्पशिक्षित व्यक्ति भी पूरा ग्रंथ समझकर उसका रस ले सकता है । इसमें साहित्यिक प्रौढता भी उच्चकोटि की है कि जो जितना बडा विद्वान है वह इस में उतना ही अधिक रस प्राप्त कर सकता है । जैसे-जैसे समय बीतता चलता है वैसे-वैसे इसकी कीर्तिलता भी बढती चली जाती है ।

मानस-प्रेरणा एवं प्रभाव :-

राम की कहानी प्राय: डेढ-दो हज़ार वर्ष पूर्व वाल्मीकि रामायण द्वारा पूरी तरह निर्धारित हो चुकी थी । उसके बाद रामकथा के मूल ढाँचे को प्राय: अविकृत रखते हुए बहुत से कवियों, लेखकों और नाटककारों ने उसे ग्रहण किया । राम कथा को किसी ने "विश्राम स्थानमेकं कविवरवचसां" कहा है जिस से यह बात बिलकुल स्पष्ट होती है । संस्कृत में लिखे गये राम साहित्य से भी तुलसी का परिचय था । लेकिन इस सारी सामग्री के उपयोग में तुलसी ने अपनी दृष्टि और युग की माँग का अत्यन्त कुशलता से समन्वय किया । मानस को पढने पर स्पष्ट होता है कि यह "रामायणे निगदितं और नाना पुराण निगमागम सम्मतं" है और इस पर वाल्मीकि रामायण, आध्यात्मरामायण, स्तोत्र साहित्य, गीता, पंचतंत्र, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव, प्रतिमानाटक, रघुवंश, महावीर चरित, उत्तररामचरित, बालरामायण, चाणक्यनीति, भतृहरि के शतकत्रय आदि

---

1. मानस चिन्तन, संपादक जानकी वल्लभ शास्त्री, पृ. 5.

उत्तम नीति-ग्रंथों के वचनामृत का भी सुन्दर प्रभाव पडा है । इसके अतिरिक्त उपनिषदों, पुराणों, स्मृति-वाड़्मय आदि का मर्म मानस का मर्म बन गया । स्वान्तः सुखाय रचित तुलसी का रामचरितमानस मानवजीवन का एक मर्यादापूर्ण अमर काव्य है ।[1] सत्यम् शिवम् सुन्दरम् के व्यापक मण्डल में ही उन्होंने अपने काव्य की रचना की । ऐसे विशाल परिवेश और प्रभाव मानस को शाश्वत महाकाव्य की महिमा प्रदान करते हैं ।

तुलसीदास ने मानस में प्रसंगवश अनेक स्थानों पर शास्त्र कथन का सहारा लिया है । संस्कृत के विभिन्न ग्रंथों से सूक्ति-रत्नों का चयन करते हुए यथास्थान मानस में उन्हें सजाते हुए तुलसी ने निस्सन्देह एक महान कार्य किया है । सम्मिश्रण में उनकी प्रतिभा की परख होती है । कथावस्तु का विस्तार उन्होंने आध्यात्म रामायण तथा भागवत की शैली में किया है और उसमें नाटकीयता लाने के लिए आदि कवि से लेकर अपने पूर्ववर्ती कवि-नाटककारों तक के उपादानों का उपयोग किया है । ऋतुवर्णन भागवत के अनुसार है तो चरित्र चित्रण अपने आदर्शों और मान्यताओं के अनुरूप सारे समान्तर चरित्रों के नवनीत से अपूर्व चारुता लिए हुए ।

मानस को "पुराण" भी कहा जा सकता है ।[2] क्योंकि प्रतिपाद्य विषय और काव्य रूप, उद्देश्य और शैली की दृष्टि से मानस पुराण काव्य ही ठहरता है । मानस को काव्यात्मक मानने पर पौराणिक प्रभाव की दृष्टि से समन्वयात्मक प्रवृत्ति की सर्वप्रमुख विशेषता आती है । व्यक्ति और समाज तथा लोक और परलोक की मंगलात्मक दृष्टि भारतीय परंपरा में है, तुलसी पुराणों की भाँति उनका सामंजस्य प्रदर्शित करते हैं । अवसर निकालकर

---

1. रामचरितमानस में योग के स्रोत, डा. शिवशंकर शर्मा, पृ. 30-31.
2. तुलसी साहित्य के नये संदर्भ, डा. लक्ष्मी नारायण दुबे, पृ. 38.

विभिन्न धार्मिक तथा दार्शनिक विषयों का उपदेशात्मक विश्वास तथा ग्रंथ पारायण की फलश्रुति कथन आदि पुराणों का महत्वपूर्ण प्रभाव है । मानस के अयोध्याकाण्ड को छोडकर सभी काण्डों में प्रसंग पाकर उपदेशात्मक विवरण मिलता है । जीव, जगत्, माया, ईश्वर, ब्रह्म, ज्ञान तथा भक्ति का विवेचन तुलसी की किसी भी रचना में हैं । गोस्वामी ने अपने साहित्य में जो उपाख्यान दिए हैं और उन में जिन देवताओं या पात्रों की चर्चा की है वे नाम से वैदिक होते हुए भी अर्थ से पौराणिक ही हैं । पुराणों में मुक्ति के विभिन्न रूपों के साथ-साथ स्वर्ग तथा अन्यान्य लोकों की कल्पनाएँ की गईं । तमाम देव, नदियाँ, तथा नामों की अर्थवादात्मक प्रशंसा की गई है और सब को मुक्ति का साधन घोषित किया गया । पुराणों के इस अर्थवादी स्वर का शंखनाद भी तुलसी के साहित्य में अविरल उपलब्ध होता है । वैदिक वाङ्मय में नारी जाति की महिमा स्पष्ट थी, पुराणों में वह गिर गई है । मानस में नारी-निन्दा का स्वर भी है । तुलसी ने वेद, पुराण तथा निगमागम के जितने ग्रंथ पढे थे, उन्हें ऐसे आत्मसात् किया था कि उनके समस्त सत् अंश मानस में अवतरित होकर तुलसी के अपने बन गये हैं ।

इनके अतिरिक्त भक्ति मानस के प्रणयन में तुलसी की मूल प्रेरक रही है । उन्होंने पहले राम की कथा अपने गुरूजी से सुनी -

"मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत ।"[1]

राम कथा को बार बार सुनने से तुलसी के व्यथित मन को सांत्वना मिली । उन्हें इस संसार के पीछे एक ऐसी शक्ति का आभास मिला जो इन सब दुःख-दर्दों को मिटा सकती है । जिस से तुलसी के मन को जो शान्ति मिली, उनकी अनुभूति वे अपने ही समान दुःखी लोगों को कराना चाहते थे । इसलिए उन्होंने उसे "स्वान्त सुखाय" तथा "जन हिताय" भाषा में व्यक्त किया ।

---

1. मानस: बाल: 30 क

अपने इस दृष्टिकोण को तुलसी ने स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है -
बुध विश्राम सकल जन रंजनि । रामकथा कलि कलुष विभंजनि ।[1]

युग एवं मानव का अटूट संबंध है । तुलसी का प्रतिभाशाली व्यक्तित्व अपने युग से घनिष्ठ संबंध रखता है । इस संबंध की प्रमुख परिचायिका भक्ति है । भक्ति भारतीय मध्यकालीन परिवेश के अत्यन्त अनुकूल थी । यद्यपि भक्ति एक चिरंतन मानव वृत्ति है तथापि मध्यकाल में इसकी विशेष प्रगति हुई । कुछ "हारे को हरि नाम" के सुस्पष्ट सत्य के कारण, कुछ आलवार भक्तों तथा आचार्यों के प्रभाव के कारण, कुछ भागवत के प्रभाव के कारण । ग्यारहवीं से सोलहवीं शताब्दी तक भक्ति का प्रभाव समग्र देश में फैल रहा था । इस बीच रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ प्रभृति दाक्षिणात्य आचार्य भक्ति को दर्शन का रूप प्रदान कर रहे थे । रामानंद प्रभृति नेता भक्ति का सर्वव्यापी प्रचार कर रहे थे ।[2]

रामकथा से तुलसी के व्याकुल मन को जीवन की उमंग मिली, जीवन-संघर्ष की प्रेरणा मिली । एक सर्वशक्तिमान स्वामी की कल्पना मिली । व्याकुल हृदय तुलसी को रामकथा और अपने युग की परिस्थितियों में घनिष्ठ संबंध जान पड़ा । इसलिए उनकी दृष्टि त्राण की खोज में कभी कभी इस संसार से परे अलौकिक सत्ता की शरण में चली जाती थी । मानस में लोक-परलोक दोनों की अवतारणा एक साथ हुई है । यह कहा जाता है कि अपनी विपन्नता और रामकथा की शक्तिमत्ता दोनों ने मिलकर तुलसी को जीवन के प्रति उत्साहित किया था - जीवन की प्रेरणा दी थी। उनका समस्त काव्य इसी संजीवनी शक्ति से ओतप्रोत है ।

---

1. मानस बाल 30 ख 3
2. तुलसी के अध्ययन की नई दिशाएँ, रामप्रसाद मिश्र, पृ. 31-32.

उनके व्यक्तित्व का एक पक्ष है जो राम कथा श्रवण की ही उपज है और वह तुलसी की दास्यवृत्ति है। तुलसी ने दास्य भक्ति को अपनाया, उसका कारण यही है कि अपने जीवन के आरंभ में उन्हें अनाथ होने का कटु अनुभव था। राम का संरक्षण तुलसी के लिए एक संबल था जिसके आधार पर वे किसी भी संघर्ष को चुनौती दे सकते थे। इस कृति के पूर्व उन्होंने गुरुदीक्षा ले ली है तथा स्वाध्याय का सारा ब्रह्मरस पी लिया है। चित्रकूट के सन्तों और भक्तों के संपर्क-साहचर्य का तुलसी ने इस महाकाव्य में आदर्शीकरण कर डाला है।

तुलसीकालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियाँ :-

किसी व्यक्ति विशेष के व्यक्तित्व और उसकी रचना-धार्मिकता को समझने के लिए उसके युगीन परिवेश की जानकारी अनिवार्य है। वस्तुत: व्यक्ति युगीन परिस्थितियों की उपज होता है। उस परिवेश की क्रिया-प्रतिक्रिया से ही उसके व्यक्तित्व और रचना का निर्माण होता है। अत: मानस का समुचित मूल्यांकन करने के लिए उसके युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, परिस्थितियों को समझ लेना बहुत उचित है।

संवत् 1631 में जब तुलसी ने मानस की रचना की उस समय देश महान अशान्ति के दौर से गुज़र रहा था।[1] राजनीति में सर्वत्र अस्थिरता थी। शासकों की तानाशाही से प्रजा स्वतंत्र थी। धार्मिक रीति रिवाज़ों तथा देवालयों और तीर्थों पर कुठाराघात से सामाजिक व्यवस्था छिन्न भिन्न हो रही थी। कई तरह के करों तथा लूट खसोट के कारण जन सामान्य आर्थिक कठिनाइयों से पीडित था। शासक वर्ग बादशाहों के अनुरूप ऐशो आराम में मस्त था जबकि जनता नाना प्रकार के अत्याचार से पीडित दु:ख और दर्द का जीवन बिता रही थी।

---

1. तुलसी साहित्य के नये संदर्भ, डा. लक्ष्मीनारायण दुबे, पृ. 44.

तुलसी ने कलिकाल के प्रतीक को लेकर अपने समय के समाज की सभी संस्थाओं के पतन का अतिरंजित वर्णन किया है । इस तरह "सत्युग" के प्रतीक द्वारा अपने वेदकालीन, पौराणिक आदर्शों और तत्कालीन समाज में यदि एक ओर आर्थिक दरिद्रता, शोषण, छल-कपट और नैतिक पतन था तो दूसरी ओर वैदिक परंपराएँ लुप्त हो चुकी थीं और मन्त्र-तन्त्र, जन्त्र का प्रसार हो गया था, वर्णाश्रम धर्म का कोई पालन नहीं करता था ।

"बरन धर्म नहि आश्रम चारी । श्रुति विरोध रत सब नर नारी ।
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन । कोउ नहिं मान निगम अनुशासन ।।"[1]

अकबर के पूर्ववर्ती समय का समाज युद्ध, जात्याभिमान, श्रृंगारिकता, दुःखसाहसिक शौर्य, भूमिगत शोषण आदि के शिकार थे । वासना-विलास, नारी भोग, यौनाचार आदि की प्रबलता की वजह से दरबारी सदस्य का चरित्र नारीमय हो गया था । युद्धों की विभीषिकाओं के कारण चालाकी, छल, फरेब, झूठ, काम, क्रोध, लोभ, नैतिक पतन, शोषण और दरिद्रता और अकाल सारे समाज को जकड़े हुए थे -

नारि बिबस नर सकल गोसाईं । नाचहिं नट मर्कट की नाईं ।[2]
सब नर काम लोभ रत क्रोधी । देव बिप्र श्रुति संत बिरोधी ।।
गुन मंदिर सुंदर पति त्यागी । भजहि नारि पर पुरुष अभागी ।।[3]

धार्मिक नैतिक शब्दावली में ह्रासोन्मुख सामाजिक परिवर्तन के कारण "पाप" बढ़ गया है । महाभाग-अभाग सभी तृष्णा से भरे हैं, वेद, पुराण के धार्मिक सुमार्ग छोड़ दिये गये हैं, अर्थ के कामों में चतुरता और परमार्थ के कामों में पाखण्ड भर गया है -

"भए बरन संकर कलि भिन्न सेतु सब लोग ।
करहिं पाप पावहि दुख भय रूज सोक बियोग ।"[4]

---

1. मानस उत्तर 97 ख ।
2. वही 98 ख ।
3. वही, 98 ख:2
4. मानस उत्तर 100 क.

राज-समाज करोडों कुचालों से भर गया है, वह नीति नहीं जानता, प्रजा उसे प्राण-समान प्रिय नहीं है । ये परस्त्री-सेवन, परधन भोग, पर अपवाद या निन्दा, परिहास, पर-बैर में रत हो गये हैं । राज-समाज प्रजा को खा डालनेवाला है । अतः यह बडा ही छली है । उनके छल और कुचालों के कारण प्रजा भी भ्रष्ट और पतित हो गयी हैं । लोभ, मोह, झूठ, और दुष्टता से सारे सामाजिक कार्यों तथा संबंधों में एक छल, चतुरता, स्वार्थ, दिखावा आ गया है । मृदुभाषी, शान्त साधु और सहज मनुष्य दोनों ही लोभ तथा तृष्णा के शिकार हैं, मानो वे अब भौतिक सुरक्षा और अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए उच्चवर्ग की विचारधारा का अनुकरण करने लगे हैं । राजा प्रजा को नित्य ही दण्ड देकर उसकी विडम्बना किया करते हैं । राजा प्रजा के शत्रु बनते हैं -

नृप पाप परायण धर्म नहीं । करि दंड बिडंब प्रजा नितही ।[1]

लोक विवेकयुक्त ईश्वर मार्ग छोडकर अनेक पन्थों की कल्पना करते हैं । इसी तरह चारों ओर चतुरता और पाखण्ड ही साधन हो गये हैं । वैदिक अनुशासन के हटने से और सामन्त युग के शौर्य-विलास शोषण, स्वेच्छाचार के फैलने से व्यापक समाज भी अधोन्मुख हुआ था । गोस्वामी ने एक धार्मिक आचार्य की तरह सारांश दिया है कि लोक और वेद दोनों की मर्यादा चली गयी है । प्रजा अवनत होकर पाखण्ड में लिप्त है, कपट बढ गया है । धन और प्रभुता तथा कामुकता अर्थात् "धन" और "शक्ति" और "काम" समाज की दिलचस्पियाँ रह गये हैं ।

जीविका के लिए लोग ऊँचे-नीचे कर्म, धर्म-अधर्म करते हैं, यहाँ तक कि पुत्र और पुत्री को बेच देते हैं । यह पेट की आग दावाग्नि से भी

---

1. मानस उत्तर 100 ख: 3.

बडी है । जीविका विहीन लोग दुःख और शोक से भरे हैं उनके सामने कोई रास्ता नहीं है, व्यापारी का व्यापार नहीं चलता और नौकर को नौकरी नहीं मिलती । दारिद्र्य रूपी रावण ने दुनिया दबा ली है जिसके कारण पाप की ज्वाला का हाहाकार फैल गया है । दैनंदिन दरिद्रता, दुर्भिक्ष, दुःख, पाप, और कुराज्य को दूना देखकर सुख और सुकृत संकुचित हो रहे हैं । अतः उस समाज की तीन सब से बडी कुरीतियाँ, सामन्तीय व्यवस्था, उस से उत्पन्न दरिद्रता और उससे दुःख और पीडा के कारण लोकमंगल विरोधी कार्य {पाप} सिद्ध होता है जो आर्थिक, सामाजिक और आध्यात्मिक त्रयी को एक परिधि में बाँध लेता है । मनुष्य रोगों से पीडित है सुख कहीं नहीं है -

नर पीडित रोग न भोग कहीं । अभिमान विरोध अकार नहीं ।[1]
लघु जीवन संबतु पंच दसा । कलपांत न नास गुमानु असा ।।

मानस के उत्तरकाण्ड में कलिधर्म का वर्णन है जिसके माध्यम से कवि मध्ययुग के भारतीय समाज के लडखडाते मूल्यों की भयावह स्थिति दिखाना चाहते हैं । तुलसीदास ने अपने समय के यथार्थ को संकेत से ही व्यक्त करना चाहा है । भागवत का वर्णन भविष्य के रूप में है जब कि उन्होंने उसे वर्तमान परिवेश से जोडा है । उनके समय उत्तर भारत में सन् 1556 का अकाल और गुजरात में सन् 1573-74 का भीषण अकाल आया था और सन् 1616-23 की महामारी हुई थी । तुलसी कहता है कि -

कलि बारहिं बार दुकाल परै । बिनु अन्न दुःखी सब लोग मरै ।[2]

तुलसी ने कलियुग को अवगुण का आगार कहा है और इस वर्णन में उनकी दृष्टि सामयिक परिवेश से परिचालित रही है । कलियुग में कपट, दुराग्रह, दम्भ, द्वेष, पाखण्ड, मान, मोह और काम आदि और मद ब्रह्माण्ड भर में व्याप्त हो गये -

---

1. मानस उत्तर 101 ख 2
2. मानस उत्तर 100 ख 5.

सुनु खगेस कलि कपट हठ दंभ द्वेष पाषंड ।
मन मोह मारादि मद व्यापि रहे ब्रह्मंड ।।[1]

मिथ्याडंबर का प्रचार है, फैलता हुआ पाखंड है । नैतिक मूल्य ढह गये हैं और गुरु अपने नैतिक दायित्व का पालन नहीं करते । जनता आसक्त और मोहबद्ध हैं।

पर त्रिय लंपट कपट सयाने । मोह द्रोह ममता लपटाने ।[2]

तुलसी की सामाजिक चेतना के रूपायित होने में मध्य युग की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक परिवेश का हिस्सा है । मध्ययुग के भोगवाद में असन्तुष्ट तुलसी उच्चतम आध्यात्मिक नैतिक मूल्यों का आग्रह करते हैं, पर इस कल्पना में मानवीय दृष्टि बराबर सक्रिय है ।

हम देख चुके हैं कि तुलसी ने जिस समय मानस की रचना की, उस समय जनता में अनाचार और अशान्ति का राज्य था । समाज का नैतिक पतन हो चुका था और जनता श्रृंगार-भाव तथा निष्क्रियता में डूबी हुई थी । सामाजिक नियमों का उल्लंघन साधारण बात थी और विद्रोह के स्वर ऊपर उठ रहे थे । ऐसी जनता के सामने तुलसी ने राम का आदर्श उपस्थित किया ।

मानस पात्रसृष्टि :-

ऊपर चित्रित परिस्थितियों में रहनेवाले समाज को ऊपर उठाने के लिए मानस में आदर्श पात्रों की सृष्टि अत्यन्त आवश्यक थी । तुलसी ने मानस में इसका भरपूर निर्वाह किया । तुलसी का अपने पात्रों के प्रति जिस प्रकार का भाव होता है तथा जिस आदर्श को कवि अपने काव्य द्वारा समाज के सम्मुख उपस्थित करना चाहता है, उसी के अनुरूप अपने पात्रों की सृष्टि करता है । तुलसी के पात्र कुछ विशिष्ट आदर्शों के प्रतीक हैं । सीता पतिव्रत धर्म,

---

1. मानस उत्तर 101 क.

2. मानस उत्तर 99 ख ।

लक्ष्मण सेवा, भरत- भ्रातृत्व, हनुमान-दास्य, इसके अतिरिक्त भक्त जनों की लंबी पंक्ति है और श्रीराम में गुण समुच्चय । अन्य सभी पात्रों की विवेकपूर्ण निष्ठा उनकी कर्मप्रक्रिया से चरितार्थ होती है । राम तो सर्वोत्तम प्रतीक हैं, अन्य पात्र भी किंचित् प्रतीकत्व पा जाते हैं ।

राम कथा के महानायक हैं और सभी चरित्र उनके व्यक्तित्व के चारों ओर परिक्रमा करते हैं । त्याग, प्रेम और नीति के प्रतीक राम चरित्र मानस के माध्यम से भली-भाँति जाना जा सकता है । तेज और क्षमा की भाँति स्नेह और नीति की आन्तरिक अन्विति आवश्यक हैं । राम का प्रत्येक उपकार सहृदयता लिए हुए है, यही उसके प्रियत्व का कारण है । पारस्परिक सद्भाव ही रामराज्य है ।

तुलसी के राम जिन सामाजिक मूल्यों के प्रतीक हैं, उनकी कुछ आदर्शवादी रेखाएँ हो सकती हैं । राम मर्यादा-पुरुषोत्तम थे । वे अनियम में नियम स्थापित करने आये थे । वे आदर्श पुत्र, आदर्श भ्राता, आदर्श पति, आदर्श मित्र, आदर्श राजा और आदर्श शत्रु थे । युद्ध के समय विभीषण ने उदास होकर कहा कि न रथ है, न पद त्राण, इस मायावी बलवान को कैसे जीता जा सकेगा ? शब्दों में कम बोलनेवाले राम जिस धर्मरथ मूल्य समुच्चय का विस्तृत उल्लेख करते हैं उस में तुलसी पूरी तरह सम्मिलत हैं । वास्तविकता यह है कि तुलसी ने राम को अपने काव्यनायक के रूप में सँवारा-सजाया है । राम कहते हैं -"मित्र । जिस रथ से युद्ध जीता जाता है, उसका स्वरूप ही दूसरा है ।[1] शौर्य और धैर्य उस रथ के पहिये हैं । सत्य और शील उसकी मज़बूत ध्वजा और पताका हैं । बल, विवेक, दम और परोपकार - ये चार उसके घोडे हैं जो क्षमा, दया और समतारूपी डोरी से रथ में जोडे हुए हैं ।

---

1. सौरज धीरज तेहि रथ चाका । सत्य सील दृढ ध्वजा पताका ।
बल विवेक दम परहित घोरे । छमा कृपा समता रजु जोरे ।।
मानस लंका 69:3.

यहाँ तुलसी राम के माध्यम से उच्चतर सामाजिक मूल्यों का बखान करते हैं शौर्य, सदाचार, धैर्य, बल, विवेक, दम, परोपकार, क्षमा, दया, समता, वैराग्य, संतोष, दान, बुद्धि, श्रेष्ठ विज्ञान, निर्मलास्थिर मन, अहिंसा, नियम और यह भी कि -

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर ।
जाके अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मति धीर ।।

राम कर्तव्य पालन में भी बड़े ही दृढ़ हैं । पिता को अचेत छोड़कर वे वन गमन करते हैं । राम का स्नेही स्वभाव हमें वन में उस समय ज्ञात होता है जब वे वहाँ सगे संबंधियों के वियोग में दुःखी होते हैं । "प्रिय परिजन बियोग बिलखाहीं ।" उसके साथ ही जब वे लक्ष्मण और सीता को अपने दुःख में विकल देखते हैं तो वे शान्त हो जाते हैं । राम के स्वभाव की सब से ज्वलन्त विशेषता यह है कि वे अन्यायियों और शत्रुओं के प्रति भी प्रेम की भावना रखते थे । चित्रकूट में वे कैकेयी से अपनी सगी माता के ही तुल्य मिलते हैं और सारा द्वेष अपने स्नेह की अजस्र वर्षा से शान्त कर देते हैं । चौदह वर्ष बाद राम अवध लौटकर पहले कैकेयी के ही पास जाते हैं और उसका अपनी माता से भी बढ़कर सम्मान करते हैं । मानस के माध्यम से तुलसी ने राम की जो कैकेयी के प्रति क्षमाशीलता दिखलाई है उसे पाठक कभी भी विस्मृत नहीं कर सकते । राम अपने शत्रु रावण की भी कुशल और हित कामना करते हैं - "कहु लंकेस सहित परिवारा । कुसल कुठाहार बास तुम्हारा ।"[1]

सत्य, प्रियता, दृढ़ता, क्षोभहीनता, कृतज्ञता, दृढ़विश्वास, अदम्य उत्साह, अन्तकरण की पवित्रता, गंभीरता, दानशीलता, नैतिकता, धार्मिकता, कोमलता आदि राम के प्रधान लक्षण हैं । उनका आचरण और स्वभाव निर्मल और उच्चकोटि का है ।

---

1. मानस सुन्दर 45:2.

तुलसी ने राम को ईश्वर के रूप में चित्रित किया है, वे दया-करूणा-निधि हैं, त्याग के प्रतीक हैं । वे निर्गुण और सगुण हैं । अलख अरूप अनन्त अनादि आदि हैं । तुलसी के राम की विशेषता यह है कि वे नर ही नहीं नारायण हैं या परब्रह्म भी हैं । तुलसी जिन सामाजिक मूल्यों पर बल देते हैं उन्हें अपने पात्रों से आचरित करवाते हैं । तुलसी ने राम के सामाजिक आदर्शों को केन्द्र में रखकर जिस रामराज्य की कल्पना की यह सब से अधिक विचारणीय है ।

राम के समान ही सीता के शील से सब प्रभावित हैं, किन्तु सीता के अपने चरित्र की स्वतंत्र अभिव्यक्ति के अवसर "मानस" में बहुत कम आये हैं । मानस के स्त्री चरित्रों में सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व सीता का है । उन में वे मूल प्रकृति या लक्ष्मी का अवतार बतायी गयी हैं । वे राम की अर्धांगिनी अर्थात् ब्रह्म की आदिशक्ति हैं । आद्यन्त नर रूप ब्रह्म की आदर्श पत्नी के रूप में दिखायी गयी हैं । वे मानस की नायिका हैं । उन में सरलता, कोमलता, निष्कलुषता, निरीहता, त्याग, संयम, कष्टसहिष्णुता, औदार्य, स्नेह, माधुर्य, गृहणीत्व, पातिव्रत्य, विनयशीलता, तेजस्विता, धर्मभीरूता, नैतिकता आदि गुणों का समष्टि रूप दिखाई पडता है । इसी कारण सीता भारतीय कुलवधुओं के चरमोत्कृष्ट आदर्श के रूप में मान्य हैं । कुमारी, कुलवधू, पत्नी, गृहिणी, राजमहिषी, वियोगिनी, और संयोगिनी सभी रूपों में उन्हें मर्यादा का पालन करते दिखाकर तुलसी ने नारी संबंधी अपनी उच्चतम भावना को सीता के रूप में मूर्त कर दिया है । सीता के चरित्र की विनय और लज्जा उन्हें मानस में एक महान स्थान प्रदान करती है ।

चित्रकूट में सीता माताओं की सराहनीय सेवा करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। सीय सासु प्रति वेष बनाई । सादर करइ सरिस सेवकाई ॥[1]

---

1. मानस अयो 251:1

राम यदि पूर्ण मानव है तो सीता पूर्ण नारी, राम यदि ब्रह्म है तो सीता आदिशक्ति या मूल प्रकृति । इस मूल प्रकृति के कारण ही सत्कार्यों और असद्कार्यों के संघर्ष की चरम परिणति राम-रावण युद्ध के रूप में अभिव्यक्त हुई । अतः सीता को भी प्रतीकात्मक चरित्र के रूप में ग्रहण किया जा सकता है ।

मानस के अन्य स्त्री-चरित्रों में कौशल्या, कैकेयी, मन्दोदरी और मंथरा प्रमुख हैं । ये भी अपने टाइप का प्रतिनिधित्व करनेवाली स्त्रियाँ हैं । कौशल्या में माता का आदर्श रूप चित्रित हुआ है तो कैकेयी में विमाता का यथार्थ रूप दिखाया गया है । कौसल्या नीति के पालन के लिए राम को वन भेज देती है, किन्तु दशरथ या रानी कैकेयी के विरुद्ध एक शब्द तक उसके मुँह से नहीं फूटता, प्रतिशोध की भावना उसके मन में दिखायी नहीं देती । यह उसकी विनम्रता का उत्कृष्ट निदर्शन है, यही नहीं राम को वन में छोडकर सुमंत्र के लौट जाने पर जब राजा दशरथ की स्थिति बहुत बिगडने लगती है तो कौसल्या अत्यन्त उत्कट आत्मनियंत्रण का परिचय देती है ।[1] उसके चरित्र का यह सौन्दर्य ननिहाल से लौटे हुए भरत से मिलने पर और भी निखर जाता है । विषमतम परिस्थितियों में भी यह अपनी सहानुभूति के द्वार खुले रखती है । कुलमिलाकर कौसल्या का चरित्र अत्यन्त उदार, विनम्र, सहानुभूतिपूर्ण और सुरुचि संपन्न है ।

रावण की पत्नी मन्दोदरी धर्म और न्याय का प्रतीक है । वह रावण से सीता को लौटाने की सलाह देती है । मंथरा संसार के उन चरित्रों

---

1. उर धरि धीर राम महतारी । बोली वचन समय अनुसारी ।
नाथ समुझि मन करिअ विचारू । राम वियोग पयोधि अपारू ।
करनधार तुम अवध जहाजू । चढेउ सकल प्रिय पथिक समाजू ।
धीरजु धरिअ त पाइ अ पारू । नाहिंत बूढिअ सब परिवारू ।
जौ जियं धरिअ विनय पिय मोरी । राम लखनु सिय लखनु सिय मिलहि बहोरी
मानस अयो 153 :2-4

का प्रतिनिधित्व करती है जिन्हें सामान्य अर्थ में अकारण दुष्ट कहा जाता है । वह चतुर-चालाक है, सूझ-बूझवाली है । किन्तु अपने इन गुणों का दुरुपयोग करती है ।

भरत के चरित्र का जो अंश मानस में चित्रित किया गया है उसके केन्द्र में उनकी भ्रातृ-भक्ति है । उनकी समस्त चेष्टाएँ भ्रातृत्व और सुरुचि की अभिव्यक्ति करती हैं । कौसल्या के पास जाकर अपनी निर्दोषता का विश्वास कराने की चेष्टा तथा राज्य को अस्वीकार कर देना, दोनों ही घटनाएँ, उनकी सुरुचि संपन्नता की द्योतक हैं । यही मान्यता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की है कि "भरत का चरित्र जितना अंकित है, उतना सब से उज्जवल सब से निर्मल और सब से निर्दोष है । पर साथ ही यह भी है कि वह उतना अधिक अंकित नहीं है ।[1] सारांश यह है कि भरत के चरित्र में गहराई अधिक है व्यापकता कम । राम के प्रति भरत का प्रेम ही बड़ा प्रवाहपूर्ण और सरस है । मानस में कहा गया कि भरत के शील, गुण, नम्रता, बड़प्पन, भाईपन, भक्ति, भरोसे और अच्छेपन का वर्णन करने में सरस्वती की बुद्धि भी हिचकती है ।[2]

लक्ष्मण के चरित्र की प्रधान विशेषता उनकी सेवा तथा उत्साह है । वन गमन के प्रसंग में यह स्पष्ट रूप से दिखलाई देता है । वे गहरे आत्माभिमान, आत्मविश्वास और सामाजिक चेतना से जुड़े हुए हैं । वे राम और भरत की ही भाँति दृढ, निर्भय, निश्चयनिष्ठ, निष्कपट, साहसी और स्पष्टवादी हैं । लक्ष्मण कथनी की अपेक्षा करनी में अधिक विश्वास रखते हैं । राम के लिए वे एक मित्र और सेवक की भाँति हैं । यही उनके चरित्र की सुन्दर

---

1. तुलसीदास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 31.
2. भरत सील गुन बिनय बडाई । भायप भगति भरोस भलाई ।
   कहत सारदहु कर मति हीचे । सागर सीप कि जाहि उलीचे ।।
   मानस अयो: 282:2.

है । महत्वाकांक्षाओं से हीन लक्ष्मण राम में अपने व्यक्तित्व की भावना को इस प्रकार सन्निहित किये हैं कि उनकी समता का और कोई चरित्र ही नहीं मिलता । राम को संपूर्ण आदर देते हुए वे अपना आत्मविश्वास व्यक्त करते हैं, चुनौती का सामना करने को तैयार हो जाते हैं ।[1]

हनुमान श्रीराम का अनन्य भक्त है । वह समर्पण का प्रतीक है । वह अपने स्वामी के समक्ष तो अत्यन्त विनम्र है । मानस के हनुमान बलवान तथा समर्थ, साहसी, वीर, दृढ तथा निर्भीक, कलाओं एवं विद्याओं में दक्ष तथा विवेकशील जितेन्द्रिय, सरल तथा मात्सर्य हीन, धार्मिक एवं आशावान गुण संयुक्त एक अत्यन्त स्वार्थ हीन और कर्तव्य परायण सेवक है । वह सदैव स्वामी के हित तथा स्वामी के कार्य के साथ तादात्म्य स्थापित किये हुए दिखलाई पडता है ।

दशरथ एक राष्ट्र के अधिपति हैं । इन में राम के प्रति अगाध भक्ति और प्रेम है । इसके साथ ही साथ वे अपने वचन का पालन करने में भी बडे दृढ हैं । दशरथ में सत्यप्रियता, पिता पुत्र की मर्यादा, राम के प्रति आदर और प्रेम, कैकेयी से चिढ जाने आदि के भाव मनोहर रीति से दिखलाये गये हैं कि वे तुलसी की कला में चमत्कार उत्पन्न करते हैं ।

रावण का चरित्र राम के चरित्र का लगभग विलोम है । वह स्वार्थी, लोभी, मोही, क्रोधी, दम्भी आदि आसुरी वृत्तियों का प्रतीक है । रावण असत् प्रवृत्तियों का पुंज और अधर्म, अत्याचार और विध्वंस की साक्षात् मूर्ति है । अधर्म के नाश के लिए राम का जन्म हुआ है । मानस के स्त्री पात्रों में सीता के बाद सब से निखरा हुआ चरित्र मन्दोदरी का दिखाया है जो पतिव्रता है और राम की महत्ता को पहचाननेवाली तथा सत्य, धर्म और नीति

---

1. सुनहु, भानुकुल पंकज भानू । कहउँ सुभाए न कछु अभिमानू ।
जौ तुम्हारि अनुसासन पावौं । कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं ।। मानस बाल: 252:2

का पालन करनेवाली है । रावण को वह बार बार उपदेश देती है, लेकिन वह एक नहीं सुनता । सुग्रीव उत्तम मित्र का आदर्श प्रस्तुत करता है । मानस में केवट का चरित्र बडा ही महत्वपूर्ण है । वह राम का प्रिय सखा है । राम को नाव से पार उतारने का दृश्य और उसकी वार्ता तुलसी ने बडी ही मार्मिक, व्यंग्यात्मक, कलात्मक उक्तियों के द्वारा चित्रित की है ।

इस प्रकार मानस के सभी पात्र अपना अलग अलग सन्देश लेकर समाज के आगे प्रस्तुत होते हैं ।

काव्य रूप :-

काव्य कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होता है । चेतना के आलोक में, अन्तकरण की पूरी तन्मयता के साथ अत्यन्त स्वस्थ क्षणों में, उत्तम कृति की सृष्टि होती है । कवि की आत्मा का वह श्रेष्ठतम दान होता है । गोस्वामी तुलसीदास रचित रामचरितमानस एक ऐसी ही कालजयी रचना है । मानस में तुलसी के व्यक्तित्व की छाप विद्यमान है । उस में प्रत्येक पंक्ति तुलसी के निजी सिद्धान्तों और धारणाओं से अंकित है, ध्यान से देखते हैं तो इस अनुभूति तक पहुँचकर यह प्रकट होता है कि वे कितने सजग, दूरदर्शी, विवेकी तथा प्रभावशाली लेखक हैं । प्रत्येक रचना अपने युग के परिवेश से प्रभावित होती है । इन में शाश्वत तत्व तो रह जाता है ।

तुलसी के सामने भाव-प्रकाशन की क्षमता का प्रश्न नहीं, बल्कि भाषा और शब्दों पर उनका पूरा अधिकार है । उनके माध्यम से वे अपने सूक्ष्म विचारों और व्यापक सिद्धांतों को व्यक्त करते हैं । वे अपनी रचना में शब्द प्रयोग, भाषा प्रयोग, अलंकार भाव वर्णन, चरित्र चित्रण के साथ साथ जीवन-यापन की विधि का भी संकेत करते हैं । इनमें से प्रत्येक पक्ष के विशेषज्ञ हैं

जो तुलसी की रचनाओं से दैनिक जीवन-चर्या के संकेत ग्रहण करते हैं और उन्हें आधुनिकतम खोज द्वारा प्राप्त भोजन-व्यवस्था से तुलना कर सिद्ध कर देते हैं। कलात्मक प्रदर्शन तुलसी का उद्देश्य नहीं, बल्कि कला उनके वास्तविक जीवनादर्श अथवा सामाजिक दर्शन के स्पष्टीकरण का माध्यम मात्र है। वे कोरे कागज़ में सत्य का लिखना ही अपना उद्देश्य मानते हैं। साथ ही साथ काव्य कला का व्यापक उदात्त आदर्श स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

कीरति भनिति भूत भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।[1]

तुलसी की राय में, जो समाज के प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति का कल्याण कर सके वही कला है। यहाँ स्पष्ट रीति से तुलसी की कला, कला के लिए नहीं, वरन् कला जीवन के लिए है, यह मान्यता भली-भाँति प्रकट होती है।

श्रेष्ठतम महाकाव्य सारी जाति और एक पूरे युग के कलात्मक इतिहास होते है, जिन में केवल सौन्दर्यकला ही नहीं, विशिष्ट समाज संस्कृति के अन्य प्रकट मूल्य भी चरित्रों, घटनाओं और परिणामों के रूपायन में अनुस्यूत होते हैं। ऐसे महान काव्यों में मिथक और इतिहास का अनूठा भाव जुड़ जाता है, भाषा और अभिव्यंजना की नयी शैलियाँ अपने उन्मेष को प्राप्त होती हैं तथा चरित्र और विचार युग के दर्पण में नया मूल्यांकन पेश करते रहते हैं। इसलिए महाकाव्य देश और काल की सीमा तोडकर सर्वकालधर होता जाता है और प्रत्येक देश के भावकल्प के अनुसार तदनुरूप धार्मिक, सामाजिक, संस्कृति की पुनर्रचना करता रहता है। इसलिए एक युग के जीवन, तथा एक जाति के कार्यों का प्रतिनिधान करनेवाला महाकाव्य एक व्यापक तथा संपूर्ण कार्य व्यापार की श्रृंखला का निर्माण करता है और नायक एक चरित्र से अधिक संस्कृति की अमूल्य शक्ति प्राप्त करते हैं। मानस साहित्यिक कृति मात्र नहीं, उन में धार्मिक, नैतिक ग्रंथ का दर्जा भी प्राप्त कर लेती है। इसी कारण से भामह, दण्डी, विश्वनाथ सम्मत महाकाव्य के लक्षण मानस को बाँध नहीं पाते।

---

1. मानस बाल 13:5

पाश्चात्य विद्वानों में मानस के अनुवादक ग्रीब्स ने अनुवाद की भूमिका में उसे हिन्दुओं का जातीय महाकाव्य {नेशनल एपिक} कहा है । डा० रामकुमार वर्मा ने भी इस संबंध में लिखा है कि "तुलसीदास ने रामचरितमानस की कथा को एक महाकाव्य के दृष्टिकोण से लिखा है, जिस में जीवन के समस्त अंग पूर्ण रूप से प्रदर्शित किये गये हैं ।"[1] तुलसी की काव्य प्रतिभा की एक विशेषता उनके संग्रह और त्याग की प्रवृत्ति में दिखाई पडती है । ज्ञान-भण्डार और अभ्यास से भी कविता लिखी जा सकती है किन्तु महाकाव्य तो तभी लिखा जाता है जब कवि की प्रतिभा में उचित और आवश्यक वस्तुओं और तत्वों के ग्रहण तथा अनुचित और अनावश्यक के त्याग की क्षमता होती है । उन्होंने सन्तों के परिचय में स्वयं इस पहचान का उल्लेख किया है -

तेहि ते कछु गुन दोष बखाने । संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने ।[2]

तुलसी ने मानस में कथानक के संघटन, मार्मिक स्थलों की योजना, संवाद, तत्व निरूपण और भाव व्यंजना में हंस-प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय दिया है । उनकी कथा का मूलाधार वाल्मीकि रामायण और दृष्टिकोण का आधार आध्यात्म० रामायण है, कथानक के अन्य अवयवों को वेद, पुराण, संस्कृत नाटक, श्रुति-स्मृति, उपनिषद् आदि अन्य ग्रंथों से लिया है और विचार संग्रह भी नाना-पुराण निगमागम तथा कुछ इधर उधर से किया है । अपने लक्ष्य के अनुकूल जिन सामाजिक तत्वों को उन्होंने जहाँ भी पाया है, निस्संकोच उनका संग्रह किया है । इसी कारण मानस धर्म ग्रंथ बन गया है ।

मानस में कवि की अद्भुत प्रतिभा का दर्शन सब से अधिक उसकी समन्वय शक्ति में होता है । तुलसी उदारवादी और समन्वयवादी है । विविध विरोधी मतों, दर्शनों, साधना मार्गों, अभिव्यक्ति प्रणालियों और व्यवस्थाओं के समुचित समन्वय द्वारा समाज की बिखरी शक्तियों को संगठित

---

1. डॉ० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० 470
2. मानस बाल: 5:1

करके सशक्त समाज की रचना में विश्वास करते हैं । मानस में केवल लोक और शास्त्र का समन्वय नहीं है, वरन् वैराग्य, गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृत का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्त चिन्तन का, ब्राह्मण और चंडाल का पण्डित और अपण्डित का समन्वय आदि से अन्त तक है ।

महाकाव्य के लिए जिस गुरुत्व, गांभीर्य और महत्ता की आवश्यकता होती है, मानस में वह पूर्ण मात्रा में वर्तमान है । इस में मूल्य समुच्चय की जो विवेचना की गयी है और उसका जो प्रतिमान स्थिर किया गया है वह सार्वभौम और सार्वकालिक है । उन जीवन आदर्शों के कारण ही मानस भारतीय साहित्य का गौरव ग्रंथ बन गया है । उस में कवि के बौद्धिक धरातल की ऊँचाई और चरित्रों के विराट व्यक्तित्व के कारण हिमालय के उच्च हिमाच्छादित, महिमामण्डित शिखरों जैसी मन को आश्चर्य, श्रद्धा और सम्मान से भर देनेवाली उच्चता और विशालता की महिमा हुई है । इसी तरह तत्व चिन्तन, दार्शनिक विवेचन, मानवता के उत्कर्ष की मंगलाशा, लोकहित की उदात्त भावना और धार्मिकता के द्वारा तुलसी ने मानस में वह गुरुता उत्पन्न कर दी है जो विश्व साहित्य के कुछ इने-गिने महाकाव्यों में होती है । मानस की गंभीरता वस्तुत: तुलसी के हृदय की गंभीरता है जिसे उन्होंने जन-जन के हृदय में भर देना चाहा है । उन्होंने उस अगाधता का स्वयं उल्लेख किया है -

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू । बेद पुरान उदधि धन साधू ।[1]

इस गहरे मानस में राम की महिमा का अथाह और अमृतोपम जल भरा हुआ है । ऐसे मानस की गंभीरता को ज्ञान की दृष्टि से ही देखा जा सकता है -

सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना । ज्ञान नयन निरखत मन माना ।
रघुपति महिमा अगुण अबाधा । बरनब सोइ बर बारि अगाधा ।
राम सीअ जस सलिल सुधासम । उपमा बीचि बिलास मनोरम ।[2]

---

1. मानस बाल : 16
2. मानस बाल 37.

मानस की इस अथाह गंभीरता का रहस्य यह है कि उसकी रचना ही अत्यन्त श्रद्धा भाव से हुई है । मानस श्रद्धा और भक्ति का गंभीर प्रशान्त सागर है । प्रेम, वीरता, दया, क्षमा, उदारता, कर्तव्य परायणता आदि भाव तो उस सागर के ऊपरी तल पर दिखाई पडनेवाली उत्ताल तरंगों के समान हैं । उसकी श्रद्धा, प्रेम और सेवा से अविच्छिन्न है । इस तरह श्रद्धा, प्रेम और सेवा की गहरी नींव पर ही तुलसी का यह विशाल काव्य-प्रासाद निर्मित हुआ है जो लोक-जीवन का मंगल भवन है । महाकाव्य में कथानक ऐसा होना चाहिए जिस में उसका महान उद्देश्यों और जीवन मूल्यों के आश्रय महान,चरित्र भी हो । उनके नायक राम तथा उनके पक्ष के अन्य चरित्र मानस में प्रतिष्ठित जीवन मूल्यों और आदर्शो के प्रतीक हैं । उसी तरह युग-युग के मानव में जितने भी पाप, असामाजिकता और बुराइयाँ हो सकती हैं उनको तुलसी ने रावण तथा उनके पक्ष के अन्य राक्षसों में मूर्त किया है ।

मानस में रामराज्य की स्थापना है । उसमें रामावतार का प्रधान कारण रावण के अत्याचार से पृथ्वी का स्वतन्त्र होना बताया गया है । मानस हिन्दू जीवन की आचरण संहिता बन गया है । यह तत्त्व भी इसके महाकाव्यत्व की अजस्र अनुकूल-प्रतिकूल शक्ति का नियामक है । इसके सात काण्ड तथा इन में से प्रत्येक काण्ड का नैतिक नामकरण भी इसका प्रमाण है, बालकाण्ड विमलसन्तोष का, अयोध्याकाण्ड विमलज्ञान वैराग्य का, अरण्यकाण्ड विमल वैराग्य का, किष्किन्धाकाण्ड विशुद्ध सन्तोष का, सुन्दर काण्ड विमलज्ञान का, लंकाकाण्ड विमल विज्ञान का तथा उत्तरकाण्ड अविरल हरि भक्ति का प्रतिपादन करता है । यह प्रतिपादन पात्रों के शील के आधार पर हुआ है । इसलिए मानस में मधुरोपासना के स्थान पर मर्यादोपासना का प्रचार हुआ है । अतः मानस काव्य तथा धर्म दोनों वृत्तों में घिरकर राम को केन्द्र बिन्दु बनाता है ।

मानस की भाषा :-

तुलसीदास ने "मानस" के धार्मिक, सामाजिक, दार्शनिक विचारों, भावों आदर्शों और उपदेशों को आम जनता तक पहुँचाने का जो माध्यम स्वीकार किया, वह था अवधी भाषा, जो उस समय एक विशाल जन समाज के लिए बोधगम्य भाषा थी । चाहे अवधी हो, चाहे व्रज, जहाँ भी अभिव्यक्ति की रोचकता, भावुकता और सुगमता का प्रश्न उठा, गोस्वामी ने आवश्यकतानुसार उत्तर भारत की अन्य भाषाओं एवं अरबी, फारसी के शब्दों का निस्संकोच प्रयोग किया, लेकिन अपनी मूल भाषा की प्रकृति को ज़रा भी बाधा नहीं पहुँचाई । अवधी तुलसी की निज की भाषा थी । इसलिए उन्होंने इसी को मानस की कला का माध्यम बनाया ।[1]

तुलसी का भाषा पर अपार अधिकार था । भावों के पीछे भाषा स्वयमेव रहती थी । सूक्ष्मतम भावों को भी कलात्मक ढंग से यथातथ्य वर्णन करके मानव-मन को, भाव-विभोर करने की उन में अपूर्व क्षमता थी । कल्पना और अनुभूति को जागृत करने के लिए उपयुक्त अलंकार योजना और उदार भाषा नीति में भी गोस्वामी सहज अविजेय कविकुल शिरोमणी हैं । शास्त्र, संस्कृत, लोक भाषा और लोकजीवन पर समान अधिकार के कारण उनकी भाषा में एक ओर सरलता और सहजता है । तुलसी केवल अलंकरण के लिए मुहावरे और अलंकारों का प्रयोग करते हैं, वहाँ अर्थ उनके हाथ से छूट जाता है ।

तुलसी की आशा, अभिलाषा, सन्तोष असन्तोष सभी ज्यों का त्यों उनके काव्य में प्रतिफलित है । तुलसी का महाकाव्य मानस एक परंपरा के चरम विकास का प्रतिनिधित्व करता है, यही नहीं, भावना चिन्तन और वैयक्तिक आचरण के समन्वय से कवि-व्यक्तित्व की समर्थ अभिव्यक्ति की दृष्टि से आज तक के हिन्दी काव्य में यह सर्वश्रेष्ठ है ।

---

1. तुलसी की काव्य कला, डा. भाग्यवती सिंह, पृ. 111.

तुलसीदास हिन्दी साहित्य के अतुलनीय एवं सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। रस, अलंकार, छन्द, विभाषाओं का प्रयोग, सन्देश की व्यापकता, धर्म की सेवा, संस्कृति की व्याख्या, प्रभाव प्रभृति बिन्दुओं की दृष्टि से हिन्दी का कोई कवि उनकी समता नहीं कर सकता। तुलसीदास भारतीय महाकवियों में वाल्मीकि, व्यास, एवं कालिदास तथा पाश्चात्य कवियों में होमर, दान्ते एवं शेक्सपीअर के समकक्ष हैं। रामचरितमानस रामायण एवं महाभारत के साथ साथ भारतीय साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है।

मानस-रचना का उद्देश्य :-

बालकाण्ड के मंगलाचरण में तुलसीदास ने मानस की रचना का उद्देश्य बहुत ही स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है।

"स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषानिबन्धमति मंजुलमातनोति।"[1]

अर्थात् अन्तःकरण के सुख के लिए श्रीरघुनाथ की अत्यन्त सुन्दर कथा को भाषा में बाँधकर तुलसी लिख रहा है। परन्तु भाषा में लिखने का उद्देश्य अपने ही सुख के लिए नहीं था। सब कुछ खोकर हिन्दू समाज आदर्शहीन और लक्ष्य भ्रष्ट हो चला था। जनसमाज के समक्ष जीवन का आदर्श तुलसी ने राम का मर्यादापूर्ण चरित उपस्थित करके प्रस्तुत किया।

मानस का उद्देश्य एक आदर्श परिवार और आदर्श समाज के निर्माण में सहयोग देना है। जिसका मेरुदण्ड त्याग, सत्य, प्रेम और मंगलकामना है। तुलसी काव्य का लक्ष्य भी "सुरसरि सम सब कहँ हित होय" हैं। उनमें लोकमंगलात्मक दृष्टिकोण की प्रधानता है। मानस में मानवता का भी ऐसा

---

1. मानस बाल 7

शुभ सन्देश है कि वह व्यक्ति, परिवार एवं समाज को युगों से प्रेरणा देता रहा है । प्रीति और मंगल को जीवन और समाज में प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से ही राम का अवतार है -

राम जन्मु जग मंगल हेतु ।[1]

राम की इस गाथा में ऐसे चरित्रों का समावेश किया गया जो समाज के सभी वर्गों के सब पदों के लिए आदर्श हो सके तथा प्रत्येक मनुष्य के लिए सभी परिस्थितियों का सामना करने और उनका समाधान ढूँढ लेने के उपायों का भी निर्देश कर सके ।

"स्वान्तः सुखाय" रचना का उद्देश्य किस प्रकार व्यापक "सर्वन्तः सुखाय" था । लोककल्याण की अभिलाषा से प्रेरित होकर उन्होंने श्रीराम के संपूर्ण जीवन का वर्णन किया जिस में उन्होंने सामाजिक जीवन के विकास के लिए उपयुक्त सभी तत्व भर दिये । पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन का आदर्श रूप प्रस्तुत करके तुलसी ने जन साधारण का जो उपकार किया उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । मानव जीवन की शारीरिक, मानसिक, और आत्मिक सभी प्रकार की उलझनों और समस्याओं को दूर करना उनकी रचनाओं का उद्देश्य है ।

भ्रातृ प्रेम, पितृवत्सलता, अपत्य प्रेम, राजा-प्रजा का संबंध, गुरु-शिष्य संबंध, पति परायणता आदि जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में अपेक्षित सभी श्रेष्ठ गुणों का आदर्श रूप उपस्थित करके मानस के माध्यम से अन्धकार में भटकनेवाले जनसाधारण को आलोक दिखाना और उन्हें मार्ग भ्रष्ट होने से बचाना चाहा । तुलसी का उद्देश्य मानस में विभिन्न घटनाओं एवं दृश्यों को काव्यात्मक ढंग से अधिकाधिक प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करना था ।

---

1. मानस अयो.: 253:3

तुलसीदास ने चौरासी लाख योनियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानव योनि को ही माना है । मानवशरीर पाने से भी क्या लाभ जब वह मन, वचन और कर्म से दूसरों के काम नहीं आया । अतः तुलसी की इन रचनाओं का संप्रेष्य मानव जीवन को सांसारिक उन्नयन में तल्लीन रखते हुए क्रमशः ईश्वरोन्मुख करना है । इस शरीर को ईश्वरीय निवास बनाने के लिए यह आवश्यक है । इसे भ्रष्टाचारों के द्वारा कलुषित नहीं किया जाय और अपने को किसी प्रकार से कलुषित नहीं करना ही सामाजिक नैतिक प्रतिमान की दृष्टि से भी श्रेयस्कर है । यह महाकाव्य मानवीय चेतना, व्यवहार और चरित्र के विकास पर बल देता हुआ, धरती के जीवन को सुन्दरता और शान्ति के साथ व्यतीत करने का सन्देश देता है ।

बेबिल रचना एवं महत्व :-

बेबिल एक सन्देश है, एक शीतल स्पर्श है, रास्ते की मशाल है, शान्ति की खोज है, मुक्तिदायी कृपा है, शिक्षा संपन्न खजाना है, शक्तिशाली शब्द है, प्रभावशाली वाणी है, क्रियाशील वचन है, सुन्दर सुसमाचार है, जीवन-दायिनी अमृत है, जीवन ज्योति है, ईश्वर का प्रेमपूर्ण विधान है, जो सुख, आनन्द तथा शान्ति के स्रोतों से भरा पड़ा है ।[1] बेबिल यूनानी शब्द बिब्लोस से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है पुस्तक । लतीनी भाषा में इस शब्द का बहुवचन रूप 'बिबलिया' प्रयुक्त होने लगा और यही शब्द लतीनी भाषा के द्वारा धर्मशास्त्र के रूप में सर्वत्र प्रचलित हो गया, बेबिल उस लतीनी शब्द का अंग्रेज़ी रूप या उच्चारण है ।[2] यह शब्द किसी साधारण पुस्तक के लिए प्रयुक्त नहीं होता । विश्व की एक तिहाई से भी अधिक जनता इसे पवित्र ग्रंथ के रूप में मानती है । साधारण पुस्तकों की अपेक्षा बेबिल अधिक भक्तिपूर्ण, ज्ञानवर्धक एवं प्रेरणादायक है, इसे वचन ग्रंथ माना गया है ।

---

1. पवित्र बेबिल, अनुवादक वाल्दबुलके, प्राक्कथन भाग
2. बेबिल प्रवेश, आर.एच.लासर पृ. 5

बैबिल में कुलमिलाकर 73 पुस्तकें हैं, और 40 लेखक हैं। जिन्हें लिखने में लगभग 1500 वर्ष से अधिक समय लगा। इन में से 46 पुस्तकें ईसा मसीह के आगमन के पहले लिखी गयी हैं। इसे पुराना नियम या प्राचीन विधान (ओल्ड टेस्टामेण्ट) कहते हैं। बाकी 27 पुस्तकें ईसा के आगमन के बाद लिखी गयी हैं। इसे नया नियम या नया विधान (न्यू टेस्टमेण्ट) कहते हैं। बैबिल की पहली पाँच पुस्तकें अर्थात् उत्पत्ति ग्रंथ, निर्गमन ग्रंथ, लेवी ग्रंथ, गणना ग्रंथ और विधि विवरण ग्रंथ मिलकर 'पेन्टाट्यक' कहलाते हैं। यह यूनानी (greek) भाषा का शब्द है, उसका अर्थ है पाँच पात्र। जानवरों के चमड़े पर हाथ से लिखे गये इन ग्रंथों को पाँच पात्रों में रखा जाता था। इन पाँच ग्रंथों का एक और नाम हैं "टोरा" अथवा पंचग्रंथ। "टोरा" इब्रानी भाषा का शब्द है, इसका अर्थ है संहिता। इसका कारण यह है कि इन पाँच ग्रंथों में यहूदियों के विधि विधान दिये गये हैं, जिन पर उनका नैतिक आचरण एवं धार्मिक विधियाँ निर्भर करती थीं। पुराना नियम की बाकी पुस्तकों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है, इतिहास, प्रज्ञा एवं नबियों के लेख। इतिहास में जोशुआ का ग्रंथ, न्यायकर्ताओं का ग्रंथ और सामुएल के दोनों ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त टोबित, यूदित, रूत एवं एस्तेर के ग्रंथों में भी इतिहास मिलता है। परन्तु दृष्टान्त और धर्मोपदेश इन ग्रंथों का मुख्य विषय था। प्रज्ञा में पाँच ग्रंथ हैं, जो ज्ञान साहित्य नाम से प्रसिद्ध हैं। अंग्रेज़ी में इन्हें Wisdom Literature कहते हैं। प्रज्ञा में सब से महत्वपूर्ण है स्तोत्र-ग्रंथ जिसे प्राचीन नियम का केन्द्र अथवा हृदय कह सकते हैं। इस में अनेक शक्तिमय प्रार्थनाएँ हैं। इसके अलावा जोब का ग्रंथ बहुत ही सुन्दर ढंग से बुराई की समस्याओं की ओर हमारा ध्यान खींचता है। सत्य की जीत इसका प्रतिपाद्य विषय है। सूक्ति, उपदेशक, प्रज्ञा एवं प्रवक्ता ग्रंथ में विभिन्न प्रकार की शिक्षा संबंधी सूक्तियाँ दी गयी हैं। इनके द्वारा पाठक अपनी जीवन शैली बदल सकता है। मनीषियों के चिरंतन चिन्तन, अनुभूति, परीक्षण,

---

1. पुराना नियम की भूमिका, पंचग्रंथ, सी. स्टेनली

निरीक्षण और कल्पना के सार भूत सत्य से युक्त ये सूक्तियाँ जीवन की अन्धी गलियों में भटकनेवाले लोगों को स्फूर्ति, प्रोत्साहन और आत्मबल के आलोकमय राजमार्ग पर ला खडा कर देती हैं । इन सूक्तियों में जीवन का शाश्वत सत्य निहित रहता हैं । इन सब से बढ़कर अटूट विश्वास और गहरी निष्ठा भी इन में मिलती है । सोलमन के सर्वश्रेष्ठ गीत (सोन्ग आफ सोन्गस) प्रेमगीत हैं, जो मनुष्य को मानवीय प्रेम द्वारा ईश्वरीय प्रेम तक पहुँचाते हैं । नबियों का महान नबी इसया, जेरेमिया, एज़्किएल एवं दानियेल हैं । छोटे छोटे नबियों में बारूक, होशेया, जोएल, आमोस, मीकाह, योना, नहूम, हबक्कूक, हग्गय, ज़कर्या, मलाकी और सफन्याह प्रमुख है । पुराना नियम की पुस्तकें यहूदियों की इब्रानी भाषा में लिखी गयी थीं । परन्तु नया नियम के सब लेख साधारण यूनानी (Greek) भाषा में लिखे गये, इन ग्रंथों ने अनेकों लोगों को प्रभावित किया ।

नया नियम में चार सुसमाचार प्रभु ईसामसीह के जीवन के बारे में हैं । इस में ईश्वर के सब से महान कार्य, येशु को मानव के उद्धार के लिए भेजने का वर्णन है । पुराना नियम के सन्देश की परिपूर्ति नया नियम में होती है ।[1] संत माथ्यू के सुसमाचार को बैबिल के उत्तरार्द्ध में प्रथम स्थान पर रखा गया है । उन्होंने ईसा की शिक्षा पर विशेष बल दिया है और उसे पाँच अपेक्षाकृत विस्तृत भाषणों में संकलित किया है । मसीह के व्यक्तित्व का सजीव चित्र, यानी क्षमाशील, प्रेमपूर्ण तथा क्षमादान के भाव से भरपूर व्यक्ति का चित्र, जिन्होंने अपने अनुयात्रियों को सिखाया कि निन्दित होने पर, या प्रहार किये जाने पर, वे बदला न लें, किन्तु, एक गाल पर थप्पड खाने पर दूसरा भी सामने कर दें, आदि शिक्षा मिलती हैं । पर्वत प्रवचन को समस्त प्रवचन की शीर्ष "चट्टान" कहा गया है । यह कथन सामाजिक आचरण की सब से ऊँची चोटी है,

---

1. "Jesus Christ is the Messiah, promised in the Old Testament". Background to the gospels, J.N.M.Wijngaards, mhom, P.21.

और नैतिक आचरण संबंधी शिक्षा की स्वरेस्ट है । संत मारक का सुसमाचार सब से संक्षिप्त और सब से प्राचीन है । वह ईसा की शिक्षा पर कम, उनके चमत्कारों पर अधिक बल देता है ।[1]

संत लूक गैर यहूदी और वैद्य भी थे । वे विशेष रूप से पापियों के प्रति ईसा की दयालुता तथा दीन-हीन लोगों के साथ उनकी सहानुभूति का चित्रण करते हैं । वे इस बात पर अधिक बल देते हैं कि ईसा समस्त मानव जाति के लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने आये हैं । येशु का इस पृथ्वी पर जीवन एक क्रियाशीलता का आरंभ मात्र है, जिसका कोई अन्त नहीं है । लूक ने ईसा को रक्षक के रूप में चित्रित किया है । संत जोन ईसा के प्रिय शिष्य थे । अन्य सुसमाचारों की मूल बातें उनके सुसमाचार में भी मिलती हैं, जैसे योहन बपतिस्मा का साक्ष्य, ईसा के चमत्कार तथा प्रवचन, सन्देश, उनका दुःख भोग तथा पुनरुत्थान आदि । सन्त जोन का उद्देश्य यह प्रमाणित करना है कि ईसा ईश्वर के पुत्र हैं । वह त्रियेक ईश्वर के द्वितीय व्यक्ति हैं॰ शब्द ने शरीर धारण कर हमारे बीच निवास किया ।[2] वह मनुष्य भी है और ईश्वर भी, उन्होंने मनुष्य के पापों का प्रायश्चित्त कर उन्हें नवजीवन प्रदान किया है । वह ईसा के विषय में यह कहता है कि वह ईश्वर का मेमना है, वह संसार का पाप हरता है । मेमना निर्दोषता का प्रतीक है ।

नया नियम का पंचम ग्रंथ, प्रेरित चरित में ईसाई धर्म का प्रारंभिक प्रसार प्रस्तुत करता है । सन्त जोन और संत पोल की रचनाएँ ईसाई धर्म विज्ञान की नींव हैं । प्रभु ईसा मसीह के बाद संत पोल न्यू टेस्टमेण्ट के सब से महत्वपूर्ण व्यक्तित्व हैं । पोल पहले ईसाइयों पर अत्याचार करते थे,

---

1. The Daily Study Bible, Gospels of St.John, Dr.William Barclay, Page.1.
2. बैबिल जोन 1:1-3

किन्तु डमास्कस के निकट ईसा के दर्शन होने के बाद वह पचीस वर्ष की अवस्था में ईसाई धर्म के अनुयायी बन गये । उन्होंने यहूदियों एवं गैर-यहूदियों में डमास्कस अन्त्योक्या, कुप्रस, एशिया मैनर, मकदोनिया, यूनान, रोम तथा स्पेन में भी ईसाई धर्म का सफल प्रचार किया । रोमियों के नाम पत्र, कोरिन्थियों के नाम दो पत्र, गलतियों के नाम पत्र, थेसलोनियों के नाम दो पत्र, फिलिप्पियो के नाम पत्र, कोलोसियों के नाम पत्र, एफेसियों के नाम पत्र, फिलिमोन के नाम पत्र, तिमथी के नाम दो पत्र, इब्रानियों के नाम पत्र आदि तेरह पत्र संत पोल के नाम से संकलित हैं । पोल के पत्रों से पता चलता है कि उनके अथक परिश्रम का प्रेरणा स्रोत प्रभु ईसामसीह की अनन्य भक्ति थी । वह कहता है "मेरे लिए तो जीवन है येशु, और मृत्यु है उनकी पूर्ण प्राप्ति । भक्ति एवं धर्मोत्साह के अतिरिक्त पोल के व्यक्तित्व की तीसरी विशेषता ईसाई धर्म के विषय में उनका मौलिक चिन्तन है । वे पण्डित भी हैं और कई भाषाओं के ज्ञानी भी हैं । वे शताब्दियों से ईसाई धर्मपण्डितों को प्रभावित करते आ रहे हैं । अन्य पत्र-संत याकोब के नाम पत्र, पीटर के नाम पत्र, और यूदस के नाम पत्र में दूसरे प्रेरितों तथा आरंभिक ख्रिस्तियों की ओर से हैं । संत जोन के पहले, दूसरे और तीसरे पत्र का रचयिता अपने को ईसा के जीवन का प्रत्यक्ष दर्शी कहता है। बैबिल का अन्तिम ग्रंथ प्रकाशना ग्रंथ है । इस ग्रंथ का रचयिता संत जोन है, इन में विद्वानों में मतभेद भी है । इसके विभिन्न प्रतीकात्मक दृश्यों का उद्देश्य संसार के अन्त में बुराई की शक्तियों की पराजय, संसार के न्याय तथा मसीह की महिमा-प्राप्ति का प्रतिपादन है । यह एक रहस्यात्मक पुस्तक है जो दु:ख संकट में रहनेवाले आरंभिक ख्रिस्तियों को देने के उद्देश्य से लिखी गयी है । यह यहूदी शिल्प पर लिखी गयी है । यह दो युगों की मूल परिकल्पना पर आधारित है । इस में वर्तमान युग का वर्णन है जो पूरी तरह बुरा है, जो नष्ट होने को है, जो शैतानी शक्तियों के हाथ में है । दूसरी ओर भावी युग का वर्णन है । वह नये आकाश और नयी पृथ्वी का युग होगा, जिसमें ईश्वर सब कुछ नया करेगा ।

---

1. नया विधान न्यू टेस्टमेण्ट, डा.कामिल बुल्के, भूमिका भाग

बैबिल के विषय

ऐतिहासिक पुस्तकें :-

इतिहास समाज की चेतना तथा उसके विकास का प्रवाह है। वह हमारे समक्ष किसी युग के महान क्षणों और व्यक्तियों की झलकियाँ दिखाता हैं। इतिहास सत्य का अन्वेषक होता है, अतः इनकी पैनी दृष्टि, अतीत की घटनाओं के अन्तराल में सर्वसामान्य के समक्ष रख देती है। मनुष्य की जाति, भाषा, धर्म, रहन, सहन आदि इसके मौलिक उपादान है। इतिहास का महत्व वर्तमान की समस्याओं अथवा भविष्य की गतिविधियों के लिए कम नहीं है। इतिहास सुन्दर वर्तमान तथा सुखद भविष्य के निर्माण की प्रयोगशाला बन जाता है।[1] ज्ञात घटनाओं की मर्यादा के अतिरिक्त इतिहास घटनाओं के स्रोत की खोज करता है। बैबिल की ऐतिहासिक पुस्तकों का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण है जिस से लेखक समय और परिवर्तन को देखते हैं। बैबिल में इस्राएल और यहूदी समाज का इतिहास इब्रानी लोगों और यहूदी लोगों से संबंधित घटनाओं उनके कारण एवं परिणामों के प्रति एक वैज्ञानिक उपागम है। लेखकों ने मानवीय इतिहास के कथानक में ईश्वर के कार्यों का वर्णन किया।

इतिहास ग्रंथों में 26 पुस्तकें हैं - पुराना नियम में "पंचग्रंथी" से लेकर मकाबियों के "दूसरा ग्रंथ" तक और नया नियम के सुसमाचार और प्रेरितचरित।[2]

"उत्पत्ति" में सृष्टि के आरंभ का महिमामय वर्णन निहित है ; संसार, पौधे, जानवर और मानव जाति की उत्पत्ति के विषय आदि।

---

1. दैनिक समाचार पत्र, दिनांक 25 फरवरी 1969.

2. The Daily study Bible, Acts of the Apostles, Introduction, P.1.

निरंतर प्रगति करनेवाले मनुष्य की विभिन्न समस्याएँ एवं उनका सुलझाव इस में मिलता है । परिवार को स्थापना, पाप का आरंभ एवं मनुष्य का पतन, दिव्य प्रकाश का दिया जाना, मानव जाति का विकास एवं उन्नति, तथा ईश्वर की योजना का उद्घाटन जिस से वह चुने हुए लोगों के द्वारा छुटकारे का कार्य पूर्ण करे - इन सब विषयों का वर्णन किया गया है ।

निर्गमन पुस्तक में इस्राएलियों का मोसस के नेतृत्व में मिस्र के दासत्व से निकाले जाने का इतिहास है । मोसस के बनाये गये यहूदी-कानन में टेन-कमाण्डमेण्ट्स का प्रभाव अब भी लोगों पर पर्याप्त मात्रा में हैं । फसह का विधान यह सिखाता है कि ईश्वर का रक्षण और विमोचन उसकी ही शर्तों पर संभव है । मेघ के खम्भ[1] और अग्नि के स्तम्भ के द्वारा उसके नेतृत्व से यह सीख मिलती है कि जो ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करते हैं उन्हें ठीक रास्ता मिलता है । लाल समुद्र पर इस्राएलियों का छुटकारा ईश्वर का एक ऐसा महाकार्य है जिसकी गुणात्मक दृष्टि से तुलना येशु की मृत्यु से की जाती है जो मनुष्य के उद्धार के लिए ईश्वर का महानतम कार्य है । सीनै पहाड पर हम ईश्वर की गौरवपूर्ण पवित्रता की शिक्षा प्राप्त करते हैं कि उसके पास पहुँचना मानवीय योग्यता की बात नहीं, वरन् पूर्णतया अनुग्रह की बात है ।

न्यायियों की पुस्तक में हमें यह शिक्षा मिलती है कि ईश्वर इतिहास का शासक है, कि संकट बहुधा उसकी ओर से दण्ड है, तथा छुटकारा उसकी दया का काम है, जीवन अनुशासन की पाठशाला है जिस में हमें किसी न किसी प्रकार यह सिखाया जाता है कि ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करना और उसकी इच्छा की पूर्ति करना जीवन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात है । हमें

---

1. बैबिल निर्ग: 13:21 - प्रभु दिन में उन्हें रास्ता दिखाने के लिए बादल के खम्भे के रूप में और रात को उन्हें प्रकाश देने के लिए अग्नि स्तंभ के रूप में आगे-आगे चलता था, जिस से वे दिन और रात में भी यात्रा कर सकें ।

यह सिखाया जाता है कि हम पहले ईश्वर के राज्य की खोज करें और सब से अधिक उस से प्रेम करें ।

जोशुआ की पुस्तक एक महाकाव्य जैसी है । मोसस का उत्तराधिकारी जोशुआ तीन आश्चर्यजनक कार्यों के लिए प्रख्यात है । पहला तो उसने इस्राएल की जनता को जोर्दान नदी में इस प्रकार प्रवेश कराया, जैसे वह सूखी नदी हो । दूसरा उसने जेरीको नगर पर रणवाद्यों तथा शंखनादों से विजय प्राप्त कर ली । तीसरा कहा जाता है कि सूर्य-चन्द्र की गति अवरुद्ध कर दी थी । जोशुआ की पुस्तक में एक नायक के वीरतापूर्ण कार्य के वर्णन के साथ साथ एक जाति का इतिहास भी है । ग्रीक इतिहास में अलक्सान्द्र की विजयों का जो महत्व है, वही यहूदियों के इतिहास में जोशुआ के सैनिक अभियानों का है ।

रूत की पुस्तक में गरीबी में भी ऊँचे सद्गुणों का चित्रण किया गया है । इस पुस्तक से यह शिक्षा मिलती है कि विश्वास का अपना पुरस्कार है, क्योंकि रूत न केवल पारिवारिक प्रेम की पूर्णता का अनुभव करती है, वरन् ईश्वर की योजना में वह संसार के सर्वश्रेष्ठ वंश में प्रवेश करती हैं ।

सामुएल इस्राएल में नबी बनाया गया और उनके द्वारा ईश्वर आश्चर्य कर्म करता है और अपने लोगों का मार्गदर्शन करता तथा राज तंत्र का रूप स्थापित करता है । वीर कर्म के नेता के रूप में साऊल प्रसिद्ध हो गये । राजा के कार्यों में वह इस्राएलियों के लिए गर्व का विषय था ।[1] परन्तु उसने आज्ञा का पालन न किया और उसका पतन हुआ ।[2] दावीद राजा इस्राएल जाति के गले का हार था, ईश्वर के लिए उत्साही था, परन्तु जब उसने बुरा काम किया तो वह अपनी प्रजा के निम्नतम व्यक्ति से भी बडा पापी माना गया ।[3]

---

1. 1 सामुएल 10:24
2. वही
3. बैबिल 2 सामुएल: 12:7

राजाओं की पुस्तक में यह शिक्षा मिलती है कि राष्ट्र का राजनीतिक संगठन उसके नैतिक आत्मिक संगठन के सामने बिलकुल गौण है ।

इतिहास की पुस्तकों से यह शिक्षा मिलती है कि ईश्वर सर्व-व्यापी हैं, सर्व ज्ञानी हैं, सर्वसमर्थ हैं । इस संसार में ईश्वर क्रियाशील है । इतिहास का लेखक यह स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है कि ईश्वर बुराई के लिए दण्ड और भलाई के लिए पुरस्कार देने के द्वारा अपनी नैतिक व्यवस्था को बनाए रखता है ।

एज़्रा-नेहम्याह की पुस्तकों से यह शिक्षा मिलती है कि हम पहले ईश्वर के राज्य और उसकी धार्मिकता की खोज करें । इन पुस्तकों में विश्वास की शुद्धता पर ज़ोर दिया गया है ।

एस्तेर की कथा ऐतिहासिक है । एस्तेर की कथा में ईश्वरीय योजना का एक अद्भुत उदाहरण पाते हैं । पुस्तक से यह शिक्षा मिलती है कि आपत्ति के समय में ईश्वर ने अपने लोगों की रक्षा की । जब उसके ऊपर भारी विपत्ति के बादल थे, तब ईश्वर ने उनकी सुध लेने के लिए एस्तेर को उठाया । ईश्वर की यह पद्धति है कि वह अपनी योजना की पूर्ति के लिए मनुष्यों का उपयोग करता है । एस्तेर ने ईश्वर की इच्छा को पूरी करने की चेष्टा की और ईश्वर ने उसे ठीक मार्ग दिखाया ।

एपीफानोस के शासन काल में यहूदियों पर घोर धार्मिक अत्याचार हुए । उनका वर्णन मकाबियों के पहले ग्रंथ के आरंभ में आया है । यह राजा अपने पूरे साम्राज्य में धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकरूपता स्थापित करना चाहता था । मकाबियों का दूसरा ग्रंथ पहले का पूरक नहीं है । दूसरे ग्रंथ में

बार बार ईश्वर का नाम लिया गया है और चमत्कारपूर्ण घटनाओं की भरमार है। इसका लेखक पाठकों के सामने एक ऐसा पवित्र ग्रंथ उपस्थित करना चाहता है, जो ईश्वर की अलौकिक सहायता में आस्था उत्पन्न करें।

नया नियम के प्रथा चार ग्रंथ सुसमाचार कहलाते हैं, क्योंकि उन में ईसा द्वारा घोषित मानव जाति की मुक्ति का शुभ सन्देश मिलता है। चारों में ईसा की जीवनी तथा उनकी शिक्षा का वर्णन किया गया है और उनका मूल विषय भी एक है। वह यह है कि नाज़रेथ के येशु यहूदी धर्मग्रंथ के प्रतिज्ञात राजा ईसा मसीह हैं। संत मात्यु ने यहूदियों के समक्ष येशु को यहूदियों का राजा बनाकर प्रस्तुत किया। इस पुस्तक का मुख्य विषय स्वर्ग राज्य है। संत मात्यु ने ईसा की शिक्षा पर विशेष बल दिया है। पहाडी उपदेश, दस शिष्यों का भेजा जाना, स्वर्ग के राज्य के दृष्टान्त, बडप्पन और क्षमा का अर्थ आदि में उनके उपदेशों का स्पष्ट महत्व है। संत मारक के सुसमाचार का मुख्य उद्देश्य ईसा मसीह को ईश्वर के सर्वशक्तिमान पुत्र के रूप प्रस्तुत करता है। संत लूक ने येशु को एक आदर्श मानव के रूप में प्रस्तुत किया है। वे इस बात पर अधिक बल देते हैं कि ईसा समस्त मानव जाति के लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने आये हैं, विशेष रूप से पापियों के प्रति ईसा की दयालुता तथा दीन-हीन लोगों के साथ उनकी सहानुभूति का चित्रण करते हैं। ये चारों सुसमाचार एक साथ ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक और दार्शनिक ग्रंथ है। संत जोन का उद्देश्य यह प्रमाणित करना है कि ईसा त्रियेक, पिता, पुत्र और पवित्रात्मा में द्वितीय स्थान (पुत्र) पर हैं।

प्रेरित चरित में ईसाई धर्म का प्रारंभिक प्रसार प्रस्तुत किया गया है। इसके पूर्वार्ध में यरूशलेम तथा पालस्तीन में ईसाई कलीसिया की स्थापना के बाद गैर-यहूदियों का धर्म परिवर्तन तथा सन्त पोल का प्रथम प्रचार यात्रा का वर्णन मिलता है। उसके अन्त में यरूसलेम की प्रथम ईसाई महासभा का विवरण दिया गया है।

सामाजिक पुस्तकें :-

मनुष्य के समष्टि रूप का नाम ही समाज है । समाज में ऐसे व्यक्तियों का समूह स्वीकार किया जाता है जो किसी विशेष उद्देश्य से लेकर एकत्रित हुए हैं । समाज का वास्तविक स्वरूप साहित्य में देखा जा सकता है । समाज निर्माण के पश्चात् साहित्य का निर्माण होता है और दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं । बैबिल में यहूदी और इस्राएल समाज के द्वारा प्राचीन पश्चिम एशियाई समाज की स्थिति का भी उल्लेख मिलता हैं ।

जेरेमिया की पुस्तक में कहा गया है कि जेरेमिया के कार्य कलाप का युग यूदा राज्य का अन्धकारमय युग था । जेरेमिया ऐसे लोगों का आदर्श हैं जिनकी दुर्बलताओं में ईश्वर की सामर्थ्य पूर्ण होती है । ईश्वर हृदय को देखता है, वह हृदय और मन का परीक्षण करता है । ईश्वर के साथ ठीक संबंध का अर्थ है हृदयपरिवर्तन आदि । उन्होंने अपने उपदेशों में धर्म के आध्यात्मिक मूल्यों और आत्मा-परमात्मा के घनिष्ठ संबंध पर विशेष बल दिया । ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण तथा दुःखभोग का जीवन बिताने के कारण जेरेमिया ईसामसीह के प्रतीक माने गये ।

एज़कियेल की पुस्तक में आशा का महान संदेश है । एज़कियेल ने शिक्षा दी कि ईश्वर व्यक्तियों और जातियों, व्यष्टि और समष्टि दोनों के लिए चिंताशील रहता है । उसका न्याय दोनों पर समान रूप से लागू होता है। एज़कियेल यह मानता था कि पाप के प्रतिफल का दायित्व समाज और जाति पर भी है, तथापि ईश्वर के सामने मूलतः व्यक्ति पर दायित्व है ।[1] यज़कियेल के वचनों से यह शिक्षा भी मिलती है कि मनुष्य का संपूर्ण जीवन ईश्वर की पवित्र इच्छा के अधीन होना चाहिए ।

---

1. बैबिल एसकि 18:20

बारूक की पुस्तक में पाप के लिए क्षमा-याचना करने का सन्देश है । यहाँ मूर्तिपूजा की व्यर्थता का भी वर्णन मिलता है ।

इक्कीस पदों की ओबद्याह की पुस्तक नबियों की रचना में सब से छोटी है । इस में दावीद राजा के वंश की पुनःस्थापना और भावी सुख-समृद्धि का वर्णन मिलता है ।

रोमियों को लिखे गये पत्र में संत पोल ने छुटकारे के विषय को परिभाषित और विकसित किया है । यह पत्र नया नियम में उद्धार के कार्य का विस्तृत एवं क्रमबद्ध वर्णन करती है । संत पोल ने इस में आदर्श मसीही जीवन बिताने का आह्वान दिया है । इस में बताया गया है कि सेवा, भ्रातृप्रेम, अनुशासन, आत्मसंयम आदि से ईश्वर की स्तुति करना उचित है ।

एफेसियों के नाम पत्र में संत पोल लोगों को "मसीह की देह" कहता है अर्थात् मसीह को सिर तथा लोगों को उसके अंग । अतः ये लोगों का एक संगठन नहीं परन्तु एक जीवित देह है जो इस संसार में निर्गुण ईश्वर द्वारा क्रियाशील है । समाज को ईश्वर का घराना कहा गया है कि जिस में लोगों का आचरण ईश्वर के अनुकूल होता है और वे ईश्वर का अनुकरण करते हैं । संत पोल इस में एकता बनाये रखने और नवीन स्वभाव धारण करने का अनुरोध करते हैं । आदर्श परिवार का लक्षण इस में मिलता है ।

फिलिप्पियों के नाम पत्र में संत पोल प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच आनन्दित रहने का उपदेश देते हैं । येशु की विनम्रता का अनुकरण करें, एकता बनाये रखें, संजीवन शिक्षा प्रदर्शित करते रहें, ईश्वर का अनुकरण करें, संघर्ष में दृढ बने रहें आदि विषयों का भी उपदेश फिलिप्पियों को देते हैं ।

थेसलोनियों के नाम पत्र में शुद्धता, भ्रातृप्रेम, परिश्रम का महत्व, मृतकों का पुनरुत्थान आदि विषयों का उल्लेख मिलता है ।

संत याकोब के पत्र में कर्मों का महत्व, परनिन्दा का निषेध, धनियों की चेतावनी, प्रार्थना की आवश्यकता आदि का विवरण दिया गया है ।

संत यूदस के पत्र में, यूदस, पाप से अलग रहने का आह्वान देता है ।

संत पीटर के पहले पत्र में, पीटर, ईश्वर के अनुरूप जीवन बिताने का उपदेश देता है । साथ ही साथ गैर-यहूदियों को सदुदाहरण, शासकों की अधीनता, विवाह के कर्तव्य, भ्रातृप्रेम, अत्याचार से धैर्य, निष्पाप जीवन आदि विषयों पर ज़ोर दिया गया है ।

संत जोन के पहले, दूसरे और तीसरे पत्र में अनुरोध करते हैं कि एक दूसरे को प्यार करें, ईश्वर तथा मनुष्यों को प्यार करें क्योंकि ईश्वर प्रेम है ।

धार्मिक पुस्तकें :-

बैबिल धर्मग्रंथ है । अन्य विषयों की अपेक्षा इन में धार्मिकता का अधिक महत्व दिया गया है । बैबिल का पाठ करने से मनुष्य विश्वास का जीवन बिताना सीख लेता है और उसे अपने जीवन में चरितार्थ करने की कोशिश करता है ।

धार्मिक ग्रंथों में 17 पुस्तकें हैं - एशया, दानियेल, होशे, आमोस, विलापगीत, होसिया, जोएल, योना, नहूम, सफन्याह, हग्गय, मलाकी, भजन गीत, कोरिन्थियों के नाम पत्र, गलतियों के नाम पत्र, थिमथी के नाम पत्र, इब्रानियों के नाम पत्र, और सुसमाचार ।

नबी यशाया ने अपनी संपूर्ण पुस्तक में ईश्वर की धार्मिकता का प्रचार किया । उसने अपने लोगों को पाप और उसके दण्ड के लिए चेतावनी दी । ईश्वर प्रेम, दया और क्षमाशीलता का प्रचार कर उन्हें सान्त्वना दी, और प्रोत्साहित किया कि वे उसकी आज्ञा का पालन करके इनका अपने जीवन में अनुभव करें । पुराना नियम के नबियों की पुस्तकों में दानियेल की पुस्तक महत्वपूर्ण है । गैर-यहूदियों का समय, पाप-पुण्य का प्रकट होना, महाक्लेश, मसीह का द्वितीय आगमन, पुनरुत्थान एवं न्याय इस पुस्तक का विषय है । धर्म विज्ञान की दृष्टि से इसका विषय ईश्वर की सार्व भौमिकता है ।

होशे की पुस्तक ईश्वर के अपरिवर्तनीय प्रेम की द्योतक है । इस्राएलियों का कनानियों के सदृश मूर्तिपूजा में विश्वास करने तथा अन्य पन्थों की ओर मुड़ जाने के कारण होशे नबी प्रजा को बार बार चेतावनी देता है कि वह ईश्वर के अगाध प्रेम के समक्ष अपने पापों पर पश्चाताप करें । होशे की शिक्षा में यह दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है कि जिस तरह होशे अपनी अविश्वासी पत्नी से प्रेम करते रहते हैं, उसी तरह मनुष्यों के पापों के होते हुए भी ईश्वर का अनुग्रह उन पर अपरिवर्तित रहता है ।[1] संपूर्ण पुस्तक में इस्राएल के प्रति ईश्वर के प्रेम को दर्शाया गया है । होशे ने वैवाहिक प्रतीक के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम का प्राधान्य स्पष्ट किया था ।

आमोस की पुस्तक में कहा गया है कि सामाजिक न्याय तो सच्ची पवित्रता की आवश्यक अभिव्यक्ति है । आमोस तो ईश्वर के न्याय तथा धार्मिकता के लिए एक ओजस्वी सन्देशवाहक था । आमोस ने घोषणा की कि ईश्वर अपनी अविश्वसनीय, आज्ञाकारी तथा तोड़नेवाली प्रजा का न्याय करेगा । आमोस जिस ईश्वर की ओर से बोलता है, वह केवल इस्राएलियों का ईश्वर नहीं है, वह तो समस्त जातियों का शासक एवं जीवनदाता है ।

---

1. बैबिल होशे 11:1-4

विलापगीत की पुस्तक में उस विपत्ति का भावपूर्ण वर्णन है जिस से बडी विपत्ति इस्राएल जाति को उनके समस्त इतिहास में कभी नहीं सहनी पड़ी । जब कष्ट और व्यथा के दिन हमारे जीवन में आते हैं तो इस पुस्तक के समझने के प्रयास से हम ईश्वर की चिरंतन भलाई के मार्ग पर आ जाते हैं । यह अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है कि विलापगीत में ईश्वर के सर्वाधिकार पर कहीं शंका नहीं की गयी है । यदि हम पाप करते जाए तो पवित्र और धार्मिक ईश्वर की ओर से हमें दण्ड की अपेक्षा करनी चाहिए । हम यह सीखते हैं कि सियोन के समान यदि हमारा जीवन और यह संसार खंडहरों का ढेर भी हो, तब भी ईश्वर की सच्चाई और स्वरूप एक स्थायी नींव और आशा का आधार है - हम मिट नहीं गये, ईश्वर की महाकरूणा का फल है, क्योंकि उसकी दया अमर है । आशा का यह निश्चित आधार हमारे समक्ष रखा गया है और हमें यह बताया गया है कि हम उस विनाश से, जो अपने पापों के कारण हम पर आया है, ऊपर उठें, हम अपने चाल-चलन को ध्यान से परखें और ईश्वर की ओर फिरें । तमसो मा ज्योर्तिगमया की ओर हमारे विचारों को उन्मुख करने के लिए इस पुस्तक का अंश विशेष महत्व का है ।

जोएल की पुस्तक से यह सीखते हैं कि ईश्वर को मानवीय नियति का नियंता स्वीकार करना चाहिए और इस रूप में ही उसके प्रति अपने सारे जीवन में व्यवहार करना चाहिए ।

योना की पुस्तक का विषय यह है कि ईश्वर सब मनुष्यों का उद्धार चाहता है । मीका की पुस्तक में कहा गया कि ईश्वर सामान्य मनुष्य के अधिकारों की रक्षा करता है ।

नहूम की पुस्तक का केन्द्रीय विषय निनिवे पर उसकी क्रूरता, अत्याचार, मूर्तिपूजा तथा दुष्टता के कारण ईश्वर का दण्ड है ।

सफन्याह की पुस्तक में कहा गया कि ईश्वर पवित्र और धर्मी
। अतः वह अपने लोगों से पवित्र और धार्मिक जीवन की अपेक्षा करता है ।

हग्गय की पुस्तक में ईश्वर की महिमा पर बल मिलता है ।
विपत्तियों का मूल कारण प्रभु की अवज्ञा है । बारूक की पुस्तक में ईश्वर के विषय
ं उत्तम शिक्षाएँ दी गई हैं ।

भजनों में इस्राएल जाति के भावों और मनोदशाओं की
ाभिव्यक्ति है । इस पुस्तक में कहा गया कि हमें प्रत्येक स्थिति में ईश्वर के पास
ाने की चेष्टा करना चाहिए । ईश्वर पर सदा भरोसा करना चाहिए । क्योंकि
ह अपने प्रेम, करुणा, सच्चाई और धार्मिकता में परिपूर्ण हैं ।

मलाकी की पुस्तक के मुख्य विषय हैं याजकों (पुरोहितों) के
ष्टाचार, लोगों का अपने परिवार के विरुद्ध पाप तथा विजातियों के साथ
विवाह और बहुप्रचलित तलाक का विरोध । मलाकी ने बारंबार ईश्वर की
ार्वभौमिकता के विषय में कहा कि ईश्वर पिता हैं, स्वामी हैं, महान् राजा
। मलाकी की पुस्तक में हमें यह शिक्षा भी मिलती है कि अन्य धर्म के अनुयायियों
उनके ईश्वर के प्रति जो सच्ची भक्ति भावना मिलती है उस भावना का हम
ादर करें ।

कोरीन्थियों के नाम दूसरे पत्र में संत पौल ने अनेक धार्मिक
िद्धान्त प्रस्तुत किये हैं । इन में विशेष रीति से ईश्वर का स्वभाव, स्वरूप और
सकी कार्यप्रणाली वर्णित हैं । नई और पुरानी वाचा में भिन्नता दिखाई गई
। स्वर्ग का वर्णन, स्वर्ग प्राप्ति का महत्व, ईश्वर से एकाकार आदि का
ी वर्णन है ।

गलतियों के नाम पत्र में उद्धार के विषय पर ज़ोर दिया गया है । संत पोल का कहना है कि आत्मा और शरीर एक दूसरे के विरोधी है, इसलिए लोगों को आत्मा की प्रेरणा के अनुसार चलना चाहिए । आत्मा का फल है - प्रेम, आनन्द, शांति, सहनशीलता, मिलनसारी, दयालुता, ईमानदारी, सौम्यता और संयम । शरीर के कुकर्म - व्यभिचार, अशुद्धता, लम्पटता, मूर्तिपूजा, जादू-टोना, बैर, फूट, ईर्ष्या, क्रोध, स्वार्थपरता, मनमुटाव, दलबन्दी, द्वेष, मतवालापन, रंगरलियाँ और इस प्रकार की और बातें आदि छोडने का उपदेश दिया गया है ।

थिमथी के नाम पत्र में पुनर्जीवित ईसा को बराबर याद रखने का और विश्वासियों का आदर्श बनने का अनुरोध करते हैं ।

इब्रानियों के नाम पत्र में कहा गया है कि ईसा ईश्वर के पुत्र और मनुष्यों के भाई हैं, ईसा मनुष्यों को दुर्बलताओं से सहानुभूति रखते हैं । इसलिए हम विश्वास द्वारा ईश्वर के विश्राम स्थान में प्रवेश करें ।

सुसमाचार में कहा गया है कि ईश्वर सब लोगों को अपने अस्तित्व का साक्ष्य देता है - अपने वरदानों, अपनी सृष्टि, अपने कार्यों द्वारा उसने अपने नियम मनुष्य के हृदय पर अंकित किये हैं । इन पुस्तकों में विशेष रूप से वर्णन किया गया है कि ईश्वर आत्मा हैं, ईश्वर प्रेम हैं, ईश्वर का प्रेम ईसा मसीह में प्रकट हुआ है, ईश्वर पिता हैं, ईश्वर दयालु हैं, ईश्वर सृष्टिकर्ता है, अद्वितीय हैं, सर्वशक्तिमान हैं, परम स्वतंत्र हैं, ईश्वर अविकारी हैं, अपरिवर्तनशील हैं, जीवन्त हैं, अनश्वर हैं, अमर हैं, शाश्वत हैं, अनादि अनन्त हैं, ईश्वर सत्य प्रतिज्ञ और सत्यवादी हैं, न्यायकर्ता हैं आदि।ईश्वर पक्षपात नहीं करते हैं । ईसा में प्रज्ञा तथा ज्ञान की संपूर्ण निधि निहित है । वह अदृश्य रूप में संसार में विद्यमान हैं ।

इस प्रकार बैबिल की कई पुस्तकों में धार्मिक विषयों को काफी महत्व दिया गया है । मनुष्य को किस प्रकार जीना चाहिए इसकी ओर इन ग्रंथों में संकेत मिलते हैं । ईश्वर में विश्वास सब पापों का नाश करता है । मनुष्य को मनुष्य का आदर एवं हित करना चाहिए । दूसरों का अहित पाप होता है और ईश्वर इस के लिए दण्ड देता है । ईश्वर की महानता और मनुष्य की लघुता का चित्र खींचते हुए यह शिक्षा दी गई है कि धार्मिक आचरण से मनुष्य ऊपर उठ सकता है । स्वर्गराज्य उसके लिए है ।

दार्शनिक पुस्तकें :-

बैबिल का विश्व संबंधी दृष्टिकोण जो ईसाई जीवन दर्शन है, यह सूक्ष्मता के साथ देखा जाय तो वह विद्यानुराग ही है, यही साहित्य का मार्ग है । इसके अनुसार जीवन एक कार्य व्यापार है, एक तीर्थयात्रा है, एक प्रयाण और उन्नति है जो बैबिल के आरंभिक अध्यायों से प्रारंभ होकर अन्तिम अध्यायों में जाकर समाप्त होता है । जो वृद्धि, विकास एवं पूर्ति की एक झलक है वह दर्शन है ।

दार्शनिक पुस्तकों में उत्पत्ति, दानियेल की पुस्तक, सभा-उपदेशक, हबकूक, संत जोन रचित सुसमाचार, प्रकाशना ग्रंथ आदि श्रेष्ठ हैं । संत जोन रचित सुसमाचार नया नियम की सब से बहुमूल्य दार्शनिक पुस्तक है । यह ऐसी पुस्तक है जो सब से अधिक मनुष्य के मन को बल देती है, हृदय को तृप्त करती है और आत्मा को विश्राम देती है । गरूड संत जोन का प्रतीक है । कारण यह है कि सब जीवधारियों में गरूड की एक ऐसा जीवधारी है जो सीधे सूर्य को देख सकता है पर उसकी आँखें नहीं चौंधियाती, और संत जोन में नया नियम के सब लेखकों में अधिक अनन्त रहस्यों और शाश्वत सत्यों और ईश्वर के मानस को देखने की अत्यन्त पैनी दृष्टि है । संत जोन ने अपने सुसमाचार में

दो तथ्यों पर बड़ा ज़ोर दिया है । एक ओर वह येशु के वास्तविक मनुष्यत्व और येशु की सच्ची मानवता पर ज़ोर देता है, दूसरी ओर येशु के वास्तविक ईश्वरत्व पर ज़ोर देता है । संत जोन येशु के पूर्व अस्तित्व पर ज़ोर देता है, सर्वज्ञानी होने पर ज़ोर देता है । उत्पत्ति की पुस्तक का आरंभ सृष्टि के दर्शन सिद्धांत से होता है ।

सभोपदेशक की पुस्तक में लेखक अपने व्यक्तिगत अनुभव के द्वारा यह दर्शाना चाहता है कि यदि सांसारिक सुख और आशिष प्राप्त करना ही उद्देश्य है तो उसका अन्त असन्तोष और अतृप्ति होता है । ईश्वर का आदर करना और उसकी आज्ञा का पालन करना ही सर्वोत्तम जीवन है ।

हबक्कूक की पुस्तक में जीवन और मृत्यु दोनों के कारण बताता है । मृत्यु तो पाप का परिणाम होती है । युगान्त में यूदा का उद्धार हो जाएगा और विधर्मियों का विनाश हो जाएगा । नबी यह सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं कि धार्मिक मनुष्य अपने विश्वास द्वारा जीवन प्राप्त करेगा ।

दानियेल की पुस्तक का विषय ईश्वर की सार्व भौमिकता है । दानियेल के दर्शन स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि ईश्वर ही विजेता है । उसकी सार्वभौमिकता की चरम सीमा प्रकाशित वाक्य में पूरी होती है ।

संत जोन के प्रकाशित ग्रंथ में भव्यचित्रों और प्रतीकों द्वारा इतिहास, युगान्त और भविष्य का चित्रण है । पुस्तक का चिरंतन महत्व है । इस पुस्तक में इतिहास के चरमोत्कर्ष का उदात्त चित्र है । नवीन मानव, नवीन सृष्टि ही परम कल्याणकारी ईश्वर का अभिप्राय है । इसी लक्ष्य की ओर ईश्वर की समस्त गतिविधि उन्मुख है । पुस्तक में सशक्त वर्णन है कि हिंसा और

अत्याचार पर अंततः विश्वास की विजय होती है । इस में व्यक्ति और समाज दोनों के लिए आशा का मंगलमय अमर सन्देश है कि मनुष्य ईश्वर के साथ सदा रहेंगे - नमृत्यु रहेगी, न शोक, न विलाप और न कष्ट । इस पुस्तक में स्पष्ट घोषणा है कि सब मनुष्यों का न्याय होगा । उस न्याय का मापदण्ड येशु का आदर्श चरित्र है और वही न्यायकर्ता है । येशु के प्रति समस्त सृष्टि का समवेत स्तुतिगान इस पुस्तक की अद्वितीय विशेषता है ।

नैतिक पुस्तकें :-

नीति मनुष्य के सामाजिक व्यवहार को सरस एवं कल्याणकारी बनाने में सहायता देती है । सामाजिक जीवन में व्यवस्था एवं शान्ति बनाए रखनेवाले आचरण नैतिक कहलाते हैं । नैतिकता व्यक्ति के आचरण का निर्देश देनेवाली वह विशिष्ट नियम व्यवस्था अथवा आचार पद्धति है जिसे समाज अपने सदस्यों के लिए बनाता है । बैबिल में जोब की पुस्तक, नीतिवचन या सूक्तिग्रंथ, प्रज्ञा ग्रंथ, श्रेष्ठ गीत, प्रवक्ता ग्रंथ, उपदेशक, ज़करिया की पुस्तक, कोरिन्थियों के नाम पहला पत्र, तीतुस के नाम पत्र, संत जोन के नाम पत्र, पीटर के नाम पहला और दूसरा पत्र, संत जोन के नाम पहला, दूसरा और तीसरा पत्र आदि नैतिक पुस्तकों में आते हैं । इन के द्वारा पाठक अपना जीवनदर्शन रूपायित कर सकता है ।

जोब यद्यपि खरा और सीधा था और बुराई से परे रहता था फिर भी उसे सीखना था कि वह संकट में भी ईश्वर की सामर्थ्य और उसकी भलाई पर भरोसा रख सके । दुःख और पीडा का संबंध सदा पाप के साथ नहीं जोडा जा सकता । हमें यह जानना चाहिए कि ईश्वर अपने भक्त को परखने और उसे शिक्षा देने के लिए भी प्रायः इनका प्रयोग करता है ।

नीतिवचन या सूक्ति ग्रंथ की नैतिक शिक्षाएँ बहुत ही उच्चकोटि की हैं । ईमानदारी, सच्चाई तथा जीवन सम्पत्ति का मान करने पर ज़ोर दिया गया है ।

लोगों से अनुरोध किया गया है कि वे दूसरों से न्याय, प्रेम और दया का व्यवहार करें । इस में एक उत्तम पारिवारिक जीवन का वर्णन किया गया है जिसमें बच्चों का सतर्कतापूर्वक प्रशिक्षण किया जाता है और स्त्रियों का सम्मान होता है । लेखक यह कहता है कि सच्चरित्र युक्त जीवन बिताने के लिए किन किन सिद्धान्तों को मानना चाहिए ।

सभोपदेशक पुस्तक में लेखक अपने व्यक्तिगत अनुभव के द्वारा यह दिखाना चाहता है कि यदि सांसारिक सुख और आशीष करना ही उद्देश्य है तो उसका अन्त असंतोष और अतृप्ति में है । ईश्वर का आदर करना और उसकी आज्ञा का पालन करना ही सर्वोत्तम जीवन है ।

प्रज्ञा की पुस्तक में बुद्धि, शिक्षा, समझ, न्याय आदि का प्रयोग बार बार किया गया है । अर्थ केवल मानवीय बुद्धि और तथा प्रवीणता में नहीं है, यहाँ बुद्धि एक आध्यात्मिक तथा नैतिक गुण है ।

श्रेष्ठगीत में विश्वासी का प्रेम सुन्दर शब्दावली के माध्यम से गहरा हो सकता है । इस पुस्तक में कहा गया कि वह येशु है जो मेरा प्राणप्रिय है, शारोन देश का गुलाब है', "तराई के सोसन फूल"है दस हज़ार में उत्तम है येशु की आशिषों का वर्णन इन शब्दों में किया गया है "वह मुझे भोज के घर में ले आया, और उसका जो झंडा मेरे ऊपर फहराता है, वह प्रेम है आदि ।

प्रवक्ता ग्रंथ में ईश्वर के प्रति कर्तव्य, माता-पिता के प्रति कर्तव्य, विनम्रता, दानशीलता, धार्मिकता, मित्रता, प्रज्ञा की प्राप्ति, परोपकार, धर्मी को सुख-शांति, आत्मसंयम, प्रार्थना, पति-पत्नी संबंधी सच्चरित्र पत्नी, सुखी गृहस्थ का सौभाग्य, ईश्वर पर श्रद्धा, सपनों की व्यर्थता, सच्चा धर्म चिकित्सक और रोग, सृष्टिकर्ता की स्तुति, मनुष्य की दयनीयता, मृत्यु आदि विभिन्न विषयों और नीतियों पर विवेचन किया गया है ।

कोरिन्थियों के नाम पहले पत्र में मुक्ति के महत्त्व पर बल दिया गया है । वहाँ बताया गया है कि सच्चा जीवन वही है जो मुक्ति को लक्ष्य बनाकर जिया जाता है ।

ज़कर्या की पुस्तक में नैतिक जागरण पर बल देते हैं और नवीन युग की आशा दिलाते हैं ।

तीतुस के नाम पत्र का मुख्य विषय खरी शिक्षा है । सत्य को समझने का फल भले कामों में प्रकट होना चाहिए । क्रीत-वासी तो नैतिक बातों में कुछ ढीले थे और वहाँ की कलीसिया में भी कुछ लोगों का आचरण लापरवाह हो गया था । ऐसी बातों का विरोध करने के लिए तीतुस को संत पोल समझाता है कि खरी शिक्षा ज़रूरी है, वह इस बात पर ज़ोर देता है कि मसीही आचरण का आधार तो ईश्वर का वचन ही है । उन में इसी बात पर बल दिया गया है कि कलीसिया समाज के व्यक्तियों का जीवन आत्मिक और नैतिक दृष्टिकोण से अवश्य श्रेष्ठ हो । उन्हें चरित्र में दूसरों के लिए आदर्श और काम करने में सक्षम होना चाहिए ।

फिलेमोन के नाम पत्र में भाईचारा और क्षमा आदि महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर बल दिया गया है ।

पीटर के दूसरे पत्र में सत्य, ज्ञान पर ज़ोर दिया गया है । इस पत्र में झूठी शिक्षा का बड़ा विरोध किया गया है । पत्र भर में यह बात प्रकट की गई है कि सत्य ज्ञान का स्रोत और मसीही जीवन का मार्गदर्शक तो ईश्वर का वचन ही है । इस पुस्तक में लेखक ने एक दूसरे से प्रेम रखने पर ज़ोर दिया है फिर उपदेश देता है कि सत्य का साक्ष्य देना और सत्य पर चलना ।

बैबिल का प्रचार एवं प्रसार :-

इब्रानी (Hebrew) और यूनानी (Greek) भाषा में लिखे गये बैबिल का सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और साहित्यिक महत्व कम नहीं था । जीवन के सभी पहलुओं को छूकर चलनेवाले इस धर्मग्रंथ का प्रचार अत्यन्त आवश्यक था । जब मुद्रण-यंत्र का गुट्टनबर्ग ने आविष्कार किया तब अपने प्रेस में पहले बैबिल छपाने का निश्चय किया । सन् 1456 ई. में सर्वप्रथम पूरे बैबिल की छपाई हुई । तब से लेकर आज तक प्रकाशन क्षेत्र में सब से अधिक बिक्री (The best seller) बैबिल की हुई ।[1] ज्ञान और स्नेह प्रदान करने में भी बैबिल सब से आगे हैं । आज संसार की सभी भाषाओं में पूर्ण रूप या अपूर्ण रूप से उसकी प्रतिलिपियाँ काफी उपलब्ध होती हैं । U.N.O. की शिक्षा सांस्कृतिक विभाग में प्रकाशित अनुवादों की सूचियों में अठारहवें अनुवाद की अनुक्रमणिका में सब से अधिक भाषान्तर बैबिल के होने के संकेत मिलते हैं । आज विभिन्न बैबिल सोसाइटियों के सहयोग के फलस्वरूप बैबिल का प्रचार पहले से अधिक हो रहा है । हर वर्ष लगभग दस लाख से अधिक प्रमुख लोकभाषाओं में बैबिल का भाषान्तर होता है । संक्षेप में शिक्षित लोगों के बीच में 90 प्रतिशत बैबिल पढ़नेवाले हैं । बैबिल सोसाइटी के नेतृत्व में भारत की सभी भाषाओं में नये अनुवाद हो रहे हैं । ईसाई धर्म के प्रचार एवं प्रसार में भी इन अनुवादों बड़ी सहायता पहुँचाई ।

---

1. Bible O. Kuthal Valicham, Rev.Fr.Bosco Puthur. P:1

बैबिल का हिन्दी अनुवाद :-

बैबिल का सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद सन् 1818 में प्रकाशित हुआ था । प्रोटेस्टेंट लोगों ने बैबिल का हिन्दी अनुवाद पहली बार प्रकाशित किया था । बैपटिस्ट मिशनरियों ने बैबिल के अनेक अनुवाद किये और उन्हें उत्तरोत्तर संशोधित करके प्रकाशित किया । हिन्दी में बैबिल का काथलिक अनुवाद वर्तमान शताब्दी के उत्तरार्द्ध की घटना है । इस प्रकार बैबिल के अनुवाद साहित्य का विकास, हिन्दी साहित्य के विकास के साथ जुडा हुआ है । पुराना नियम का हिन्दी अनुवाद प्रथम बार फादर वाल्द बुल्के एस.वी.डी. द्वारा संपन्न हुआ । यह अनुवाद सन् 1963 में सेंट पौल सोसइटी द्वारा प्रकाशित हुआ था । यह पहली संपूर्ण काथलिक हिन्दी बैबिल थी । इसी समय येशु-समाजी § Society of Jesus § फादर डाक्टर कामिल बुल्के एस.जे. ने भी अपना अनुवाद कार्य आरंभ किया । उन्होंने नया नियम का नया हिन्दी अनुवाद गहरे अध्ययन के बाद प्रस्तुत किया । यह रचना अत्यन्त लोकप्रिय हुई जिस से इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए । डाक्टर कामिल बुल्के का अनुवाद अधिक गहरा एवं भाषा सरल और प्रवाहमयी है । नया नियम की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि "मैं ने प्रतिष्ठित खडीबोली में मूल यूनानी पाठ का सरल स्वाभाविक अनुवाद प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।"[1] यह सन् 1976 में प्रकाशित हुआ ।

समस्त बैबिल एक लिखित सन्देश है । युगों से विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों के भक्त बैबिल से आत्मिक पोषण पाते रहे हैं, उसका मनन कर उसे अपने जीवन में चरितार्थ करने की कोशिश करते रहे हैं । बैबिल का पाठ करने से मनुष्य विश्वास का जीवन सीख लेता है तथा यही विश्वास उसे पुनः बैबिल में पैठने की प्रेरणा देता है । जितना अधिक इसका अध्ययन किया जाता है उतना ही अधिक भाव विचार समृद्धि मिलती है । इस मे कई

---

1. नया विधान, 'डा.कामिल बुल्के, भूमिका भाग

ऐसे पद हैं जिनकी गहनता और ऊँचाई की रसानुभूति जीवन भर अध्ययन करने से पूर्णतः प्राप्त नहीं होती ।

विश्व भर में सैकडों की संख्या में ऐसे व्यक्ति हैं जो बैबिल का नित्य पाठ करते रहते हैं । सैकडों की संख्या में ऐसे उत्साही प्राणी हैं जिन्हें संपूर्ण बैबिल कंठस्थ है, जिन में अनेक बैबिल विषयों को लेकर भाषण करते रहते हैं, अखण्ड पाठ कई स्थानों में चलते रहते हैं, जिनका काम बैबिल विषयों का वर्णन करके जन साधारण में स्नेह और येशु के प्रति भक्ति का प्रचार करना है, और येशु को लोकरक्षक के रूप में विश्वास मिलने के लिए परिश्रम करना है । बैबिल से अपने को इस प्रकार संबद्ध करनेवाले व्यक्तियों का विश्वास है कि इसके पाठ से रोग और शोक दूर होते हैं, दारिद्र्य की हानि होती है, स्नेह और सहयोग की भावना बढ़ती है, ऐश्वर्य और यश की प्राप्ति होती है । बैबिल की प्रसिद्धि एक सिद्ध-धर्म ग्रंथ के रूप में हैं।सदियों से सरल मनवाले लोगों ने इस से अपने जीवन के लिए भोजन और आत्मा के लिए पोषण प्राप्त किया है ।

बैबिल का महत्व प्रचार एवं प्रसार स्वयं बैबिल ही के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है । बैबिल पढ़नेवाला बुद्धि और शिक्षा प्राप्त करेगा, गंभीर वचनों का अर्थ समझेगा, संयमपूर्ण जीवन बिताने की शिक्षा पायेगा, काम करने में प्रवीणता प्राप्त करेगा, धर्म, न्याय, कर्तव्य और सच्चाई की शिक्षा पायेगा । भोले भाले लोगों को चतुराई और नवयुवकों को ज्ञान और विवेक मिलेगा, बुद्धिमान मनुष्य सुनकर अपनी विधा को बढ़ायेगा । विवेकी व्यवहार कुशल बनेगा और समझदार इन वचनों से बुद्धि का उपयोग पायेगा इत्यादि ।[1] ईश्वरीय विधान के अनुसार सदाचारपूर्ण जीवन मनुष्य को बुद्धि प्रदान करता है[2] और उसे अनेकों बातों का अनुभव प्रदान करता है ।[3] बैबिल प्रज्ञा और सद्बुद्धि प्राप्त करने का आह्वान देता है ।

---

1. बैबिल सूक्ति 1:27

2. वही, 15:33

बेबिल का प्रचार इसी कारण है कि उस में ब्रह्मवादियों को न्यायी ईश्वर मिलेगा, अवतारवादियों को सच्चा अवतार क्रूसित-पुनरुत्थित जीवित प्रभु येशु मिलेगा, शाक्तों को पवित्र आत्मा ईश्वर को सामर्थ्य प्राप्त होगी और वेदांतियों तथा मुस्लिम एकेश्वरवादियों को सर्वसत्ताधारी पौरुषेय प्रेम सत्य अद्वैत ईश्वर मिलेगा । इस में केवल एक ही ईश्वर है वही ईश्वर न केवल यहूदियों और ईसाईयों का वरन् सब मनुष्यों का ईश्वर हैं ।

बेबिल का साहित्यिक महत्व :-

विश्व साहित्य की दृष्टि से बेबिल का महत्व अक्षुण्ण है । भारतीय लोक-जीवन और संस्कृति का मूलाधार जिस प्रकार वेद तथा वैदिक साहित्य हैं, उसी प्रकार पाश्चात्य जन जीवन, जन साहित्य, और लोक संस्कृति का मूल स्रोत बेबिल है । बेबिल मूलत: धार्मिक ग्रंथ के रूप में श्रद्धा एवं भक्ति की भावना सहित आदृत है । धार्मिक मान्यता के अतिरिक्त बेबिल का विशिष्ट साहित्यिक महत्व भी है । यह ग्रंथ प्राय: सभी परवर्ती पाश्चात्य वाङ्मय का प्रेरणा स्रोत रहा है । काव्य-सौन्दर्य और सौष्ठव, कविता की सरसता, ऐतिहासिक आख्यानों, वर्णनात्मक प्रसंगों, कहानियों तथा नाटकीय तत्व के अद्भुत एवं अलौकिक प्रसंगों के परिदर्शन बेबिल में होते हैं । धार्मिक भावना और आध्यात्मिक सन्देश ही यद्यपि इसके विश्व-व्यापक स्वरूप का मूल कारण है, तथापि साहित्यिक दृष्टि से भी इसकी कदापि उपेक्षा नहीं की जा सकती । वैदिक संस्कृति की भाँति ही बेबिल की संस्कृति लोक-मंगलकारी है । यह पाश्चात्य जन जीवन और सामाजिक मान्यताओं केलिए अनिवार्य भी है । पाश्चात्य साहित्य के सौन्दर्य सौष्ठव और प्रतीकात्मक स्वरूप को हृदयंगम करने के लिए बेबिल का ज्ञान अनिवार्य है ।

बेबिल मूलत: दो भागों में रचा गया है - पुराना नियम और नया नियम । (Old Testament and New Testament) पुराना नियम

की मूल भाषा इब्रानी है (Hebrew) और नया नियम की भाषा यूनानी (Greek) । पुराना नियम हीब्रू-साहित्य तथा यहूदी धर्म का मूलाधार है । ईसाई जाति के साहित्य में जो मुख्य पुस्तकें हैं, वे सभी इस में संगृहीत हैं । विश्व में मानव-विचार धारा का अमर इतिहास निर्माण करनेवाली जो कतिपय विशिष्ट कृतियाँ है, उन में "ओल्ड टेस्टामेण्ट" भी है । देश-विशेष के धर्म ग्रहण करने पर उसकी धार्मिक एवं साहित्यिक परंपराएँ भी स्वतः गृहीत हो जाती है और यही कारण है कि यूनान (Greek) रोम तथा उत्तरी यूरोप के प्राचीन धर्मों का ईसाई धर्म में समन्वय स्पष्टतः दृष्टिगत होता है ।

बैबिल गद्य-पद्य दोनों का समन्वित रूप है । बैबिल-साहित्य की विशेषता और विशिष्टता यह है कि धार्मिक दृष्टि से तो उसकी प्रत्येक पंक्ति अत्यधिक महत्व रखती ही है, किन्तु शुद्ध साहित्य के विचार से भी विभिन्न प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं । बैबिल साहित्य की पृष्ठभूमि और उसके व्यापक विस्तार में नाटकीय कथानकों, महाकाव्यों, उपन्यासों, ऐतिहासिक रोमान्स तथा कविता को अखण्ड धारा का भण्डार है ।

गद्य के अन्तर्गत पुराण, मिथक (Myth) लोक कथाएँ, प्रेमाख्यान (Romance) नीति कथायें (Fables) नाटक, आत्मकथा आदि का विवेचन किया गया है । इसके अलावा विधि-विधान, पत्र, वृत्तान्त (Narrative) अभिलेख (Record) वंशावली, परियों की कथाएँ (Fairy tales) आख्यान (Saga) लघु उपन्यास (Novelite) दन्त कथाएँ (Legends) मौखिक कथा साहित्य (Oral Fiction) पहेलियाँ आदि आते हैं । मिथक के विशोत्पत्ति मिथक[1] (Cosmogonical Myths) हेतुकी मिथक (Aetiological Myths) व्युत्पत्ति विषयक मिथक[2] (Etymological Myths) जाति उत्पत्ति विषयक मिथक[3] (Ethnological Myths) आदि मिथकों का वर्णन है ।

---

1. बैबिल उत्प': 1:1-3
2. वही, 2:23,4:5, 25:24-25
3. [illegible]

साहित्यिक दृष्टि से एस्तेर की पुस्तक भी बड़े महत्त्व की है। इसकी गणना यहूदी-ईसाई धर्म के अन्तर्गत है। यथार्थ में यह एक ऐतिहासिक रोमान्स है। जूडिथ और होलोफरन्स की कहानी में उपन्यास के तत्व साफ झलकते हैं। जोब की पुस्तक में जिज्ञासापूर्ण नाटकीय कथानक का नियोजन किया गया है। 'सत्यमेव जयते' ही इसका प्रतिपाद्य है।

पद्य के अन्तर्गत अनेक प्रकार के गीत तथा भविष्य का संकेत करनेवाली श्रेष्ठ कविताओं के दर्शन होते हैं। ये कई प्रकार की हैं। इन में प्रमुख हैं सूक्तियाँ, इन में सफल जीवन बिताने की शिक्षा मिलती है। गीत में और एक वर्ग है लौकिक गीत (Secular songs) इसका संबंध सांसारिक विषय से है। जैसे मद्यपान से संबंधित गीत, प्रेमगीत, अन्त्येष्टि गीत, राजसी गीत, युद्ध गीत, राज्याभिषेक गीत आदि। श्रेष्ठ गीतों में सूक्तियों के अतिरिक्त भजनगीत सर्वाधिक प्रचलित हैं। इन में ईश्वर की स्तुति महिमा आदि की अभिव्यक्ति होती है।[1] विलापगीत (Lamentation) जब व्यक्ति अथवा राष्ट्र पर विपत्ति आती थी तो आराधना के दौरान इनका प्रयोग किया जाता था। व्यक्तिगत विलापगीतों के उदाहरण हैं जोब के विलाप गीत,[2] जर्मिया के विलापगीत,[3] दावीद के विलाप गीत,[4] आदि। राष्ट्रीय विलाप गीतों के लिए एक अलग पुस्तक मिलती है।[5] धन्यवाद गीत - इन में ईश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रकट की जाती है। ये भी दो प्रकार के हैं व्यक्तिगत धन्यवाद[6] और राष्ट्रीय धन्यवादगीत[7] आदि। यात्रा गीत[8] (Pilgrim songs)

---

1. बैबिल भज 145-150 तथा अन्य भजन
2. जोब 3
3. जर 20:14-18
4. भज :22
5. विलाप गीत के पुस्तक
6. भज 34
7. भज 46-50
8. भज 121.

इनका प्रयोग यहूदी यात्री जरूशलेम की ओर यात्रा करते हुए करते थे । इनकी रचना साहित्यिक सौंदर्य से इतनी ओतप्रोत है कि इनका कथात्मक विधान अनेक महाकवियों द्वारा हुआ होगा ।

पुराना नियम में जोब, स्तोत्र ग्रंथ, सूक्ति ग्रंथ, उपदेशक ग्रंथ, 'सोन्ग आफ दि सोन्गस' (सोलमन के सर्वश्रेष्ठ गीत) आदि सरस कविताओं के श्रेष्ठ निदर्शन हैं और इन में आलंकारिकता भरी पडी है । सोलमन के 'सर्वश्रेष्ठ गीत' की कोमल कान्त पदावली तो विश्व-साहित्य में अनूठा-स्थान रखती है । जोश्वा की पुस्तक एक महाकाव्य जैसी सुन्दर रचना है ।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान गुनकेल ने उस तथ्य को प्रस्तुत किया कि साहित्य और जीवन में गहरा संबंध है, तथा भिन्न-भिन्न साहित्यिक रूपों की बुनियाद मानव जीवन की परिस्थितियों में पायी जाती है ।[1] उदाहरणार्थ आराधना एवं ईश्वरोपासना की स्थिति में जनित साहित्यिक रूप है - प्रार्थना, पाप, अंगीकार, धर्मोपदेश, हल्लेलूया, होसाना, विश्वासवचन, शान्तिवचन, मन्ना, पेसहा, साबत, एइनजल, डेविल आदि ।[2] न्याय एवं विधान संबंधी जीवन परिस्थिति से जनित रूप है - न्यायालय में उपस्थित होने का सम्मन, विभिन्न प्रकार की याचिकायें, निर्णय, दण्ड, आज्ञा, क्षमा, पत्र, अपराध, स्वीकारोक्ति, गवाहों का बुलाने हेतु आज्ञा आदि । ये सब रूप बैबिल में विशेषत: चर्चित मिलते हैं । प्रत्येक रूप का आरंभ एवं अन्त उसके अपने विशिष्ट ढंग से होता है तथा उस में उसके अपने विशिष्ट तत्व विद्यमान रहते हैं । उदाहरणार्थ प्रार्थना नामक साहित्यिक रूप का आरंभ 'हे सर्वशक्तिमान ईश्वर' अथवा इस से मिलते जुलते शब्दों से होते हैं तथा उसके अन्त में हमारी प्रार्थना सुन, आमेन जैसी शब्दावली आती है ।

---

1. Critical Literature of the Old Testament, C.B. Peter, P.32.

2.

'न्यू टेस्टामेण्ट' {नया नियम} प्रभु ईसा की जीवन कथा है। इस में रूपकों और रहस्यात्मक प्रतीकों में ही अपने कथनों एवं भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। इस प्रकार लोगों को उपदेश देना उन्हें अत्यन्त प्रिय था। मात्यु, मार्क, लूक तथा जोन और अपोस्टलस के पूरक विवरण येशु के कार्यों, सन्देशों और आदर्शों की रहस्य एवं रोमांच से परिपूर्ण हैं। चार सुसमाचार को चार भिन्न भिन्न प्रतीक माना गया है - मनुष्य मारक का प्रतीक है। मारक का सुसमाचार सब से सरल, सब से श्रेष्ठ और सब से अधिक मानवीय है। सिंह मात्यु का प्रतीक है। क्योंकि मात्यु ने येशु को मसीह के रूप में और यहूदा के गोत्र के सिंह के रूप में प्रस्तुत किया है। बैल लूक का प्रतीक है। कारण यह है कि बैल सेवा एवं त्याग का प्राणी है, और लूक ने येशु को मनुष्यों के सेवक और समस्त मानवजाति के लिए सार्वलौकिक बलिदान के रूप में प्रस्तुत किया है। गरूड संत जोन का प्रतीक हैं। कारण यह है कि सब जीवधारियों में गरूड ही एक ऐसा जीवधारी है जो सीधे सूर्य को देख सकता है। उसकी आँखें चौंधिया नहीं जातीं और संत जोन में नया नियम के सब लेखकों से अधिक अनन्त रहस्यों और शाश्वत सत्यों, ईश्वर के मानस को देखने की अत्यन्त पैनी दृष्टि है।

पुराना नियम में ईश्वर द्वारा मनुष्य के उद्वार का जो महान शुभ सन्देश पाया जाता है उसकी पूर्ति नया नियम में येशु के व्यक्तित्व में होती है।

नया नियम का प्रारंभ मात्यु के विवरण से होता है और समाप्ति होती है सन्त जोन के रहस्यवादी "रेवलेशन" {प्रकाशन} से। नया नियम में मात्यु, मार्क, लूक और जोन के सन्देश विशेष महत्व एवं ध्यान देने योग्य हैं। इन में अत्याधिक अन्तर के साथ महात्मा येशु की जीवन-कथा को शांत, सौम्य और स्फूर्तिदायिनी भाषा शैली में चित्रित किया गया है। उपर्युक्त चारों सन्देशों में क्रम से 28, 16, 24 और 21 अध्याय हैं। न्यू टेस्टामेण्ट के अंत में

सेंट जोन "डिवाइन" के "रेवेलेशन" में 22 अध्याय हैं । यह पूरा का पूरा अध्याय रहस्यवादी कविताओं से भरा है । नया नियम का यूरोपीय देशों के जन-जीवन और साहित्य पर अत्यधिक प्रभाव पडा है । सूली पर ईसा के प्राण लिए जाने के बाद, उनके संबंध में प्रचुर परिणाम में साहित्य निर्माण हुआ और होता जा रहा है । ईसा के जीवन सिद्धांतों और धार्मिक आदेशों को लेकर सन् 1951 के नोवल पुरस्कार विजेता स्वीडन के साहित्यकार पारलैगर्कविस्ट ने "बाराबास" नामक उत्कृष्ट उपन्यास का प्रणयन किया है । बाराबास वही व्यक्ति था जिसे फाँसी का दण्ड दिया जानेवाला था किन्तु संयोग से वह बच निकला और ईसा को शूली पर चढना पडा । इसी प्रकार नया नियम तथा अन्य सामग्रियों के बहुत से लेखकों ने ऐतिहासिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि पर येशु के जीवन-चरित लिखे हैं । इन में ईसा के संदेशों की व्याख्या तथा पारस्परिक विरोध का समन्वय करने को प्रयत्न किया गया है फ्रेंच दार्शनिक अर्नेस्ट रेनांकी की पुस्तक "लाइफ आव जेसस" साहित्य के विचार से उच्चकोटि की सर्वमान्य पुस्तक है ।

बैबिल साहित्य के अंगभूत "न्यू टेस्टामेण्ट" में साहित्य की प्रभूत सामग्री यत्र तत्र-सर्वत्र विद्यमान है । इस में सन्देह नहीं कि इसका स्वरूपबोध सतत और गहन अध्ययन से ही संभव है । नया नियम की कथा सूत्र- रूप में, सूक्ति रूप में वर्णित और गंभीर अर्थों से गुम्फित है । इस में विविध ज्ञान-विज्ञान एवं साहित्य के आधारभूत तथ्य भरे पडे हैं । बैबिल साहित्य के व्यापक विस्तार एवं परिमाण की कल्पना सेंट जोन के उस सन्देश से की जा सकती है जिस में उन्होंने कहा है - "ईसा द्वारा और भी बहुत-सी वस्तुएँ निर्मित हुई । वे इतनी अधिक हैं कि यदि उन में प्रत्येक को लिपिबद्ध किया जाय तो संसार में उन्हें रखने का स्थान ही न मिलें ।[1] इस से स्पष्ट है कि बहुत-सी बातें छोड

---

1. बैबिल जोन 21:25

दी गयी हैं और बैबिल साहित्य में उनका समावेश नहीं किया गया है । जो भी हो, जितना प्राप्त और लिखित रूप में है, वही कुछ कम नहीं ।

असाध्य रोगों की चमत्कारिक चिकित्सा, मृतकों को जिलाना तथा दीन दुःखितों के कष्ट निवारण, पापियों से करूणा, सभी जातियों को समान रूप से मानना, नारियों की पूर्ण प्रतिष्ठा आदि के लिए ईसा दूर-दूर तक महात्मा और ईश्वर के पुत्र के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे ।

नया नियम में मानवता की सेवा, मानवीय प्रेम-स्नेह, सद्भावना और सहयोग के वे अमर तत्व एवं चिरन्तन सत्य मिलते हैं, जो शाश्वत काव्य के आवश्यक एवं अनिवार्य मौलिक आधार हैं । ये मनुष्य समाज के लिए अपेक्षणीय है। एक ओर क्रूरता, पैशाचिकता का तांडव है तो दूसरी ओर असहायों के सहायतार्थ, चट्टान की तरह दृढ़, ईश्वर का पुत्र, आध्यात्मिकता का प्रभाव दिखाकर उसकी महान सत्ता के प्रति श्रद्धाहीनों और शंकालुओं का ध्यान आकृष्ट करता है । एक ओर रहस्य है तो दूसरी ओर रोमांच । एक पक्ष-सेवा, विश्वास और श्रद्धा का अवलम्बन लेकर आगे बढ़ता है तो दूसरा पक्ष षड्यंत्र द्वारा उनका विनाश करना चाहता है । सत् और असत् का द्वन्द्व, देव और दानवों के संघर्ष जैसा दृश्य उपस्थित करता है और अन्त में सत् पक्ष की विजय होती है । सात्विक वृत्तियों की विजय और तामसी की पराजय का संघर्ष, बृहत् यूरोपीय साहित्य के निर्माण का आधार एवं प्रेरक तत्व सिद्ध हुआ । इस तरह इस धार्मिक ग्रंथ में साहित्य के आधारभूत तत्वों की प्रभूत सामग्री है । महाकाव्य, कविता, कहानी, उपन्यास,और नाटक के तत्व इस ग्रंथ में बीज रूप में पड़े हुए हैं । इन्हीं कथाओं के सूत्रों से लेकर बहुत सी रचनाओं का प्रणयन हुआ है ।

बैबिल प्रेरणा तथा प्रभाव :-

बैबिल के पूर्व भी विशाल सत्साहित्य मिलता है और उस में भी पर्याप्त साहित्य प्रेरणाप्रद है और हमारे संकल्पों को भलाई के प्रति सशक्त बनानेवाला है । लेकिन यह धर्मशास्त्र के रूप में स्वीकृत नहीं । बाद में जीवन की समस्याओं और विश्वासों के आधार पर इस्राएलियों ‹यहूदियों› ने धर्मशास्त्र लिखा । पुराना नियम के पाँच ग्रंथ या पंचग्रंथ के रचयिता मूशा या मोसस माना गया । पहले इब्रानी या इस्राएली का विश्वास रहा कि कुछ ऐतिहासिक घटनाओं की श्रृंखला में ईश्वर का अस्तित्व विशेष रूप से प्रकट होता रहा है और उसी संदर्भ में उसकी वाणी भी दिव्यवाणियों में सुनाई दी । उसने मूशा के लिए मार्ग प्रशस्त किया और इस्राएलियों द्वारा अपने उद्दिष्ट कार्य करवाये ।[1] अतएव घटनाओं की इस श्रृंखला के आसपास जो साहित्य एकत्रित हुआ, उस में ईश्वरीय प्रेरणा की छाप मिलती है । यह स्वाभाविक है कि इस सत्य का ग्रहण सदा विश्वास के द्वारा ही होता है । सच्चा ईश्वर पूर्णतया हमारी बुद्धि में समा नहीं सकता । इसलिए पीढी दर पीढी यह विश्वास किया जाता रहा और उत्तरोत्तर यह अनुभव होता गया कि ईश्वर में एक अखंडता है, एक विशिष्टता है, और मानव से परे जो कुछ हैं उसकी ओर संकेत है । उनका विश्वास यह था कि ईश्वर ने इस्राएल को चुना और संपूर्ण सृष्टि की योजना के अंग स्वरूप इस जाति के साथ विशेष रूप से वाचा ‹Covenent › या प्रतिज्ञा बाँधी । प्रत्येक पीढी में यह विश्वास उत्तरोत्तर सत्य प्रमाणित होता रहा । घटनाओं की यह श्रृंखला संसार की गतिविधियों के लिए या समाज की समस्याओं के लिए भी एक नवीन केन्द्र और समस्त मूल्यों के लिए भी एक नवीन केन्द्र के रूप में अधिकाधिक स्पष्ट रूप से ग्रहण की जाती रही । अतएव इन लेखों की एक विशिष्टता यह है कि वे इस विश्वास के साथ लिखे गये कि ईश्वर एक निश्चित दिक् और काल में एक विशेष कार्य कर रहा है ।

---

1. बैबिल भज 103:7

इन धर्म-पुस्तकों का केवल एक नायक है ईश्वर । कुलपति, न्यायी, नबी, पुरोहित और राजा ये सभी इब्रानियों के इस इतिहास में गौण पात्र हैं । एक ही सत्य ईश्वर उन्हें बुलाता है । उनका उपयोग करता है, अपनी प्रकाशित वाचा ≬ Covenent ≬ के प्रति उनके आज्ञा-पालन के अनुसार उन्हें आशीष या दंड देता है । परन्तु ईश्वर एकसा है - सर्वशक्तिमान, धर्मी, विश्वास योग्य, दयावन्त, समय पर अपने अनन्त अभिप्राय में कार्यरत । मानवीय प्रक्रियाओं और ईश्वर की प्रेरणा से धर्मशास्त्रों का विकास हुआ । विश्वासियों ने अपने विश्वास के और ईश्वर के उन कार्यों के संबंध में लिखा जिन पर उनका विश्वास आधारित था । विश्वासियों ने उन लेखों का उपयोग किया जो उन्हें अपने विश्वास के मूल आधारों का स्मरण कराते और उसके प्रति भक्ति निष्ठ होने की प्रेरणा उन्हें देते थे । ये लेख स्वयं उनके विश्वास के लिए वास्तविक कसौटी एवं आधार स्तंभ थे । धर्मशास्त्र लिखने में केवल एक व्यक्ति विशेष का उपयोग नहीं वरन् उन में अनेक व्यक्तियों की विशेष प्रतिभा का तथा साधारण विश्वासी के अनुभवों की कसौटी का उपयोग किया । वे विश्वास के द्वारा मानवीय समाज में ईश्वर के कार्यों को देखते हैं । ये मानव समाज के दैनिक जीवन के व्यापक क्षेत्र में उद्देश्य, कर्तव्य-बोध, मेल-मिलाप, सहयोग, प्रलोभन, अपराध और नैराश्य के अनुभवों में परीक्षण करते हैं । इनके द्वारा उस विश्वास की अधिक पुष्टि होती है और उत्तरोत्तर यह निश्चय बढ़ता जाता है कि यह सत्य का नवीन दर्शन कराती है । इसलिए वे सभी घटनाओं में मानवीय जीवन की समस्याओं में ईश्वर के हाथ को देखते हैं । इस से ईश्वर की आत्मा की प्रेरणा अधिक मिली है ।

साहित्यिक प्रभाव की दृष्टि से देखें तो मिस्र का प्रारंभिक साहित्य मुख्य रूप से धार्मिक है । मिस्र की सब से प्राचीन कविताएँ पिरमिडों पर भजनों के रूप में खुदी हुई हैं जिनमें एक ही विचार को भिन्न भिन्न प्रकार

से कई बार दुहराया गया है । इस काल के "मेम्फाइड ड्रामा" में सूर्योपासना के सिद्धांत का वर्णन है । इखनाटन के राजकीय सूक्त § Royal hymns § में एटन देव की वन्दनाएँ हैं । दार्शनिक ग्रंथों में प्ताहहोतेप की शिक्षाएँ हैं जिस में नैतिक गुणों के विकास का वर्णन है । उसके बाद अमेनमोप ने अपने ग्रंथ "अमेनमोप के ज्ञान" § Wisdom of Amenomope § में विश्व बन्धुत्व और भाईचारे का सन्देश दिया है । यह एकेश्वरवादी था और ईश्वर को ही संपूर्ण सृष्टि का कर्ता मानता था । इन दोनों ग्रंथों का पुराना नियम पर बहुत प्रभाव है । सुमेरिया के लोग बडी सतर्कता से लेखों का संग्रह करते थे । इस प्रकार का 2700 ई.पू. का पुस्तकालय मिला है । जिस में तीस हज़ार लेख सुरक्षित हैं । इनके विषय विविध हैं जिन में देवताओं की स्तुतियाँ और प्रार्थनाएँ प्रमुख हैं । महाबलशाली गिलगमेश की वीरता की प्रशंसा से साहित्य भरा पडा है । "मेरी रानी स्वर्ग की सुन्दर पुत्री" आदि प्रार्थनाएँ प्राप्त होती हैं । सुमेरी और बाबिलोन की कथाएँ खूब प्रचलित थीं । मगिद्दो के खण्डहरों की खुदाई में गिलगामेश महाकाव्य की एक बाबेली पट्टिका प्राप्त हुई । उस महाकाव्य में पुराना नियम के जलप्रलय वर्णन के समानान्तर का वर्णन है । इन कथाओं को पुराना नियम के लेखकों ने विश्वास के साथ जोड दिया है । बहुत प्रारंभिक काल में बाबेली भाषा राजनीति और वाणिज्य की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा थी । कनानी और इब्रानी शास्त्री लोग बाबेली पौराणिक कथाओं से परिचित थे ।

कैन और आबेल की कथा, पूर्व जोसफ की कथा, अब्राहम और इसहाक की कथा ये सभी प्राचीन परंपरा से विकसित कथाएँ हैं । उन में विश्वास जोड दिया गया । कैन और आबेल के विवरण से मानवीय जलन और झगडे की बुराइयाँ प्रकट होती हैं । यह वर्णन चरवाहा और किसान के विरोध की प्राचीन धारणाओं पर आधारित है । सामाजिक बुराइयों की जड इस में मिलती है ।

---

1. The People of the Old Testament, Rev.Dr.Peter P. 129

मनुष्यों का बुरी चाल चलते रहना या व्यभिचार आदि अधार्मिक अनाचार करना जलप्रलय की भूमिका है । जलप्रलय के वर्णन के लिए पिछली परंपराएँ विद्यमान थीं । ये परंपराएँ अंशतः मेसापटोमिया की नदियों में आनेवाली बाढ के अनुभवों से निकली होंगी ।

पुराना नियम के वर्णन में दो कथाएँ गुम्फित हैं जिन में उस महा विपत्ति का वर्णन है जो पृथ्वी पर आई, और ईश्वर की करूणा का वर्णन है कि उसने मनुष्य जाति का एक वंश बचा लिया जो पृथ्वी को एक नई और अधिक अच्छी मानवजाति दे सके ।

बाबेल की गुम्मट के वर्णन में मानवीय उच्चाकांक्षा के कारण ईश्वरीय योजना में रूकावट आती है । फिर करूणा के कारण एक नई आशा उत्पन्न होती है । मेसोपेटोमिया में, मन्दिरों की गगनचुंबी मीनारें बनती थीं, जो इस्राएलियों की उच्चाकांक्षा थी कि वे स्वर्ग तक पहुँच जाएँ, लेकिन वे इस में विफल रहे ।

धार्मिक विश्वास और जीवन की समस्याओं के चित्रण के बाद नीति साहित्य की रचना हुई । यह सामाजिक जीवन और आवश्यकताओं से संबंधित थे ।

पूर्व जोसफ की कथा के मूल भाग के वर्णनों में मिस्री लोककथाओं से कुछ साम्य है ।

अब्राहम और इसहाक की कथा इस तथ्य का अच्छा उदाहरण है कि प्राचीन परंपरा में कभी कभी मनुष्य की बलि चढायी जाती थी । ऐसा माना जाता था कि पहिला बेटा बहुधा इष्ट देवता के लिए बलि के रूप में चढाया जाना चाहिए । अब्राहम और इसहाक की कथा में पुत्र के बदले में बलिवस्तु

का प्रबन्ध ईश्वर ही ने किया । परन्तु उन में अब्राहम की धार्मिकता और आज्ञाकारिता पर ज़ोर दिया गया है ।

इन वर्णनों में जिस ईश्वर का परिचय है वह ईश्वर इस्राएली या यहूदी समाज की महान् घटनाओं में और जीवन और आराधना के रोज़ के अनुभवों में परिचित होता है । इसलिए ये वर्णन केवल पुरातत्व विषयक रुचि के वर्णन नहीं हैं परन्तु इन में ईश्वर के अभिप्रायों, उसके उपायों और मानव की आवश्यकताओं के विषय से संबंधित गहन सुलझे हुए विचार सुरक्षित हैं । ये ही गहन विचार संसार और उसके बनाये जाने के वैज्ञानिक वर्णन को जीवन और अर्थ प्रदान करते हैं ।

पुराना नियम में दानियेल की पुस्तक में भक्त यहूदियों की आशाओं और विश्वासों की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है ।

पुराना नियम में उद्धारकर्ता ईश्वर का मानव इतिहास में प्रकाशन है । इस प्रकाशन का चरमोत्कर्ष प्रभु येशु ख्रिस्तु के देहधारण, जीवन बलिदान एवं पुनरुत्थान में होता है । वही समस्त सत्ज्ञान, विज्ञान, धर्म विज्ञान का स्रोत है और जीवित वचन होकर शब्द वचन को सप्राण और सार्थक करता है जैसा संत पोल सशक्त शब्दों में कहता है -"पूर्व युग में ईश्वर ने बाप दादों से थोडा-थोडा करके और भाँति-भाँति से भविष्यवक्ताओं के द्वारा बातें करके इन दिनों के अन्त में हम से पुत्र के द्वारा बातें की, जिसे उसने सारी वस्तुओं का वारिस ठहराया, और उसी के द्वारा उसने सारी सृष्टि रची ।[1]

येशु ने पालस्टीन समाज को स्वच्छ दृष्टि से देखा । उसने उस बात पर ध्यान दिया कि चारों ओर क्या हो रहा है, उसने छोटी सी छोटी

---

1. बैबिल एब्रा: 1:1-2

बात पर दृष्टि डाली, उसने खेत में खिले छोटे फूलों को देखा, उसने काँटेदार झाडियों को देखा, उसने पशु और पक्षियों की चाल-ढाल को देखा । उस ने इस बात को भी देखा कि लोग क्यों अपने प्रति-दिन का काम-काज कर रहे हैं, किसान को, चरवाहे को और मछुओं को भी देखा । यहूदी धार्मिक गुरू के समान उसने अपने चेलों के साथ धर्मी स्त्रियों की सेवाएँ ग्रहण की और यों घरेलू जीवन, छोटे बालकों का खेलना और माताओं को अपने वस्त्रों का सीना, मरम्मत करना, वस्त्र धोना, और खाना पकाना इत्यादि बातों का ज्ञान प्राप्त किया ।

नसरत नगर के पास से पालस्टीन देश का राजमार्ग जाता था । इसलिए उसे उन लोगों से जो उधर से जाते थे बातचित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ । इन में से कोई कोचवान था कोई सौदागर तथा कोई और प्रकार का काम करनेवाला था । प्रभु येशु स्वयं एक धार्मिक गुरू थे । वे यहूदियों के प्रसिद्ध मन्दिर में जो जरूशलेम नगर में था जाया करते थे । सभा के घरों जो प्राय: हर नगर में थे, यहूदी धार्मिक नेताओं से मिलते और वार्तालाप करते और इस बात का ज्ञान प्राप्त करते थे कि क्या सच है, क्या झूठ है । जो कुछ उन्होंने इस रीति से देखा वह सब दृष्टान्तों द्वारा प्रकट हो जाता है और जो प्रकट करते हैं कि वास्तव में इन दृष्टान्तों का कहनेवाला अपने समय का एक असाधारण प्रतिभाशाली कवि या चित्रकार हैं । वास्तव में वह अपने समय का एक मूल्यवान महाकवि है क्योंकि कवि अपने विचारों को प्रकट करने में सदा स्वतंत्र होता है और अपने समय के लोगों की रीति-विधि के अधीन नहीं रहता । उदाहरण के रूप में एक बार ईसा ने चारों ओर अपने शिष्य और भक्त लोगों को देखा । वे उत्सुकता से गुरू की वाणी सुन रहे थे । उनके सामने इस प्रदेश की घाटियाँ घूम गई । फैले हुए मैदान आ गये, जिन पर असंख्य रंग विरंगे पक्षी उडते हैं । उस समय उन्होंने कहा- आकाश के पक्षियों को देखो । वे न तो बोते हैं, न लुनते हैं और न बखारों में जमा करते हैं फिर भी तुम्हारा स्वर्गिक पिता ईश्वर उन्हें खिलाता हैं । तुम चिन्ता मत करो

हम क्या खायें, क्या पियें, क्या पहनें ।[1] तुम्हारा ईश्वर जानता है कि तुम्हें इन सब चीज़ों की ज़रूरत हैं । तुम सब से पहले ईश्वर के राज्य और उसकी धार्मिकता की खोज में लगे रहो और ये सब चीज़ें तुम्हें यों ही मिल जायेंगी । कल की चिन्ता मत करो आदि ।[2]

येशु ने जो कुछ शिक्षा दी उसका अपने जीवन में पालन किया । वे सब से बड़े धर्मात्मा, नीतिमान, कर्तव्यनिष्ठ, ईश्वर हित का पालन करनेवाले त्यागी थे । वे मनुष्य समाज के समग्र विकास के लिए परिश्रम करते रहे, पाप से मुक्ति, रोग से मुक्ति, रूढ़ियों से मुक्ति, जाति भेद से मुक्ति देनेवाले मुक्तिदाता रहे । समाज में मूल्यों की स्थापना अपना जीवन बलि चढ़ाते हुए उन्होंने की । उनके कहने के अनुसार सब कुछ हुआ । मृत्यु से भी उनकी जीत हुई । इसलिए लोगों ने करूणापूर्ण मुक्तिदाता ईश्वरपुत्र ईसा का जीवन दर्शन सुसमाचार के रूप में लिखा । ईसा ने अपने शिष्यों को अपनी शिक्षा का प्रचार करने का आदेश दिया था और अनुकरण करने के लिए कहा था । येशु ने पुनरुत्थान से उनका विश्वास बढ़ गया । जो कुछ उन्होंने कहा, जो कार्य किया, वह सब लेखकों ने समाज की भलाई के लिए लिखा ।

नया नियम में सुसमाचार के अतिरिक्त विभिन्न पत्रियाँ सर्वाधिक रोचक प्रलेख हैं । यह इसलिए है कि साहित्य की सब शैलियों में पत्र लेख सब से अधिक व्यक्ति-प्रधान होते हैं । प्राचीन ग्रीक के एक साहित्यिक समालोचक दमेत्रियूस ने एक स्थल पर लिखा है कि "प्रत्येक मनुष्य अपने पत्रों में अपना हृदय खोलकर रखता है । यों तो सब प्रकार की रचनाओं में लेखक का चरित्र अभिव्यंजित होता है, परन्तु पत्र में जितना स्पष्ट उभरता है उतना अन्य किसी रचना में नहीं ।"[3]

---

1. बैबिल मात्यू 6:31
2. बैबिल मात्यू : 6:33, 34.
3. शैली, देमेत्रियूस, पृ. 227.

नया नियम की व्याख्या को स्पष्ट करने में पटेर पत्रों[1] (PAPYRUS) के प्रकाशन से बडी सहायता हुई । प्राचीन संसार में पटेर पत्रों पर प्रलेख लिखे जाते थे । नील नदी के किनारे सरकंडों के लेप से ये बनते थे । मिस्र की रेतीली भूमि इन पत्रों को सुरक्षित रखने के लिए अत्यन्त उपयुक्त थी । मिस्र के धुरों से पुरातत्वज्ञों ने सैकडों प्रलेख, कानूनी समझौते, शासकीय प्रपत्र और व्यक्तिगत पत्र खोज में प्राप्त किए । जब हम इन पत्रों का अध्ययन करते हैं तब विदित होता है कि संत पौल, संत जौन, संत याकोब के पत्रों में एक निश्चित प्रारूप हैं । संत पौल के तेरह पत्र उपलब्ध हैं । अपने पत्रों में पौल ने अपना मन एवं हृदय खोलकर रख दिया और उन में आज तक हम उस व्यक्ति के गहन अन्तःस्थल को देखते हैं जो प्रारंभिक कलीसिया की समस्याओं से उलझ रहा था, और हम उस हृदय की कंपन को देखते हैं जो येशु के प्रेम से मनुष्यों के प्रति प्रेम में स्पंदित था ।

राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियाँ :-

बैबिल के इतिहास की रंग-स्थली सिरिया से मिस्र तक फैला हुआ उर्वरा प्रदेश है । सिरिया से मिस्र, अरब से मिस्र, ग्रीक रोम से मिस्र के आवागमन का यह मार्ग था । एक ओर सुमेरी, मिस्री, सामी-आमोरी, यूनानी तथा रोमी जातियों का आवागमन, उत्थान-पतन, आपसी मिश्रण तथा संघर्ष चलता रहा है, दूसरी ओर इन जातियों के साम्राज्यों का आपसी रक्तरंजित संघर्ष का क्रम चला है । साम्राज्य की स्थापना के महत्वाकांक्षी सम्राटों की टकराहट यहाँ होती थी । इसी हलचल, अशान्ति, अस्थिरता, रक्तपात, हत्याओं, दुरभिसन्धियों तथा षड्यन्त्रों के बीच इस प्रदेश में अब्राहम से प्रारंभ

---

1. पटेर पत्र (Papyrus) - यह पत्र ई.पू. 6 वीं शताब्दी से लिखने के लिए प्रयुक्त होता था । इसका एक पन्ना सामान्यतः 48 सेंटीमीटर लंबा और 33 सेंटीमीटर चौडा रहता था । कुंडल पत्र (ROLL) बनाने में पटेर की पट्टियों के सिरे सरेस से एक दूसरे से जोडे जाते थे । - सुसमाचारों में समानान्तर अंश, बर्टन. एच, पृ. 5.

होनेवाली यहूदी जाति का इतिहास सिमटता गया । सिरिया से मिस्र, मिस्र से केनान, केनान से बाबिलोन, बाबिलोन से पुनः वापसी यह सब इस जाति का इतिहास है । दासता, श्रम, निष्कासन, निर्वासन, बन्दी जीवन, मुक्ति-संघर्ष, पराधीनता, स्वाधीनता के लिए संघर्ष यह सब भी इस जाति का इतिहास रहा है ।

इस जाति ने महान् शासकों और राज्य का विस्तार करनेवाले शक्तिशाली राजाओं को जन्म दिया । लेकिन ये शासक ये राजा सदा स्वाधीन नहीं रहे, काल-क्रम में किसी न किसी की अधीनता उन्हें स्वीकार करनी पडी - कभी मिस्री, कभी असीरी, कभी यूनानी और रोमी । यही नहीं, इनके राजवंशों और पुरोहित वंशों में उसी तरह की प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष, रक्तपात, तथा हत्याएँ पायी जाती हैं, जैसी अन्यों में । पिता ने पुत्र की हत्या की, पुत्र ने पिता की, भाई ने भाई की आदि । ये सब पुराना नियम की पृष्ठभूमि में हम देखते हैं ।

सिकन्दर महान की विजय और उसके परिणाम की बहुत-सी बातें ऐसी है जिनका प्रभाव हमें नया नियम में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है । यूनानी संस्कृति को फैलाने में सिकन्दर महान का बहुत हाथ रहा । दानियेल की पुस्तक में सिकन्दर की ओर संकेत करता है ।[1] नया नियम में यूनानी या ग्रीक संस्कृति का प्रभाव दिखाई देता है । सिकन्दर अपने समय के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू का शिष्य था । अरस्तू ने अपने शिष्य सिकन्दर को तत्वज्ञान, नीति, राजनीति, प्राकृतिक विज्ञान और कुछ अंश तक चिकित्सा की शिक्षा दी थी । सिकन्दर और अरस्तू ने उस समय के लोगों के सामाजिक और धार्मिक जीवन में एक नई क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी । ईसाई धर्म, समाज और बैबिल साहित्य

---

1. बैबिल दानि 11:2-4, 5-7.

पर हम यूनान की संस्कृति का प्रभाव देखते हैं । यह प्रभाव मुख्यत: यहूदी धर्म के माध्यम से आया । पुराना नियम की कुछ पुस्तकें यूनानी शासन काल में लिखी गयी थी और नया नियम की सब पुस्तकें यूनानी भाषा में लिखी गयी थी ।

सिकन्दर का आक्रमण और युद्ध भारत के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण है । भारत के लोगों को यूनानियों से बहुत लाभ हुआ और यूनानियों ने भी कुछ बातें भारतीयों से सीखी ।

सिकन्दर ने कम समय में ऐसा विशाल साम्राज्य स्थापित किया, जैसा पहले कभी नहीं हुआ था । उसके कार्यों विजय और चरित्र से लोग बड़े प्रभावित हुए । उसकी ख्याति इतनी फैली कि उसका जीवन चरित्र विश्व की प्रमुख 24 भाषाओं लिखा हुआ मिलता है । सिकन्दर के साथ बहुत से व्यापारी भी रहते थे जिनको वह विजित प्रदेशों के मुख्य नगरों में रख देता था । इन व्यापारियों से यूनानी विद्या और यूनानी भाषा का खूब प्रचार और प्रसार हुआ । यहूदियों के इतिहास में भी यूनानी संस्कृति ने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया । यूनानी शिक्षा का प्रचार हुआ । आथेनस उस समय का विश्वविद्यालय था । बाद में सिकन्दरिया, अन्तयोकिया और तरसुस में विश्वविद्यालय बने । बैबिल लेखक संत पोल ने तरसुस विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण की थी । उस समय तक लोग जातीयता और राष्ट्रीयता में बन्धे थे पर सिकन्दर की विजय के बाद ये विभिन्न राष्ट्रीय मर्यादाएँ सार्वलौकिकता में बदल गयी । साहित्य, कला और शिक्षा का द्वार सब के लिए खुल गया । सिकन्दर ने जातियों का सम्मिश्रण किया । स्वयं पारसी राजकुमारियों से विवाह किया । उस ने सूसा में सौ हाकिमों का विवाह और एक हज़ार सिपाहियों का विवाह असिया की युवतियों से कराया था । सिकन्दर के समय से उदारता और सार्वलौकिकता का नवीन युग आरंभ हुआ । यहूदी, यूनानी सभ्यता से प्रभावित हो रहे थे ।

रोमी लोग नियम और व्यवस्था के प्रेमी थे ।[1] रोम में पूरे साम्राज्य का शासन प्रबन्ध होता था । बहुत-सी बातों में सम्राट निरंकुश होता था । शेक्सपियर के नाटकों में हमें रोमी राज्य सभा और सम्राट के संबंधों में पता लगता है । रोमी शासन प्रबन्ध में स्थानीय स्वायत्त शासन भी होता था । रोमी सभ्यता यूनानी सभ्यता से भी अधिक नगर के जीवन पर निर्भर थी । रोमी साम्राज्य में व्यक्ति को बहुत स्वतंत्रता थी । कर का बोझ अधिक भारी नहीं था परन्तु यहूदियों के लोगों को तो भारी पडता था क्योंकि उनका जातीय कर भी था । शासन की ओर से तरह तरह के कर थे । एक तो व्यक्ति-कर था जो रोमी नागरिकों को छोड 14 वर्ष से अधिक अवस्थावालों को देना पडता था । इसके लिए जनगणना कराई जाती थी ।[2] कहीं कहीं पूरे प्रांत का कर निश्चित करके विशेष व्यक्ति को उगाहने का ठेका दिया जाता था और कहीं कहीं स्थानीय लोग ही कर जमा करते थे ।[3] कर वसूल करनेवाले अधिकांश बेईमान थे, इसलिए अधिकतर लोगों के साथ अन्याय होता था ।[4] नया नियम में उन्हें पापी कहा गया है । सेना में भरती होने में व्यक्ति की स्वतंत्रता थी , भाषा में स्वतंत्रता थी ।

साधारणतया सब लोगों को विश्वास और धर्म की स्वतंत्रता थी । सरकारी धर्म रोमी बहुदेववाद और सम्राट पूजा था । सम्राट पूजा में सम्मिलित न होने पर यहूदियो और ईसाईयों को बहुत दुःख उठाना पडा । सरकारी धर्म के अलावा अन्य धर्म भी फैल रहे थे । व्यक्ति किसी भी मत को मानने में स्वतंत्र था । शासन अधिकतर उस में हस्तक्षेप नहीं करता था परन्तु ऐसी रीतियाँ, जिन में नर बलिदान होता था । बन्द कर दी गई । फिर भी रोमी

---

1. The background of the New Testament, P.162.

2. बैबिल लूक 2:1

3. बैबिल मात्यू 9:12, लूक 5:30

4. बैबिल लूक 3:13, 19:8

शासन यहूदी और ईसाई धर्म के प्रति अनुदार रहा । यहूदी लोग अलग रहते थे । लोग उन्हें विद्रोही समझते थे । रोम में यहूदियों को कभी कभी कष्ट उठाना पड़ा । ईसाई धर्म के प्रति रोमी अनुदार था । जब रोमियों को ज्ञात हुआ कि मसीही धर्म अलग है तो इसे दबाने का भरसक प्रयत्न किया । ईसाई धर्म में ऐसा कुछ नहीं था जो रोमी शासन के विरुद्ध हो । प्रभु येशु ने कहा "जो सीसर का है वह सीसर को दो ।"[1] ईसाई जानते थे कि रोमी शासन समाज की भलाई और व्यवस्था के लिए प्रबन्ध करता है । येशु पर रोम के विरुद्ध होने और राजा होने का दोष लगाया गया ।[2] पर पीलातोस वास्तविक बात समझ गया था ।[3] इस से उसने इसे विद्रोह के रूप में नहीं लिया ।

कुछ ईसाईयों को भी रोमी नागरिक का पद प्राप्त था । सेंट पोल तरसुसवाला नहीं रोम का नागरिक है । रोमी शासन ने कई यात्राओं में पोल की रक्षा की थी । रोमी शासन ने यहूदी या अन्य जातियों के प्रति विद्रोह करते समय ईसाईयों की रक्षा भी की थी ।[4] इन्हीं बातों के कारण पोल ईसाइयों को शासन के अधीन रहने और कर देने को कहता है ।[5] पीटर ने भी राजा का आदर करने को कहा ।[6]

कभी-कभी ईसाइयों से यह माँग की जाती थी कि वे सीसर को वन्दना करें और सीसर प्रभु है । इस पर ईसाई कहते "येशु को छोड हमारा

---

1. मात्यु 12:17
2. मर 15:2, 9:12, जो: 19:12,15
3. मर 15:10, लूक 23 :3,4,14,15, जरे 18:33-37, 19:4,6
4. प्रेरित 18:12-17, 21:21-39, 23:12-15
5. रोमी 13:1-8, 1 तिम: 1-2
6, 1 पीटर 2;13-14

कोई प्रभु नहीं ।[1] सम्राट की वन्दना अगस्टस के समय आरंभ हुई । तिबिरियुस के समय इसका थोडा विकास हुआ । गायुस ने इसका जबरन प्रसार किया । नीरो और क्लौदियुस के समय इस पर विशेष ज़ोर दिया गया । फ्लावियुस सम्राटों के समय यह स्थाई हो गई । ईसाइयों के इस रुख से उन पर बडा सताव आया । लोग शहीद हुए ।[2]

संत पोल ने रोमियों को 56-57 ई. में पत्री लिखी थी । पोल के लिखने से पहले ईसाई, रोम में थे । मसीहियों का वहाँ कुछ विरोध किया जाता था । नाना प्रकार की झूठी बातें उनके विरोध में फैलाई जाती थी । 64 ई. में रोम में आग लग गई । बहुत लोगों को सन्देह था कि सम्राट नीरो ने आग लगवाई । नीरो ने अपने को बचाने के लिए मसीहियों पर दोष लगाया था । यह घोषित किया गया था कि "मसीही लोग सद्नीति, सद्धर्म, शासन और सम्राट के शत्रु है । बाद में ईसाई होना जुर्म माना गया । इसका कुछ संकेत नया नियम में है ।[3]

सुविधा के लिए यहूदी समाज का अध्ययन दो भागों में करेंगे, पालस्तीन यहूदी समाज और प्रवास का यहूदी समाज । इन में बहुत बातों में भिन्नता पाई जाती थी । प्रवासी यहूदियों पर अपने आसपास के वातावरण का प्रभाव अवश्य पडा फिर भी वे अपने धर्म और मातृभूमि के प्रति विश्वस्त बने रहे । "भविष्यवक्ता के वचन" {Sybilline Oracle प्राय: 140 ई.पूर्व} नाम पुस्तक के अनुसार कुछ यहूदी दंडस्वरूप प्रवास में गये । पुराना नियम में भी इसका समर्थन होता है । यहूदियों के जीवन में दो बातें विशेष महत्व की थीं जिनकी रक्षा के लिए वे मर जाना भी सरल समझते थे, एक तो व्यवस्था और दूसरा

---

1. प्रका: 2:13
2. 1 पीटर 4:15-16
3. बैबिल 1 पीट 4:15-16

मन्दिर । वे यरूशलेम से दूर थे, फिर भी यह दूरी विशेष नहीं थी । वे समय समय पर अपने पर्व मनाने यरूशलेम के मन्दिर जाया करते थे । व्यवस्था को पढ़ने और समझने के लिए उन्होंने धर्मशास्त्र का यूनानी में भाषान्तर किया । इस भाषान्तर को "सेपत्वागिंता" नाम दिया गया है । यूनानी लोग इसके द्वारा यहूदी धर्म से प्रभावित हुए । यहूदी यूनानियों के बीच अपने धर्म की अच्छी गवाही देते थे । प्रवासी के यहूदी समाज में फिलो का विशेष स्थान है । वह यहूदी और यूनानी विचारों में समन्वय का अच्छा उदाहरण देता है । फिलो धर्म-प्रचार के क्षेत्र में एक और मार्ग खोलना चाहता था जिस से बड़े बड़े दार्शनिक और ज्ञानी लोग भी यहूदी धर्म को स्वीकार कर लें । फिलो अपने धर्म को बहुदेववाद, अनीति और संशय से बचाना चाहता था । उसने यहूदियों की आँख खोलकर दिखा दिया कि यहूदी धर्मशास्त्र समस्त ज्ञान का स्रोत है । यहूदी धर्म प्रचार और शिक्षा पर फिलो का बड़ा प्रभाव पड़ा, पुराना नियम साहित्य भी उस से प्रभावित हुआ ।

पालस्तीन यहूदी समाज आर्थिक दृष्टि से प्रवासी समाज से अधिक बुरी दशा में था । पालस्तीन कृषि प्रधान देश था । धनी वर्ग में व्यापारी और जमीन्दार था । गरीबी सर्वत्र पायी जाती थी । दासत्व की प्रथा भी थी । पालस्तीन में तीन मुख्य धन्धे थे - कृषि, पशुपालन और मछली पकड़ना । गलील की झील मछली पकड़ने के लिए बहुत अच्छी थी, वहाँ से मछलियाँ प्राय: सारे देश में भेजी जाती थी । येशु के कुछ शिष्य इसी धन्धे के करनेवाले थे । पशुपालन का सुसमाचारों में स्पष्ट संकेत हैं ।[1] येशु एक स्वतंत्र धन्धा करनेवाले थे जिनकी छोटी सुतारी की दुकान भी नसरत में थी । यहूदियों में श्रमिक भी थे । इनकी दशा बुरी थी । दास-प्रथा भी थी । दास कभी-कभी ईमानदार होते थे परन्तु उन में अधिकतर बेइमान थे । वे मालिक का काम ठीक नहीं करते थे या मालिक को धोखा देते थे । दास और स्वामी एक दूसरे से असन्तुष्ट थे । नया

---

1. बैबिल मर : 5:15, योह 10:1-18, लूक 2:8

नियम में पोल और पीटर दोनों दास और स्वामियों को आपस में सद्व्यवहार करने के लिए लिखते हैं ।[1]

बैबिल की रचना करने से पूर्व सेंट पोल पाश्चात्य देश की वास्तविक परिस्थिति तथा उस से छुटकारे का परिचय कराते हैं । पाश्चात्य देश में उन्होंने एक अव्यवस्थित संसार देखा । उस में मानव समाज के आपसी संबंध बिगडे हुए हैं । स्त्री पुरुषों के परस्पर संबंधों में अनैतिकता छा गई है । मस्तिक और चरित्र में विकार होने के फलस्वरूप सामाजिक संबंध टूटने लगे हैं । चरित्रहीनता बढ गई है । यहूदी वास्तविक रूप में पापी है । उन्होंने व्यवस्था भंग की है । यह उन्हें नियमशास्त्र के रूप में दी गई थी, अपने जीवन में नहीं । पोल का कहना है कि इन सब दुर्व्यवहारों का मूल कारण ईश्वर और मनुष्य के बीच आपसी संबंध की अव्यवस्था है ।

नया नियम की पृष्ठभूमि का समाज ऐसा समाज था जिस में यहूदी, यूनानी, रोमी धर्म और रहस्यवादी गुप्त पंथों ने मानवजाति में एक तीव्र लालसा जगा दी पर वे उसे शान्त न कर सके । यूनानी दार्शनिक और रोमी विज्ञान, समाज के लिए एक सर्वगुण संपन्न आदर्श की तलाश में थे । यहूदी समाज नाना प्रकार के लौकिक अत्याचार और धार्मिक भ्रम से पीडित होकर ईसा के आने की बाट जोह रहा था । इसी समय योहन बपतिस्मादाता आया और नये युग के आने की घोषणा की । उसने प्रचार किया । "मन फेरो, क्योंकि स्वर्ग का राज्य निकट आ गया है "।[2] उस में पश्चात्ताप और नैतिक तैयारी के साथ प्रवेश किया जा सकता है । योहन ने यह भी कहा "मेरे बाद वह आनेवाला है, जो मुझ से अधिक शक्तिमान है, मैं इस योग्य नहीं कि झुककर उसके जूते के बाँध खोलूँ । मानव के उद्धार के लिए ईश्वर योजना बद्ध रूप से नये युग का आरंभ कर

---

1. बैबिल कोल 3:22-4, 2:13:18.
2. बैबिल मात्यु 3:2

रहा था जिसके लिए सैकडों वर्ष पूर्व यह घोषणा की गयी थी, सुनो, एक कुंवारी गर्भवती होगी और पुत्र जनेगी, और उसका नाम इम्मानुएल अर्थात् ईसा मसीह रखेगी ।[1]

बैबिल - पात्र सृष्टि :-

बैबिल के कथा प्रसंगों से धार्मिक अधार्मिक दृष्टि का परिचय मिलता है, उसकी पुष्टि बैबिल के चरित्र से भली-भाँति हो जाती है । गुण और अवगुण से सनी हुई विधाता की सृष्टि का वर्णन सरल नहीं है । दुष्टों के पाप और साधु-सज्जनों के गुणों की कथा अगाध समुद्र के समान है, किन्तु संग्रह या त्याग के लिए उन्हें पहचानना आवश्यक है । बैबिल लेखकों ने समस्त बैबिल में अपने विश्वास को व्यक्त किया है, समस्त सृष्टि सत् और असत् तत्वों से परिपूर्ण है । मनुष्य में गुण और दोष है, जैसे प्रेम, त्याग, विनय, सत्य, शील, सौम्यता और काम, क्रोध, मद, लोभ, भय, खेद, जिज्ञासा आदि गुण और दोष सार्वभौम रूप से पाए जाते हैं । बैबिल लेखकों ने पुराना एवं नया नियम में मनुष्य की ऐसी अनेक कृतियों का उल्लेख किया है ।

पुराना नियम में मोसस, अब्राहम, जोश्वा, इसहाक, पूर्वजोसफ, जोब, रूत, दावीद, एस्तेर, यूदित, इसया, जेरमिया, एसकियेल, दानियेल, आदि धर्मभीरू और ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करनेवाले व्यक्तियों के प्रतीक हैं । नया नियम में येशु मूल्यों का समुच्चय हैं, त्याग की मूर्ति हैं । अन्य मेरी, जोसफ, स्नापक योहन, पीटर, पोल, जोन आदि नीति और सदाचार के प्रतीक हैं । हेरोदेस, पीलातोस, आदि स्वार्थी नेताओं के प्रतीक हैं ।

मूशा या मोसस का ऐसी परिस्थितियों में पालन हुआ[2] और

---

1. बैबिल इसया 7:14
2. बैबिल निर्गमन 2:1-10

ईश्वर ने अपने कार्य के लिए उसे सक्षम बनाया । ईश्वर की योजना में मूशा के लिए एक देश-निकाला भी है जो जंगल में उसके लोगों की अगुवाई के लिए एक प्रशिक्षण सिद्ध हुआ । मूशा इस्राएलियों के नेता थे जो मिस्र से मुक्त होकर कानान देश की ओर निकल पडे । मूशा की कथा से यह सीख मिलती है कि जो ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करते हैं उन्हें ईश्वर का विशेष अनुग्रह प्राप्त होता है ।

अब्राहम विश्वासियों के पिता है, जो अपने एकमात्र पुत्र को ईश्वर की इच्छानुसार बलि चढाने के लिए तैयार होता था । वह ईश्वर सेवा और हित के लिए अपने को समर्पण करते थे ।

दावीद राजा येशु के पूर्वज थे । वे ईश्वर के पुजारी थे । वे नीति निपुण और कर्तव्यनिष्ठ राजा थे । वे ईश्वर का आज्ञापालन मानते थे । उन्होंने बैबिल के अनेक भजनगीत लिखे थे । वे सफल शासक थे, जंगली नृत्यों में प्रवीण थे तथा वीणा वादक एवं मधुर-संगीतज्ञ थे । वे ईश्वर के लिए उत्साही थे । वे शासक के रूप में इसी शर्त पर बने रहते हैं कि न्याय करे और नबी तथा पुरोहितों के द्वारा ईश्वर का वचन सुने और उसका पालन करे । येशु दावीद राजा के वंश के थे ।

सोलमन राजा बडे बुद्धिमान थे । हीब्रू गीतों में उन्हें सर्वाधिक न्यायप्रिय और उद्बुद्ध शासक कहा गया है । व्यापार को प्रधानता देने के कारण एक ही वर्ष में उन्होंने इतना धन प्राप्त कर लिया जो बेबिलोन, निनिवे और टायर के समस्त धन से भी अधिक हो गया । बैबिल के ज्ञान साहित्य और सर्वश्रेष्ठ गीत {सोन्ग ओफ सोन्गस} के रचयिता सोलमन माने जाते हैं । वे विवेकशील सफल राजा थे । अपने धन का कुछ भाग उन्होंने अपने सुखभोग केलिए व्यय किया । इसलिए ईश्वर का आज्ञापालन करने में वे श्रद्धा नहीं रखते थे । इसलिए अन्त में उसका पराजय होता है ।

जोब नीतिमान था जिसने बड़े धैर्य के साथ दुःख और विपत्ति सही । जोब का धैर्य विश्व प्रसिद्ध है । वह निर्दोषी है, जो निर्दोष के दुःख भोग की समस्या का उत्तर प्रस्तुत करता है ।

नबियों में ईश्वर के दास का चित्रण है । नबी आदर्श इस्राएल या यहूदी एवं ईश्वर के चुने हुए दूत या प्रतिनिधि माना गया है । इस दास को एक सार्वलौकिक कार्य सौंपा गया है कि वह अन्य जातियों के लिए प्रकाश हो । नैराश्य, विफलता, दुःख और उसकी मृत्यु उसके लोगों के पापों के लिए प्रायश्चित्त होगा । इन नबियों में इसया, जरमिया, एसकियेल, दानियेल आदि प्रमुख हैं । अन्य नबियों में होशे, योएल, आमोस, ओबद्याह, योना, मीक, नहूम, हबक्कूक, सफन्याह, हाग्गै, जकयहि, मलाकी भी आते हैं । इस प्रकार विचित्र रीति से इस्राएली लोग येशु के आने के लिए तैयार किये गये ।

ज़करियास का पुत्र योहन उजड़ प्रदेश में या मरूभूमि में एकान्त रूप से शारीरिक तथा आत्मिक विकास करता रहा । ईश्वरीय विधान में अपनी भूमिका निभाने के लिए योहन के तैयारी की ।[1] चट्टानों के घुमावदार रास्तों और ऊबड़-खाबड़ प्रदेश की गुफाओं में उन्हें आश्रय मिलता था । जन समाज को शिक्षा देने के पहले उन्होंने तपस्या साधना की । वे ऊँट की रोयेंदार खाल के कपड़े पहनते थे, और कमर में चमड़े का पट्टा बाँधते थे । चट्टानों की दरारों में लगाये हुए मधुमक्खी के छत्तों से मधु निकाल कर पीते थे । योहन अपनी साधना आत्मिक विकास करते रहे । उन्हें मुक्तिदाता येशु के ईश्वरीय कार्य की भूमिका तैयार करनी थी । ये येशु को और अन्य लोगों को बपतिस्मा देते थे । उन्होंने येशु के लिए मार्ग तैयार किया । वे बड़े धर्मात्मा थे ।

---

1. बैबिल जोन 1:24

प्रभु येशु सर्वोत्तम गुणों के प्रतीक हैं । बैबिल के महानायक हैं । वे नम्र और कोमल थे । प्रभु ईसा एक अनोखे व्यक्ति हैं - शरीर धारी ईश्वर हैं । ईसा का जीवन ईश्वर का महान् मानवीय विधान है ।[1] वे पिता ईश्वर के आज्ञाकारी रहे ।[2] वे साहसी थे, धर्मात्मा थे । पिता ईश्वर ने अपने ही पुत्र येशु को दूसरों के पाप के परिहार के रूप में शरीर देते हुए, पाप के प्रायश्चित के रूप में बलिदार करने के लिए भेजकर, उनके द्वारा सभी पापों के दंड को भुगताकर दिखाया । येशु में ईश्वर का देहधारण हुआ । येशु मृतकों में से जी उठने के कारण ईश्वर के पुत्र प्रमाणित हुए । वे जीवन्त ईश्वर हैं । वे सर्वशक्तिमान हैं । वे सर्वज्ञानी हैं । मनुष्य के रूप में उनके मुख्य गुण प्रेम, त्याग, पवित्रता, क्षमा, दया, करूणा, सहानुभूति, विश्वसनीयता, ईमानदारी, विनम्रता, धार्मिकता, नैतिकता, शान्तशीलता आदि हैं । विशेष रूप से वे मनुष्यों से प्रेम करते और व्यक्तिगत रूप से उनको जानते, संभालते और उनकी सहायता करते हैं । उन्होंने कभी किसी से घृणा नहीं की । वे दूसरों के दुःख नहीं देखते थे । दूसरों का हित करना ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था । येशु द्वारा पापी, विमुख, भटके हुए मनुष्य का उद्धार हुआ । वे गंभीर रूप से मानव की दुःखद परिस्थिति में सहायक हैं । ईसा अपने स्वभाव के अनुकूल कार्य करते हैं । उनका स्वभाव पवित्र प्रेम है । ईसा प्रेम हैं ।

बैबिल में येशु पूर्ण मनुष्य और पूर्ण ईश्वर के रूप में मिलते हैं । मनुष्य के रूप में वे सर्वगुण संपन्न हैं । वे नीतिमान, बुद्धिमान, वाग्मी, सुन्दर और बलिष्ठ, धर्मज्ञ, सत्यशील, यशस्वी, तेजस्वी, ज्ञान संपन्न, पावन, विनीत, साधु, प्रेमी, दीनदयालु, करूणानिधि, समुद्र के समान गंभीर, हिमवान के समान धैर्यशील, बकरी के समान शान्त, कबूतर के समान निष्कलंक हैं ।[3] येशु ने कर्तव्यों

---

1. मानव पुत्र ईसा - जीवन और दर्शन, डा. रघुवंश, पूर्वरंग

2. Jesus mission as a carring out of the Father's will, Back-ground to the gospels, J.N.M.Wijingaards, P.238.

3. बैबिल एशाया:53:8, मार:4:39, मात्यु :11:28, जोन:18-38, मार: 4:2. जोन 7:15-16. जोन 6:12. जोन: 11:34. जोन: 1:29.

की एक पूर्ण श्रृंखला एकत्रित कर उपदेश और उपमा, सूक्ति और सूत्र शैली आदि रूपों में मनुष्य समाज को दी है । व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व की दृष्टि से उस में वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा सार्वभौम कर्तव्यों का निरूपण हुआ है ।

येशु गुरु या शिक्षक थे । ईसा के भाषणों से जनता के ऊपर विचित्र प्रभाव पडा । जिस समय ईसा पथ भ्रष्ट जनता की, उत्तेजक शब्दों में, भर्त्सना करने लगते हैं, उस समय बूढों की नसों में लहू दौडने लगता है, जवान छाती फुला-फुलाकर अपने इधर उधर बैठे हुए अधिकारियों को क्रोधभरी दृष्टि से देखने लगते हैं, औरतें रो पडती हैं तथा लडके महात्मा ईसा की जय बोल उठते हैं मानो वे यहूदियों के सम्राट है । येशु का उपदेश और जीवन सागर से भी गहन और आकाश से भी व्यापक है ।

ईसा अपने वचनों से और कृत्यों से जन-समाज में प्रिय थे । प्रेम तथा कृपा जैसे मानवीय तथा आध्यात्मिक मूल्यों के संस्पर्श से जनसमाज को ऐसा लगा कि ईश्वर ने संसार को प्यार किया ।[1] ईसा ने मानव समाज को मूल्यों से संपन्न जीवन का मार्ग दिखलाना शुरू किया । ईसा प्रेम और करूणा के प्रतीक थे ।

येशु ने मनुष्य के लिए उसकी रक्षा के लिए अपने जीवन की बलि चढायी । प्रेम पुरस्कार नहीं चाहता । उन्हें कष्ट में ही सुख मिलता है । जिस समय सिपाही उनके कोमल हाथों और पैरों में कील ठोक रहे थे, उस समय हज़ारों नहीं, लाखों नेत्र, प्रलय काल के बादलों की तरह- जलवृष्टि कर रहे थे । संभवत: उन्होंने उसी जल से यरूशलेम को, उसके क्रूर सम्राट को और अत्याचारी अधिकारियों

---

1. मानव पुत्र- ईसा, जीवन दर्शन, डा. रघुवंश, पृ. 57.

को बहा देने की इच्छा की थी । परन्तु उस देवमूर्ति पर इतने बडे अत्याचार का भी कुछ प्रभाव नहीं पडा । वह हँसती ही रही येशु कोमलता से और प्यार से, बिना धीरज खोए, उनको सत्य की ओर ले चले

ईश्वर ने येशु में देहधारण कर मानव इतिहास को नया मोड, एक नया मार्ग, एक नया जीवन आदर्श और पूर्ण उद्धार का एक नया उपाय दिया और येशु ने ईश्वर के राज्य का प्रचार कर नया सामाजिक आदर्श भी प्रस्तुत किया । येशु इस नये युग, नई जीवन प्रणाली के साकार रूप थे ।

येशु के कार्य बहुत है । वे धर्मियों के विशेष रक्षक और बडे योद्धा थे । वे बडे समर्थी थे और बडे ज्ञानी थे जिस से लोगों और जगत् की बातों को जान लेते थे । येशु यहूदियों में से निकले हुए एक मानवीय राजा थे ।[1] वे राजनैतिक राजा या युद्ध करनेवाले मसीह नहीं क्योंकि वे आत्मिक शक्ति को प्रकट करनेवाले हैं ।[2] उन्हें न्याय का वास्तविक ज्ञान हैं ।[3] वे लोकरक्षक हैं । सगुण और निर्गुण ईश्वर हैं जो अलख, अरूप, अनन्त अनादि हैं । वे सृष्टिकर्ता और सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञानी हैं । वे सब को प्रकाशित करनेवाले प्रकाश पुंज है । उनका प्रेम मनुष्य समाज को खोजनेवाला प्रेम है । उनके साथ आदर्श जीवन बितानेवाला प्रेम है । सब कुछ समर्पण करनेवाला प्रेम है ।

येशु पाप में मरी हुई आत्मा को जिला सकते हैं । मरे हुए आदर्शों को जीवित कर सकते हैं, भलाई के प्रति मरी हुई इच्छा को फिर से सबल बना सकते हैं । जब मनुष्य जीवन के मतलब को ही खो बैठते हैं तब वह जीवन को नया बन सकते हैं और नई सृष्टि कर सकते हैं ।

---

1. बैबिल जोन 19:15, जोन 18:37
2. 18:36
3. 18:38

ईश्वरीय विधान को पूरा करने के लिए येशु का जन्म हुआ था । इसलिए साधारण मनुष्य का जीवन ग्रहण करके वे ईश्वर और मनुष्य के अनुग्रह में जीते जा रहे थे । उनके साधारण जीवन में भी गरिमा तथा महिमा अन्तर्निहित थी, जो एक ओर उनके ईश्वर पुत्र होने की व्यंजना थी । दूसरी ओर मानव मुक्ति के लिए क्रूस ग्रहण करने का संकेत भी । अपने हृदय की संपन्नता से वे समाज के लोगों के आदर्श बन गये । वे अपनी कोमलता, अपने शील, सौजन्य तथा विनम्रता से सभी समाज को प्रसन्न कर लेते थे ।[1] उनका स्वभाव, आकार-प्रकार, रूप-रंग तथा नाक-नक्शा आकर्षक तथा प्रभावी हैं । विशेषकर उनकी आँखों की चमक में, उनकी दृष्टि के निक्षेप में रहस्यमय ईश्वरीय आकर्षण हैं । व्यक्तित्व के आकर्षण के कारण वे अपने सारे समाज में प्रसिद्ध तथा प्रभावी होते गये ।[2]

येशु के परमोदात्त उदार एवं मानव मूल्य संपन्न उपदेश सभी समाज के लिए अतीव मूल्यवान् हैं । शिखरोपदेश या पर्वत प्रवचन §सर्मण ऑन द मौउण्ट§ तो विश्व धर्म, विश्व साहित्य एवं विश्व समाज की एक परम निधि ही है । ईसा की जीवनी प्रमुख आदर्श है । इनके सन्देश आशावादी अवश्य हैं और सामान्य मानव समाज को सन्तोष एवं शान्ति प्रदान कर सकते हैं ।

मरियम या मेरी येशु की माँ है, मेरी को येशु की प्रथम शिष्या मानते हैं । आज वह ईश्वर की इच्छा का पालन करने, उसे सुनने के लिए हमारा आह्वान करती हैं । मेरी ने अपने जीवन में विश्वास और प्रेम में दृढ रहते हुए यही किया है । वह बहुत शांत भाव से देवदूत से दिव्य संदेश सुनती हैं । वह एक प्रश्न पूछने का भी साहस करती हैं - सही समय पर सही प्रश्न, "यह कैसे हो सकता है ? मेरा तो पुरुष से संसर्ग नहीं है ।"[3] ये सारी घटनाएँ इस

---

1. मानव पुत्र ईसा, जीवन दर्शन, डा. रघुवंश, पृ. 38.

2. वही, पृ. 40.

3. बैबिल लूक 1:34

बात का स्पष्ट संकेत है कि मेरी का ईश्वर के साथ घनिष्ठता और विश्वास का गहरा संबंध था । तेरी इच्छा मुझ में पूरी हो , कहने के लिए ऐसा विश्वास अत्यन्त आवश्यक था । मरियम मातृत्व की चुनौती सहर्ष स्वीकार करती है । पुराना नियम में मानव-मुक्ति योजना की जो भविष्यवाणियाँ भिन्न भिन्न युग में नबियों द्वारा की गयी थीं । जिनका विवरण उत्पत्ति ग्रंथ में से किया गया है, वे ही अब ईसा मसीहा के जीवन काल में यथार्थ रूप धारण कर लेती हैं । नया नियम की प्रमुख नारी पात्र ईसा की माता मेरी है ।

बैबिल के अनुसार मानव मुक्ति का इतिहास इन्हीं से आरंभ होता है । कुँवारी के गर्भ से मुक्तिदाता का आगमन । बाद में वह जोसफ की पत्नी है । वह आदर्श पतिव्रता पत्नी है, वह बैबिल की नायिका है । उन में सरलता, निष्कनुषता, ईश्वर विश्वास, संयम, त्याग, विनयशीलता, कष्टसहिष्णुता, औदार्य, स्नेह, तेजस्विता, पातिव्रत्य, धर्मभीरूता, साहस आदि जो गुण है, वे प्रशंसनीय हैं । मेरी सरलता तथा मर्यादा के साथ अपना काम करती थी । घर में नंगे पैर वह बिना आहट के चलती-फिरती थी । वह ईश्वर के प्रति अपने प्रत्येक काम के महत्व के बारे में सावधान थी । मेरी घरेलू काम करती थी । मेरी सूत कातती थीं,परिवार की आवश्यकता के लिए कपडा बुनती थी । येशु के कपडे उसने अपने हाथों अवश्य बनाये थे । उसके प्रतिदिन के काम बडी मामूली थे । फिर भी वह उन्हें ईश्वर के प्रति पूर्ण प्रेम रखकर करती थी । जिस से ईश्वर उनको बहुत पसन्द करता था । उसने स्वर्ग दूत से कहा था कि वह 'प्रभु की दासी' है, उसने यह वचन निभाया । येशु की माता बनने के गौरव का उसे मूल्य चुकाना था ।

जोसफ राजा दावीद का वंशज था, मेरी भी । वह बडा धार्मिक, भक्त, ईमानदार, नीतिमान और चरित्रवान था । मेरी की मँगनी जोसफ से हो गयी थी । पर उन दिनों के एक साथ आने के पहले, मेरी पवित्रात्मा ईश्वर

से गर्भवती हो गयी थीं । जोसफ चुपके से उसे त्यागने का विचार कर रहा था । मेरी की पवित्रता से वह सहज ही परिचित रहा है । वह उसे दोषी नहीं समझता था । वह इस संबंध में दिशा पाने की भावना से ईश्वर से प्रार्थना करता रहा । इसी अवसर में येशु के जन्म के बारे में स्वप्न में उसको सूचना मिली । उसने अपनी भूमिका सहर्ष स्वीकार की । वह चमत्कृत था, अज्ञात भाव से इस ईश्वरीय विधान के प्रति कृतज्ञ था । वह दूत के आज्ञानुसार मेरी को अपने यहाँ ले आया । मेरी-जोसफ के वंश को थे । येशु को दावीद वंश में जन्म लेना था और जोसफ भी दावीद राजा की वंश-परंपरा में आता था । दोनों के मन में भविष्य की ईश्वरीय घटना का आभास था । दोनों के मन में उसकी प्रतीक्षा थी । दोनों अपनी अपनी भूमिकाओं के निर्वाह के लिए समर्पित भाव से प्रस्तुत थे । जोसफ जीवन-यापन के योग्य अपने धन्धे का निर्वाह करता और प्रभु का स्मरण । वे बड़े नीतिमान और धर्मात्मा के रूप में चित्रित हैं । वे ब्रह्मचारियों और पतिव्रता का संरक्षक भी थे ।

नया नियम में बारह अपोस्टलस येशु के मुख्य शिष्य थे । ये येशु का अनुकरण करनेवालों के प्रतीक हैं । इसके अलावा अनेक पात्र भी नया नियम में आते हैं । उन में लेखकों का चरित्र उल्लेखनीय है । मुख्य शिष्यों के अलावा संत मारक, संत लूक, संत पोल आदि आते हैं । वे समाज में मूल्यों और नीतियों के पालन में जागरूक रहते हैं ।

हेरोद राजा अधर्मियों का प्रतीक हैं । वह चालाकी आदमी है । उसके लिए कोई भी क्रूर कर्म संभव था । वह येशु को बचपन में मारने के लिए षड्यन्त्र रचता था । वह बेथलहेम के सभी नवजात शिशुओं का वध करवाकर निश्चिन्त हो सकता था । उनकी मृत्यु के बाद हेरोद अन्तिपस को राज्य मिला । वे भी अधर्मी थे । उन्होंने अपने भाई की पत्नी को पत्नी के रूप में स्वीकार किया । ऐसे अधर्म के विरुद्ध कहनेवाले बपतिस्मा योहन का सिर अपनी रखैल पत्नी के निर्देशानुसार उन्होंने काट लिया ।

पीलातोस अधिकार मोहियों का प्रतीक है । अधिकार पाने के लिए या दूसरों के सामने नीतिमान स्थापित करने के लिए, अपनी निर्दोषिता दूसरों के सामने दिखाने के लिए प्रयत्न करनेवालों का नेता हैं । येशु की निर्दोषिता व्यक्त होने पर भी शासन की कुर्सी नष्ट होने के भय से येशु के लिए वध शिक्षा उन्होंने दी । यहूदी लोग पीलातोस से बहुत घृणा करते थे, क्योंकि उसने उन पर अत्याचार किये थे । वह स्वयं भी डरता था कि लोग उसकी शिकायत न कर दें ।[1] पीलातोस के मन में यहूदी प्रजा के प्रति घृणा और द्वेष की भावना थी ।

पुराना नियम के स्त्री पात्रों में रूत-आज्ञापालन, नम्रता, परिश्रम और सन्तोष के मूल सद्गुणों का आदर्श हैं । वह आदर्श बहू के रूप में भी प्रसिद्ध है ।

ईश्वर के साधन बडे से बडे हथियार ही नहीं, परन्तु एक तुच्छ चीज़ भी हो सकती है । यूदित एक स्त्री, पूरी सेना के होते हुए भी सेनापति पर विजय पाती है और अपने देश को बचा लेती है । वह समाज में सब से श्रेष्ठ पति-परायण, कर्तव्यनिष्ठ, ईश्वर भक्त, समाज भक्त स्त्री है ।

एस्तेर के चरित्र में हम ईश्वर भक्ति, अपने लोगों के प्रति प्रेम, आत्मत्याग, और बुद्धि के साथ कृपा-भाव के गुण देखते हैं । उसने अपनी सुन्दरता और बुद्धि ईश्वर को उसके अभिप्राय के निमित्त समर्पित की । उस अभिप्राय की पूर्ति के लिए वह अर्थात् अपने लोगों को बचाने के लिए वह, आवश्यकता पडने पर, मरने को भी तैयार थी । प्रभु ईश्वर में आनन्द के सामने एस्तेर को राज भवन का वैभव तुच्छ प्रतीत होता है ।

---

1. बैबिल जोन 19:12-16

सुसन्ना धर्मी और सुन्दरी थी । वह एक पतिव्रता नारी भी थी । वह ईश्वर भक्ति, निष्कलंकता, शालीनता, स्वभाव, शान्तता आदि का प्रतीक हैं ।

सामाजिक संदर्भ में मानवीय व्यक्तित्व का निर्माण उसकी चारित्रिकता पर निर्भर करता है । समाज में रहने के लिए मनुष्य के चरित्र की महत्ता आवश्यक रहती है । अँग्रेज़ी भाषा में एक कहावत प्रचलित हैं -'करैक्टर इज़ ए बंडल ऑफ हैबिट्स ।' इस से विदित होता है कि चरित्र मानव की आदतों का समूह है । आदत मुख्यत: दो प्रकार की होती हैं सत् और असत् । इसी आधार पर चरित्र भी द्विविध माना जा सकता है - सच्चरित्र और दुश्चरित्र । बैबिल के सच्चरित्र में औदार्य, कर्तव्यपरायणता, आत्मसंयम, सत्यनिष्ठा, वचनपालन, हृदय की निर्मलता, विनयशीलता, प्रेम, त्याग, आदि सद्गुणों का समावेश होता है । इसके विपरीत समस्त असद्गुणों का निवास दुश्चरित्र में रहता है । समाज में दुश्चरित्र को सदैव हेय माना गया है । वह समाज एवं देश को कलंकित कर पतनोन्मुख करता है ।

किसी भी समाज, जाति या राष्ट्र की उन्नति सच्चरित्र कथापात्रों पर ही निर्भर करती है । उत्तम आचरणवाले येशु का, सत्संग करने से चरित्रगत परिमार्जन होता है । इस से दुर्गुणों का विनाश होता है और सद्गुणों का विकास होता है । उत्तम और सच्चरित्र की व्यावहारिकता मानव-जीवन की सर्वोच्च साधना है, कठोर तपस्या है । येशु ने यह तपस्या पूरी की थी ।

बैबिल का काव्य रूप :-

बैबिल साहित्य में सरस कथाएँ, गीत भविष्य का संकेत करनेवाली श्रेष्ठ कविताएँ आदि के दर्शन होते हैं । लेकिन न्यू टेस्टामेण्ट के

न्त में सेन्ट जोन-डिवाइन की रहस्यवादी कविता एपोकैलिप्स विशेष महत्व की ानी जाती है । यह रहस्यपूर्ण कविता रूपकों, प्रतीकों एवं उपमा अलंकारों से री-पूरी हैं । इसका समझना आसान नहीं । इसकी व्याख्या और स्पष्टीकरण i लिए बहुत अधिक कवित्वमय एवं विद्वतापूर्ण साहित्य लिखा गया है । स्वीडन के ार्शनिक और धर्माचार्य इमैन्युएल स्वीडनबर्ग की कृति इस संबंध में उल्लेख्य है । इस ाध्यात्मिक और रहस्यवादी कविता की मुख्य भाव-धारा, वह प्रतिज्ञा है, जिस i पापपूर्ण {नरक} संसार के अनन्तर स्वर्ग नगरी की चर्चा की गयी है । इस में ाग्निकुण्ड तथा आध्यात्मिक दया से देदीप्यमान स्वर्ग नगरी का तुलनात्मक वर्णन ाविता और कला के विचार से अत्यन्त उच्चकोटि का है ।

प्रकाशना ग्रंथ के प्रारंभ में महात्मा ईसा की महान् शक्ति का र्णन है । [1] इस में कहा गया है - देखो ! वह बादलों के साथ आता है । वही भु आदि और अन्त है । वर्तमान, भूत, भविष्य में वह है, था और रहेगा । सके पश्चात् सात नक्षत्रों के रूप में सात-सात गिरिजाघरों में नियुक्त किये जानेवाले वदूतों तथा सात मोमबत्तियों के द्योतक सात गिरिजाघरों का सविस्तार से वर्णन । इन सात गिरिजाघरों के लिए विशेष आज्ञाएँ दिखलायी गयी हैं, जिस में ार्य एवं कर्म के अनुसार फलाफल का आदेश है । अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा, सका मूलभूत सिद्धांत है । इस प्रसंग में ईश्वर के विभिन्न महिमामय स्वरूप और सकी अनन्तशक्ति का भी संश्लिष्ट वर्णन है, जो साहित्य की अमूल्य निधि हैं ।

बैबिल-काव्य की विशेषता वर्णनात्मकता है । इस में सृष्टि का र्णन, मनुष्य की विफलता का पतन का वर्णन, कुलपतियों का वर्णन, जल-प्रलय का र्णन, अन्तिम दिनों का वर्णन, स्वर्ग-नरक का वर्णन, नये युग का वर्णन, प्रकृति

The Daily study Bible, The revelation of John, Dr.William Barclay, P.16.

सौंदर्य का वर्णन आदि आते हैं । पुराना और नया नियमों में अन्तिम समय में होनेवाली बातों का सुन्दर वर्णन चित्रित मिलते हैं । ईश्वर पृथ्वी पर से पापियों को नष्ट करेगा । यहाँ ईश्वर वीर और महिमा से युक्त प्रतिशोध लेनेवाली दिव्य शक्ति है । उस शक्ति के सामने पृथ्वी डर से थर थर काँपती हैं । इसके सामने मनुष्य डर के मारे पीले पड जाएँगे, और छिपने के स्थान ढूँढेंगे और न पाएँगे ।[1] अन्तिम दिनों में पृथ्वी चूर-चूर होगी । उस समय विश्व में उथल-पुथल का समय होगा, और विश्व बिखरने लगेगा । तारे बुझ जाएँगे, सूर्य अन्धेरे में बदल जाएगा, और चन्द्र रक्तमय ।[2] आकाश टुकडे-टुकडे होने लगेगा, अग्नि की धारा बहेगी, और सृष्टि पिघली हुई तरलराशी बन जाएगी । ऋतुओं का क्रम नष्ट हो जाएगा, न तो रात होगी न भोर । सारी व्यवस्था नष्ट हो जाएगी । अन्तिम दिनों में मानवीय रिश्ते टूट जाएँगे । पृथ्वी पर द्वेष और बैर का बोलबाला होगा । लोग एक दूसरे के विरुद्ध हाथ उठाएँगे ।[3] भाई-भाई की हत्या करेगा आदि । सम्मान अपमान में, बल दुर्बलता में, और सुन्दरता, कुरूपता में बदल जाएगी । अन्तिम दिनों का समय न्याय का समय होगा । ईश्वर शोधक की अग्नि जैसा आएगा और उसके सामने कौन ठहर सकेगा । ईसा पृथ्वी पर से पापियों का समूल नाश करेगा । अन्तिम दिनों में मृतकों का जी उठना होगा, जो भूमि के नीचे सोये हैं । उन में धर्मियों की आत्मा सदा के जीवन के लिए और अधर्मियों की आत्मा दंडित हो जाने के लिए हैं । ईसा समस्त राज्य में है ।

नये युग में ईश्वर के लोग (धर्मी) एक प्रजा बनेंगे । संसार में एक अद्भुत उपजाऊपन आएगा । निर्जन प्रदेश लहलहाते खेत होंगे । पृथ्वी लाख गुना फल देगी । नये युग में लडाई नहीं होगी । सब मनुष्यों के लिए एक ही नियम होंगे और पृथ्वी पर बडी शांति होगी । सब राजा मित्र भाव से रहेंगे ।

---

1. बैबिल हेनो 102:1,3
2. बैबिल येशया 13:10, जोएल 2:30,31, 3:15
3. बैबिल ज़करिया 14:13

मनुष्य और पशु के बीच और पशु, पशु के बीच भी कोई शत्रुता नहीं रहेगी । भेडिया और भेड का बच्चा, चीता और बकरी का बच्चा, जवान सिंह और बैल साथ साथ रहेंगे और खेलेंगे ।[1] नये युग में थकावट, शोक और दुःख न रहेंगे । लोग फिर शोक न करेंगे । उनके सिर पर सदा का आनन्द होगा । अकाल मृत्यु न होगी । कोई मनुष्य यह न कहेगा मैं रोगी हूँ ।[2] बीमारी जाती रहेगी, चिन्ता, बेचैनी और विलाप विलीन हो जाएँगे । आनेवाला युग धार्मिकता का युग होगा । उसमें मनुष्य पूर्ण पवित्र और पूर्ण धार्मिक होंगे । मानवजाति भली होगी और प्रभु की कृपा में और उनके प्रेम और भय में जीवन बितायेगी ।

स्वर्ग गीत में स्वर्ग पृथ्वी पर संगीत के स्वदेश के रूप में प्रकाशित हुआ है ।[3] इन पदों में स्तुति का महानतम समवेत-गान (Chorus) है जो समग्र विश्व सुन सकता है । इन में स्तुतिगान उत्तरोत्तर विस्तृत वृत्तों के द्वारा होता है । यह एक अद्भुत समवेतगान के सदृश है, जिस में वादक-दल और गायक दल के विभिन्न अंग गान में एक के बाद एक सम्मिलित किए जा रहे हैं, और अन्त में कोरस अपनी पूर्ण मात्रा में एक ऊँची लहर के सदृश तरंगित हो उठता है, जिस में विभिन्न अंग स्तुति में चरम सीमा तक अपनी ध्वनि मिलाते हैं और कोरस एक अद्वितीय उच्चतम गान बन जाता है । इस में स्वर्ग और पृथ्वी और जो कुछ उन में हैं, सब की रचना और उद्देश्य येशु की स्तुति करना है । विश्व के संबंध में अन्तिम सपना यही है कि वह येशु की स्तुति करनेवाला विश्व होगा ।

समस्त प्रकाशनात्मक साहित्य में प्रभु का दिन संबंधी घटनाओं का वर्णन है । उस में वर्तमान युग के पाप का वर्णन है । उस में वर्तमान युग और

---

1. बैबिल येश 11:6-9, 65:25
2. बैबिल येश 25:8
3. बैबिल प्रकाश 5:7-14

ावी युग के बीच के आतंकों का और आनेवाली युग की आशिषों का वर्णन है। स में अन्तिम समय के सप्नों और दर्शनों का वर्णन भरा हुआ है। समस्त काशनात्मक साहित्य रहस्यवादी कविता से भरा पडा है। इस कविता में तीकों एवं चित्रों का प्रयोग मिलता है। उस में ऐसी बातों का, जिनको मनुष्य ी आँखों ने साक्षात् नहीं देखा और सुना और जिनको मनुष्य के मन और हृदय ने हीं समझा, मानवीय शब्दावली में वर्णन होता है। इस कविता में अवर्णनीय का र्णन है, अकथनीय का कथन होता है, अचित्रणीय का चित्रण होता है। इस कविता ं उन घटनाओं का वर्णन होता है जिनका ज्ञान मनुष्यों को नहीं है, और उन ातों की अभिव्यक्ति होती है जो मानवीय शब्दों और अभिव्यक्तियों से परे है। ह कविता संकेत पद्धति में लिखी गयी है और उन में ऐसी भाषा का प्रयोग किया ाया है कि उन संकेतों को समझने की कुंजी किसी के पास नहीं है।

यह कविता यहूदी शिल्प पर लिखी गयी है। यह दो युगों ी मूल परिकल्पना पर आधारित है। यह रचना एक साहित्यिक रचना है। सको शैली कठिन, जटिल और दुर्बोध है।

इसके अतिरिक्त सामुएल तथा राजाओं की चार पुस्तकें भी हाकाव्य के रूप में हैं। सोलमन रचित श्रेष्ठगीत §सोन्ग ऑफ दी सॉन्गस§ की ोमल पदावली विश्व साहित्य में अनूठी मानी जाती है। जोब की पुस्तक[1] सुन्दर ीति नाट्य का नमूना है। इस कविता में विभिन्न क्षेत्रों से रूपकों की योजना ी गयी है। भजनगीत सर्वाधिक प्रचलित है, यह सुन्दर शब्दावली में प्रार्थनाएँ है। स में ईश्वर की स्तुति, महिमा और आराधना की अभिव्यक्ति है। पाश्चात्य ाहित्य-शास्त्रियों का कथन है कि बारूक और डेबोराह ने जो समवेत संगीत प्रस्तुत िया है, उसका ऐतिहासिक महत्व है। पाश्चात्य देशों के लोग उस में असीम रणा तथा स्फूर्ति का स्रोत पाते हैं। आज भी विजय के अभिलाषी उस से प्रेरणा ाप्त करते हैं और उसको गाते ही जन में अतुलित शक्ति का स्फुरण हो जाता है।

"The book of Job is one of the most magnificient dramatic poems in all literature." Beginnings in the Old Testament, Dr Howard P 179

इन कविताओं की रचना शैली की सर्वप्रमुख विशेषता उसकी स्फूर्तिदायिनी प्रेरणामय भावनाएँ हैं । उस में आध्यात्मिकता के सर्वत्र दर्शन होते हैं । इस ने समकालीन साहित्य को अत्यधिक प्रभावान्वित किया है ।

उपमाएँ तथा दृष्टान्त सुसमाचार पुस्तकों में पाए जाते हैं । येशु ने ऐसी पद्धति में शिक्षा दी थी । उदाहरण के लिए - येशु ने पुनः कहना शुरू किया" तुम संसार की ज्योति हो ।"[1] पहाड पर बनाया हुआ नगर छिप नहीं सकता । लोग दीप जलाकर नपने की नीचे नहीं रखते, बल्कि दीवट पर रखते हैं, जिस से घर के लोगों को प्रकाश मिले । उसी प्रकार तुम्हारी ज्योति मनुष्यों के सामने प्रकाशित रहे, जिस से समाज[2] तुम्हारे भले कृत्यों को देखकर तुम्हारे स्वर्गिक पिता की महिमा का अनुभव करें आदि । बिजली की चमक के समान इन दृष्टान्तों में से सत्य चमकता था । येशु के सुभाषितों में गंभीर शैली और सरल उपमाएँ प्राप्त होती हैं । दूसरों की अपेक्षा येशु ने सुन्दर शैली में भाषण और बोलने में सब से अधिक सूक्तियों का प्रयोग किया ।

बैबिल कविता रूपक एवं भावात्मकता में समृद्ध है । यह नबियों के वचनों तथा आनन्दमय स्तुति की तीव्रता के अनुरूप है । इब्रानी या हीब्रू कविता की प्रमुख विशेषता समान्तरता है (Parallelism) जो[3] अन्य भाषाओं में, अनुवाद में नष्ट नहीं होती । इसी कारण बैबिल के भजनसंहिता जैसी भक्ति-

---

1. बैबिल मात्यु 5:14.
2. बैबिल मात्यु 5:15-16
3. 'The book of Psalms is a collection of 150 spiritual songs or poems, many of which were set to music for tabernade or temple worship", Beginnings in the Old Testament, The poets of the Old Testament, Pr.Howard, F.Vos, P.182.

ाविता उन सभी देशों में जहाँ बैबिल का प्रसार हुआ है, अत्यन्त लोक-प्रिय हुई, ोगों के अन्तरतम भावों की निधि बन गई है । श्रेष्ठ गीत में छ: कविताएँ हैं ो परस्पर समांतर हैं । प्रत्येक कविता में दुलहिन और दुलहे की एक दूसरे के ति लालसा, प्रशंसा और मिलन में आनन्द की अभिव्यक्ति है । ख्रिस्तीय ृष्टिकोण से इस पुस्तक में इस भाव की अभिव्यक्ति है कि ईश्वर अपने लोगों से ्म करता है । यह चित्र नया नियम के अनुरूप है ।

बैबिल कविता में लय है । विलाप गीत की पुस्तक में इसी ा उपयोग किया गया है । उदाहरण के लिए -

"रात को वह फूट-फूट कर रोती है,
उसके आँसू गालों पर ढलकते हैं ।"[1]

बिल कविता में कभी कभी छन्द के प्रयोग भी होते हैं । भजनसंहिता में इसके दाहरण मिलते हैं ।[2] कुछ कविताएँ इब्रानी वर्णमाला के बाईस अक्षरों के आधार पर नियोजित होती है । इसी कारण उनको सूत्रात्मक या वर्णनात्मक (aerostic) विता कहते हैं ।

प्रज्ञा ग्रंथ कविता है ।[3] प्रज्ञा साहित्य की विशेषता यह है कि स में बुद्धि का, सृष्टि की रचना तथा प्रकाशन में ईश्वर की कार्यशक्ति के रूप में ानवीकरण हुआ है । हीब्रू ज्ञानी मनुष्य ईश्वरीय प्रकाशन को मानवी अनुभवों में निहित अर्थों की खोज का आधार मानते थे । इस्राएलियों में दावीद राजा को तोत्र काव्य का पिता माना जाता है । नीति काव्य या सूक्तियाँ जीवन की मस्याओं की विवेकपूर्ण भावना को मानव के सर्वश्रेष्ठ प्रयासों के योग्य मानी जाती हैं

बैबिल विला: 1:2

बैबिल भज: 34, 119, 42:5, 11, 43:5, 46:7

'The book of wisdom is a library of wisdom that provides moral and ethical principles to guide a believer in the present and future', Beginnings in the Old Testament, P.185.

बैबिल साहित्य की गूढ़ता का रहस्य उसकी सूत्रशैली में मिलता है।[1] निश्चय ही शब्द शक्ति का प्रयोग इसके लेखक भली-भाँति जानते थे और इसी से उन में गूढ़ अभिव्यंजनाएँ भी हैं। इस प्रकार सूत्र शैली का कारण जहाँ शब्दों की अभिव्यंजना प्रतीत होती है, वहीं अपनी व्याख्याओं पर अपना तथा अपनी शिष्य परंपरा का एकाधिकार बनाये रखना भी संभवतः उनका अभिप्रेत रहा था। गागर में सागर भरनेवाली सूत्र-शैली में गूढ़ भाव निहित कर देने के उत्कृष्ट उदाहरण बैबिल में यत्र-तत्र मिलते हैं।

बैबिल की भाषा :-

भाषा मनुष्य समाज का आवश्यक अंग है जो पूरे समाज का सूक्ष्म परिचय कराती है। पालस्तीन की भाषा हीब्रू या इब्रानी थी। इस भाषा का बहुत विकास हुआ था। पुराना नियम इसी भाषा में लिखा गया। इब्रानी पंडितों की भाषा थी और अरामी साधारण लोगों की भाषा थी। बैबिल के पुराना नियम की भाषा हीब्रू होते हुए भी उस पर लोगों की सामान्य भाषा अरामी का काफी प्रभाव रहा है। हीब्रू भाषा संगीत से भरी है।[2]

नया नियम की भाषा ग्रीक या यूनानी है। सुसमाचारों से संकेत मिलता है कि येशु यूनानी भाषा जानते थे। उनके समय में ग्रीक भाषा सर्वलौकिक भाषा बन गयी थी। इस भाषा को यूनानी में "कोइने" कहते हैं जिसका अर्थ साधारण भाषा है। नया नियम के लेखकों ने इस भाषा का प्रयोग साहित्य में किया। लूक और पोल भाषा के पण्डित थे। ये नया नियम में मिलनेवाले लूक रचित सुसमाचार एवं अन्य कई पत्रों के लेखक रहे हैं। संत जोन रचित सुसमाचार में दार्शनिक महत्व अधिक है।

---

1. सूत्रात्मक कविता उसे कहते हैं जिसमें चरणों के प्रथम शब्दों में कोई सार्थक योजना रहती है।

2. 'Hebrew is a poetical language, concreate and rich in imagery', Biblical Criticism, Jean Steinmann, London, P.82.

ग्रीक या यूनानी भाषा ने लैटिन {रोमन} भाषा को प्रभावित किया है । सर्वाधिक प्रभाव अंग्रेज़ी भाषा पर पडा । इतिहासकारों का कथन है कि अंग्रेज़ी के दो तिहाई शब्द यूनानी भाषा से लिये गये हैं । ग्रीकों के अनेक शब्द ज्यों के त्यों प्रविष्ट हैं, जैसे डेमोक्रेसी, पोलिटिक्स, इकोनॉमिक्स, ज्योमेट्री, यवनिका, एलेक्शन, बैलट, कांस्टीट्यूशन, किंग, मोनार्क, असेम्बली आदि । बहुत ही ग्रीक शब्द अर्थ शास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त किये जाते हैं जैसे एकोनॉमी, कन्जम्पशन, प्रोडक्शन, डिस्ट्रीब्यूशन आदि । 'आटो' से आरंभ होनेवाले सभी अंग्रेज़ी के शब्द प्राय: यूनानी भाषा के हैं । पाश्चात्य विश्व को यूनानी पर वही श्रद्धा और गर्व है जो भारतीय समाज या पूर्वी विश्व को संस्कृत भाषा पर है । ग्रीक शब्द अंग्रेज़ी भाषा में इतने घुल-मिल गये हैं कि उन्हें निश्चित रूप से पृथक करना कठिन है । सुप्रसिद्ध विश्व इतिहासकार ट्रेवर का मत है कि समस्त प्रभावों से अधिक प्रभाव रोमन साहित्य पर पडा । ग्रीक भाषा एवं साहित्य के अध्ययन के बिना रोम के साहित्य का अध्ययन दुष्कर है ।[1]

सुप्रसिद्ध दार्शनिक लोग पाइथगोरस, सुकरात {Socratees}, प्लेटो, अरस्तु आदि का दर्शन इसी भाषा की देन है । इनका प्रभाव बैबिल में बहुत मिलता है ।

बैबिल का उद्देश्य :-

बैबिल की रचना का उद्देश्य मानव की संपूर्ण मुक्ति या संसार में ईश्वर के राज्य की स्थापना है ।[2] यह मुक्ति या रक्षा संपूर्ण मानव समाज की रक्षा है । यहाँ रक्षा का अर्थ मानव समाज में प्रेम और शान्ति का सन्देश देना है । पुराना नियम येशु के आगमन की तैयारी है या पृष्ठभूमि है । इस के लिए ईश्वर पुत्र

---

1. The history of Ancient World civilization, P.279.
2. पवित्र बैबिल, अनुवादक डा. कामिल बुल्के, प्रस्तावना भाग ।

शरीर धारण कर पृथ्वी पर आया । मानव समाज की समग्र प्रगति और मुक्ति के लिए सारी सम्पत्ति इस में हैं । दरिद्रों को सुसमाचार देने के लिए, बन्दियों को मुक्ति दिलाने के लिए, अन्धों को दृष्टि दान देने के लिए और दलितों को स्वतंत्र करने के लिए ईश्वर ने शरीर धारण किया है । येशु मनुष्य समाज को धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक मूल्यों का सन्देश देते हैं । यह राज्य आत्मत्याग एवं आनन्द का राज्य है । इस राज्य के राजा येशु है, जो अपने महान त्याग के द्वारा तीनों लोकों के राजा नियुक्त हुए हैं । ईश्वर ने मृत्यु के बन्धन खोलकर उन्हें पुनर्जीवित किया । इसलिए मनुष्य समाज का आदर्श रूप येशु हैं । उनकी शिक्षा के अनुसार चलनेवालों को मुक्ति या रक्षा मिलेगी ।

अपनी आचार्यत्व क्षमता, पांडित्य, दिव्य ज्ञान, साधना-सिद्धि का उपयोग, तुलसीदास और येशु ने लोक मंगल के लिए किया है । वे अपनी वाणी से समाज को प्रबोधित और एकात्म करते रहें । आज भी वे उतने ही प्रासंगिक हैं । अतः मानस और बैबिल की उपदेयता भी बहुआयामी हो जाती है । दोनों महान काव्य हैं । महान उद्देश्य लेकर चलते हैं । दोनों में मूलकथा के साथ कई अन्य कथाएँ वर्तमान हैं । वर्णनात्मकता दोनों का प्राण है । धार्मिक प्रगति दोनों का उद्देश्य है ।

निष्कर्ष :-

मानस और बैबिल ईश्वर की आभा से युक्त ज्ञान का प्रकाश फैलानेवाले उत्तम धर्मग्रंथ हैं । ये ग्रंथ मानव समाज को उदात्त भावों से अनुप्राणित कर देते हैं । मानस और बैबिल अपने आदर्शों के कारण विश्व में सत्साहित्य या आध्यात्मिक शिक्षा का साधन बन गये हैं । दोनों ग्रंथ शिक्षात्मक रहे हैं, जिनमें मानव को सन्मार्ग पर चलने की सामाजिक, धार्मिक, नैतिक शिक्षा दी गई हैं ।

मानस एवं बैबिल में ज्ञान और उपदेश प्राप्त होते हैं । समाज में आदर्श जीवन जीने की कला इन में विद्यमान हैं । मानस भारतीय समाज और आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति है । मानस भक्ति ग्रंथ है । श्रीराम आदर्श राजा हैं, आदर्श पति हैं, भाई हैं । मानस में तुलसीदास श्रीराम को ईश्वर के अवतार के रूप में चित्रित करते हैं । बैबिल में येशु ईश्वर की ओर से मनुष्य शरीर धारण कर सब को प्रेम और शान्ति का सन्देश देते हैं । ईश्वर के निर्गुण और सगुण अवतार को भी दोनों ग्रंथों ने स्वीकार किया है । दोनों ने निर्गुण ईश्वर को जानने के लिए सगुण को अनिवार्य माना है । दोनों ग्रंथ समाज के विकास के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं ।

तीसरा अध्याय

मानस और बैबिल में चित्रित समाज - वर्णव्यवस्था, जाति व्यवस्था एवं पारिवारिक संगठन

भारतीय समाज एवं मानस में चित्रित समाज :-

भारत जैसे विस्तृत देश में अनेक प्रकार के धर्म, भाषा तथा आचार-व्यवहार को स्वीकृत करते हुए कई प्रकार के समाज एवं जनसमुदाय रहते हैं । फिर भी यहाँ की सामाजिक व्यवस्था अनेकता में एकता को चित्रित करती है, जिसे हम भारतीय समाज के नाम से पुकार सकते हैं । प्राचीन काल से ही इस समाज में वर्ण एवं जाति के आधार पर कई विभाग देखे जा सकते हैं । वैदिक काल से आज तक भारतीय समाज में कई तरह के वर्ण और जातियाँ उत्पन्न होकर मिट गयी हैं । वैदिक काल के बाद चातुर्वण्य एवं चतुराश्रम का विधान भारतीय समाज के अन्तर्गत मिलता है । यह कर्मानुसार किया गया विभाजन था, जो बाद में जन्मानुसार माना जाने लगा ।

मध्यकाल के भारतीय समाज में जहाँ सम्राटों, सामन्तों और सूबेदारों की प्रमुखता रही अपने स्वार्थ साधन के लिए वर्णाश्रम धर्म का दुरुपयोग किया जाने लगा । उस समय के लोगों में जाति, वर्ण, वंश और गोत्र का भाव अधिक देखा जा सकता है । डा. रमेश कुन्तलमेघ के अनुसार मध्यकालीन समाज की मुख्य विशेषताएँ थीं - पंचायत, वर्ण व्यवस्था एवं परिवार ।[1] मध्यकालीन समाज में इस प्रकार "जन्मना जायते शूद्रः कर्मणा जायते द्विजः" वाली उक्ति विपरीत असर दिखा रही थी। फिर भी सामाजिक संरचना में व्यक्ति के जीवन का आधार धर्म ही माना जाता था । जीवन का लक्ष्य जब पुरुषार्थ का पालन करते हुए मोक्ष प्राप्ति रहा था और परंपरागत भारतीय समाज व्यवस्था की रूपरेखा इसी

---

1. डा. रमेश कुन्तलमेघ, तुलसी आधुनिक वातायन से, पृ. 8-9

पर निर्धारित थी तो भारतीय समाज के धर्माश्रित रहने में कोई शंका नहीं थी । सदाचार आदि मानवता के आधार स्वरूप सभी गुणों से युक्त मानव के निर्माण में सहायक सामाजिक व्यवस्था ही भारतीय आचार्यों को मान्य थी जो लौकिक एवं पारलौकिक जीवन के लिए व्यक्ति मात्र को तैयार करती थी । तुलसीदास ने रामचरितमानस में ऐसे ही एक समाज की कल्पना की है ।

तुलसीदास ने अपने समय को देखा परखा एवं अपनी प्रतिभा से उसे मानस जैसे महत् ग्रंथ में रूपायित किया । मध्यकालीन सामाजिक यथार्थ को सामने रखने के लिए विवश होते हुए भी इस भयावह यथार्थ से दूर अधर्म, अहंकार, मोद, लोभ, आचारहीन व्यवस्था, गरीबी, शोषण, अराजकता, नैतिक पतन एवं हर दृष्टि से मूल्यहीन समाज के चित्रण से अलग होकर एक धार्मिक, निर्लोभ, सदाचार युक्त आदर्श समाज का चित्रण करने में तुलसीदास सफल हुए हैं । उन्होंने टूटते-बिखरते हुए मूल्यों को यथार्थ की पीठिका पर प्रस्तुत करते हुए उन्हें प्रामाणिकता दी हैं । आसुरी वृत्तियों का प्रतीक रावण जो अत्याचारी वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, राम जैसे समाज नायक या लोकनायक की सृष्टि करता है । रामनाम कलिकाल के लिए मुक्तिदायक है । रामनाम की नई अर्थ दीप्ति मध्यकालीन समाज से संबद्ध करके राम कथा का चित्रण तुलसी की अपनी देन है । राम सामाजिक मूल्यों के सर्वोत्तम प्रतीक हैं । मर्यादाओं का पुनः स्थापित करने के लिए गोस्वामी ने लोकनायक राम की पुनःप्रतिष्ठा की । रामचरितमानस में उन्होंने जितने भी प्रकार के मानवीय संबंध हो सकते हैं उन सब का ऐसा सहज और प्रभावशाली सामंजस्य उपस्थित किया कि उनका मानस सर्वसाधारण के लिए एक आदर्श बन गया । तुलसी ने समाज का चित्र इतनी स्वाभाविकता के साथ खींचा कि वह आदर्श मात्र न रहकर दैनिक व्यवहार से संबंधित रहा । तुलसी का सामाजिक आदर्श वर्णाश्रम की सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक मान्यता पर आधारित था । इसे उन्होंने वेद और पुराणों के आधार पर पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया ।

पश्चिम एशियाई समाज एवं बैबिल में चित्रित समाज :-

पश्चिम एशियाई समाज बहुलक समाज रहा है । यहाँ पर कई जातियाँ, भाषा, धर्म आदि के संकेत मिलते हैं । बहुत प्राचीन काल से ही यहाँ के लोग ईश्वर में विश्वास करते थे । वे अपने देवताओं को अपने कुलपति का निकट मित्र मानते थे । लोगों के जीवन में देवताओं का बाहुल्य था । कुल स्थापक के द्वारा कुल और देवता के बीच सीधे व्यक्तिगत संबंध पर ज़ोर दिया जाता था । इस प्रकार के व्यक्तिगत संबंध का आधार धर्म था । स्पष्ट है कि प्राचीन पश्चिम एशियाई समाज में धर्म का स्वरूप आंशिक रूप में ईश्वर के प्रति विश्वास की प्रारंभिक मान्यताओं के कारण था । धर्मानुसार लोग चलते थे, ईश्वर में अटूट विश्वास रखते थे और कई तरह की बलि चढ़ाते थे ।

कालान्तर में धार्मिक आचार एवं अनुष्ठान में विश्वास का आधार नष्ट होता गया । धीरे-धीरे समाज धार्मिकता से फिसलता जा रहा था । धार्मिक आचारों और अनुष्ठानों का संबंध जीवन के आदर्शों से नहीं था, बाह्य आचार एवं व्यवहार प्रधानता पाते गये थे । फलतः पवित्र जीवन के कई नियम बन्धे गये और नियमों का पालन अनिवार्य हो गया । यहूदी लोग ईश्वर की पूजा करनेवाले हो गये । यूनानी लोग दर्शन और कला में प्रमुख बन गये । रोमी लोग विधि-विधान के पक्षधर बने और हर कोई अपने को उच्च मानने लगा । इस से मानवता नष्ट हो गयी । मानवता की पुनःस्थापना के लिए नया नियम के साथ येशु सामने आये । बैबिल के अनुसार येशु महामानव और लोकनायक रहे, जिन्होंने अपने समय की अव्यवस्थित, आचारहीन, लोभी समाज को व्यवस्थित, सदाचारी और निस्वार्थ समाज के रूप में परिवर्तित करने का प्रयास किया ।

बैबिल में चित्रित समाज पश्चिम एशियाई समाज का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करता है । यहाँ भी सामाजिक दृष्टि से श्रेणी भेद थे । शिक्षा में दान-धर्म पर ज़ोर दिया जाता था । पड़ोसियों से अपने समान प्रेम रखने की

व्यवस्था थी । लेकिन जाति-व्यवस्था कट्टर बनी हुई थी । समाज में ब्याज लेने की प्रथा प्रचलित नहीं थी । दास-दासियों से मानवीय व्यवहार किया जाता था । बहुविवाह हो सकते थे । लेकिन अन्तर्जातीय विवाह निषिद्ध था । यहूदियों का जीवन, व्यवस्था पर आधारित था । व्यवस्थाएँ तीन प्रकार की थीं । प्रथम में साधारण नियम थे, द्वितीय में धार्मिक नियम थे और तृतीय में नैतिक नियम थे । इन्हें दैवी नियम माना जाता था और कट्टर धार्मिकता का पालन किया जाता था । दस आज्ञाओं (टेन कमान्टमेन्टस) को बहुत आदर दिया जाता था । यहूदी लोग केवल अपने को ईश्वर की जनता मानते थे और अपने वर्ग की शुद्धि के बारे में बडे ही जागरूक थे । वे अपने को ईश्वर के समान पवित्र मानते थे । समाज में अध्यापन, नीति-न्याय, पुरोहितों का काम, मन्दिर सेवा आदि इन्हीं के हाथों में था ।

नया नियम में मानव-मानवों के प्रति प्रेम की प्रधानता स्वीकृत हैं । प्रेम को ही एकता एवं भाईचारे का आधार माना जाता था ।[1] व्यक्ति का लक्ष्य समाज का लक्ष्य माना जाता था । व्यक्ति वैभवपूर्ण, स्वतंत्र, लेकिन समाज सेवी होता था । व्यक्ति साध्य तो समाज साधन । व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास का संपूर्ण उत्तरदायित्व समाज पर था । समाज में व्यक्ति शरीर के विभिन्न अंगों के समान था ।[2] ईर्ष्या, क्रोध, लोभ, विद्वेष, हत्या, निन्दा, परगमन, अहंकार, मक्कारी, धोखेबाजी आदि दुर्गुण माने जाते थे ।[3] मानव मात्र की सेवा व्यक्ति-व्यक्ति का धर्म था । येशु महामानव थे जिनमें प्रेम की पूर्णता निहित थी ।[4] वे आदर्श मानव थे । जिन्होंने समाज के लिए अपने जीवन की बलि चढायी । बैबिल में कुल मिलाकर मानवीय आदर्श एवं आदर्श सामाजिक जीवन चित्रित है ।

---

1. बैबिल जोन 13:34, 1 जोन 4:16
2. बैबिल रोमि 12:4,5
3. बैबिल गला 5:19
4. बैबिल 1 जोन 4:8

मानस एवं बैबिल का समाज जाति, धर्म, धन, आभिजात्य आदि के नाम पर कठिन भेद-भाव प्रकट करनेवाले थे । मानस में इन सामाजिक बुराइयों से लडने के लिए लोकमानव राम के चरित्र का गठन हुआ और बैबिल में इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए लोकमानव येशु सामने आये । धार्मिक पाखण्डों की प्रवंचनापूर्ण व्याख्याओं के कारण समाज से बहिष्कृत, लोगों के मन में मानस के राम ने स्थान पा लिया । बैबिल में भी येशु की विजय इसी में थी । समाज के निचले स्तर के लोगों को उबारने तथा उन्हें मानवीय बनाने एवं सामाजिक अधिकार के योग्य बनने के लिए मानस में राम तथा बैबिल में येशु ने अपने अपने ढंग से प्रयत्न किया । मानस का राम धर्म की ग्लानि को मिटाने के लिए और अधर्म को मिटाकर धर्म के उत्थान के लिए इस पृथ्वी पर अवतरित हुए ।[1] उनका यह सामाजिक कार्य प्रशंसनीय है । येशु धर्मियों को छोडकर पापियों को बुलाने के लिए, बहिष्कृतों को वरदान देने के लिए, उन में आत्मविश्वास जगाने के लिए पृथ्वी पर अवतरित हुए । ईसा ने मानव समाज को मूल्यों से संपन्न किया । उन्होंने समाज के लिए, उसकी रक्षा के लिए अपने जीवन तक की बलि चढायी । प्रेम तथा कृपा जैसे मानवीय तथा आध्यात्मिक मूल्यों के संस्पर्श से जन समाज को ऐसा लगा कि ईश्वर ने संसार को इतना प्यार किया कि उसने उनके लिए अपने एकलौते पुत्र को अर्पित कर दिया ।

वर्ण व्यवस्था एवं रामचरितमानस :-

ब्राह्मण :-

भारतीय सामाजिक व्यवस्था वर्णों पर आधारित थी । इस व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चार वर्ण माने जाते थे ।

---

1. जब जब अवधपुरी रघुबीरा । धरहि भगत हित मनुज सरीरा ।
   मानस उत्त: ।।3 ख 6.

वर्णक्रम के अनुसार ब्राह्मण को भी सर्वप्रथम स्थान दिया जाता था । उसी को लोगों का गुरू माना जाता था ।[1] ब्राह्मण प्रत्यक्ष देवता के रूप में रहा था । ब्राह्मणों का आचरण इतना महान समझा जाता था इन्हें वर्णों में सब से ऊँचा स्थान प्राप्त था । तुलसीदास भारतीय समाज की इस वर्ण-व्यवस्था को मानते थे और ब्राह्मण का धर्म वेद, यज्ञादि का अध्ययन और अध्यापन करना मानते थे । उनके मत में ब्राह्मण को अपने आदर्श का पालन करना अत्यन्त आवश्यक माना गया और ब्राह्मण के ज्ञान का आदर करते हुए उन्होंने उनकी वन्दना की ।[2] ब्राह्मणों का कार्य समाज में ज्ञान का कार्य प्रदान करना होता है । उन्हें संपत्ति या वैभव की चिन्ता नहीं करनी चाहिए । उन्होंने वर्णाश्रम धर्म का सही मूल्यांकन किया और वर्णाश्रम के अभाव में समाज की घोर अव्यवस्था, अशान्ति, संघर्ष और अनाचार का चित्रण किया । तुलसी के मत में वह ब्राह्मण अत्यन्त शोचनीय है वह अपने धर्म का पालन न करते हुए विषय भोग में रत रहता है ।[3] तुलसी के मत में मर्यादा का उल्लंघन समाज को उच्छृंखल बना देता है और इसलिए दुर्वासनाओं से आक्रान्त ब्राह्मण समाज की भलाई के बदले उसकी हानि ही कर सकता है ।

ब्राह्मण की वास्तविक स्थिति के बारे में राम भी कहते हैं कि "द्विज मुझे प्रिय है" और वे ब्राह्मणों के उद्धार के लिए मानवावतार ग्रहण करते हैं । "विप्र, धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार ।"[4] तुलसी जिस ब्राह्मण की कल्पना करते हैं, वह शुद्ध आचरण, पवित्र मानवीय व्यवहार द्वारा प्रबुद्ध वर्ग का प्रतीक होना चाहिए ।

---

1. गुरूर्हि सर्वभूतानां ब्राह्मणो परिकीर्तितः । - महाभारत, आदि पर्व अः 28, श्लोक 314.
2. बंदउँ प्रथम महीसुर चरना । मोह जनित संसय सब हरना । मानस बालःदोः2
3. सोचिअ विप्र जो वेद विहीना । तजि निज धरमु विषय लय लीना । मानस अयोः 172:2
4. मानस उत्त 86:3

भागवत के भक्त राजा प्रह्लाद यहाँ तक कहते हैं कि भगवान के चरण कमलों से विमुख ब्राह्मण अन्य सारे गुणों से युक्त होने पर भी भक्त चण्डाल से भी निकृष्ट हैं ।[1] विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से परखने पर स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी ने प्राय: आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक गुणों से युक्त ब्राह्मण को ही लोक अभ्यर्थना का अधिकारी बताया है ।

क्षत्रिय :-

क्षत्रियों का प्रमुख कर्तव्य प्रजा रक्षण, दान, यज्ञ, अध्ययन और पराक्रम एवं शक्ति का प्रयोग करना था । वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत क्षत्रिय का दूसरा स्थान था । "क्षतात् किल त्रायते इति क्षत्रिय: ।" क्षत्रिय का मूल काम था दूसरों को नष्ट होने से बचाना । तुलसीदास जो वर्णाश्रम धर्म के समर्थक रहे थे, क्षत्रिय के कर्तव्य से अवगत थे । उनके राम वीर, पराक्रमी, सूर्यवंशी क्षत्रिय रहे हैं, जो पापी रावण के हाथों से लोकमात्र को बचाते हैं । राम आदर्श राजा थे और "राजा प्रकृति रंजनात्"वाली कहावत को सार्थक बनाते थे । मानस में राजा की मर्यादाओं का विशद निरूपण राम में प्राप्त होता है । प्रजा की रक्षा और पालन करना ही क्षत्रिय राजाओं का मुख्य उद्देश्य और धर्म होता है ।

मानस में रघुवंश में पैदा हुए श्रीराम को क्षत्रिय धर्म को निभाते हुए कवि ने दिखलाया है । श्रीराम के हर क्षात्र धर्म के निर्वहण में लक्ष्मण को भी वीरता प्रदर्शन करते हुए देखा जा सकता है । बचपन से ही इन दो वीरों को प्रजा और मुनियों के हितार्थ राक्षसों का ध्वंस करते हुए दिखाया गया है । समाज के कंटक प्राय खर-दूषणों आदि राक्षसों के नाश के लिए विश्वामित्र, श्रीराम और लक्ष्मण को अपने साथ ले जाते हैं । क्षत्रिय संबंधी धारणा को कथा प्रसंग के अनुसार श्रीराम जी के द्वारा लक्ष्मण, परशुराम और खर-दूषणों के प्रति प्रकट कराया है । क्षत्रिय धर्म के प्रतीक रघुवंशियों को, महानता को कैकेयी,

---

1. भागवत 5:19:7

दशरथ, लक्ष्मण और श्रीरामजी के द्वारा प्रसंगानुकूल प्रकट कराया है । लेकिन जो राजा अपने धर्म से च्युत हैं तथा प्रजा के रक्षक नहीं, वे क्षत्रिय या राजा नहीं ।[1] जो क्षत्रिय समाज की रक्षा नहीं करता और धर्म को समाज में प्रतिष्ठित करने में सहायता नहीं करता, वह उपेक्षणीय है ।

वैश्य :-

ब्राह्मण और क्षत्रिय के बाद वैश्य का स्थान आता है । इनका प्रमुख कर्तव्य व्यापार करना होता है । व्यापार के अतिरिक्त खेती और पशुपालन भी इनका काम है ।[2] धन धान्य उत्पन्न करके उसका क्रय-विक्रय एवं धनार्जन वैश्यों का लक्ष्य है । समाज के पालन पोषण का दायित्व वैश्यों पर है । मनुस्मृति में वैश्यों का कार्य पशुओं की रक्षा करना, दान देना, भूमि जोतना, व्यापार एवं लेन-देन का काम करना, यज्ञ करना एवं अध्ययन करना होता है ।[3]

वैश्यों के इस कर्तव्य का मानस में तुलसी ने भी अनुमोदन किया है । अपने श्रम से कमाये हुए कुछ अंश को दान-धर्म में और अतिथि सत्कार में व्यय करना अत्यन्त श्रेयस्कर होता है । तुलसी योग्य गुरु वशिष्ठजी के द्वारा भरत के प्रति उपदेश देने के सिलसिले में इस तरह वैश्य के धर्मों को स्पष्ट करते हैं कि जो वैश्य अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करता वह वैश्य कहलाने योग्य नहीं । उनकी अवस्था शोचनीय रहेगी ।[4] लेकिन कवि ने रामराज्य की कल्पना से वैश्यों की समृद्धि और उनके सच्चरित्र का वर्णन किया है ।[5] जो वैश्य धन-धान्य

---

1. सोचिअ नृपति जो नीति न जाना ।जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना । मानस: अयो: 172:2.
2. गीता अ: 18:44
3. पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
   वणिकपथं कुसीदं च वैशस्य कृषिमेव च । मनुस्मृति प्र: अध्याय:श्लोक:90
4. सोचिअ बयसु कृपन धनवान् । जो न अतिथि सिव भगति सुजान् ।
   मानस अयो 171:3
5. मानस उत्त 21:3

के द्वारा समाज को संपन्न नहीं बनाता, उस वैश्य की निन्दा करनी चाहिए ।

शूद्र :-

वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत सब से पीछे शूद्र आते हैं । ये सेवा-धर्म के अधिकारी है । ब्राह्मण, क्षेत्रय, वैश्य आदि की आज्ञा का पालन एवं सेवा ही शूद्र का कर्तव्य है । मानसकार इसे अक्षरशः मानते हैं और अपने कर्तव्यों से दूर रहनेवाला शूद्र जो ज्ञान की इच्छा करता है वह उनके मत में अत्यन्त शोचनीय है ।[1] तुलसी के समय शूद्र की दशा बहुत शोचनीय थी । उन्होंने ब्राह्मण की श्रेष्ठता का जितना बखान किया है उतना ही शूद्र की हीनता का वर्णन किया है । शूद्र को वह अधिकार नहीं मिल रहा था जो कि अपना वर्ग छोडकर इतर वर्गों में आ सके । शूद्रों के अधर्म आचरण का विस्तार पूर्वक वर्णन उत्तरकाण्ड में मिलता है ।

सेवा-धर्म सब से कठिन साधना है । गोस्वामी ने उक्त भाव को मानस के इन शब्दों में व्यक्त किया है - सेवा धरमु कठिन जगु जाना ।[2]

वर्ग व्यवस्था एवं बैबिल :-

बैबिल में भारतीय समाज की जैसी वर्ण व्यवस्था को खोजना निराधार होगा । फिर भी प्राचीन पश्चिम एशियाई समाज का चित्र जो बैबिल में मिलता है वहाँ वर्ग-भेद का बोल-बाला रहा है । ब्राह्मण बैबिल में नहीं मिल सकता । फिर भी ब्राह्मण का काम ईश्वर पूजन, वेद-वेदाध्यापन, अध्यापन, पौरोहित्य आदि बैबिल में भी देखा जा सकता है । बैबिल में इस काम को करनेवाले लोगों का वर्ग यहूदी नाम से जाना जाता है । जैसे भारत में

---

1. सोचिअ सूद्र विप्र अवमानी ।मुख मान प्रिय ग्यान गुमानी । मानस:अयो:172:3.
2. मानस अयो 293:4.

ब्राह्मण को देवता माना जाता था वैसे यहूदी लोग अपने को ईश्वर के लोग मानते थे ।[1]

यहूदी लोग ब्राह्मण की तरह विद्या, ज्ञान, अध्यापन आदि काम करनेवाले थे । यहूदी में कई उपजातियाँ हैं । इन में फरीसी और शास्त्री धर्म व्यवस्था सिखाने में प्रसिद्ध थे । फरीसी, मौखिक परंपरा को भी मानते थे । ये अलिखित नियमों को व्यवस्था के बराबर मानने के लिए सिखाने लगे । फरीसी भक्त समाज के उत्तराधिकारी थे । वे व्यवस्था का अक्षरशः पालन करना चाहते थे । फरीसी कहते और सिखाते थे । परन्तु आप नहीं करते थे । उन्होंने नाना प्रकार के नियम बनाकर लोगों का जीवन,भार बना दिया था । वे रीति-विधियों और बाहरी बातों पर मन लगाते थे पर धर्म के सार को नहीं समझते थे ।[2] विश्रामवार को मानने के लिए कठोर नियम थे । वे अपने को धर्मी और अन्य सब लोगों को पापी समझते थे ।[3] उनका विशेष ध्यान धर्मशास्त्र की व्याख्या, धर्मशास्त्र की शिक्षा और यहूदी धर्म के प्रसार पर रहता था । इन गुणों के कारण सभाघरों का नेतृत्व उन्हीं के हाथों में रहता था । लोग उनका आदर करते थे । शास्त्री लोग व्यवस्था का अध्ययन करना और उनकी व्याख्या जीवन की प्रत्येक परिस्थिति के अनुकूल करना, संपूर्ण यहूदी जीवन को व्यवस्था से बाँध देना और समाज में धार्मिकता फैलाना, विद्यालय में व्यवस्था सिखाना, शिक्षण संबंधी कार्यों का क्षेत्र विस्तृत करना, नियम बनाना और न्याय करने में निपुणता दिखाना आदि काम करते थे । जन साधारण में इनका बहुत प्रभाव था और इसलिए राजनीति पर भी इनका प्रभाव था ।

यहूदी के बारह गोत्रों में लेवी और हारून वंश मन्दिर की सेवा करते थे । हारून वंश के लोगों को याजक भी कहते थे । लेवियों के धर्म

---

1. बैबिल निर्ग 34:9
2. बैबिल लूक 23:23
3. बैबिल लूक 18:9-10

का पालन सिर्फ मन्दिर तक ही सीमित था । याजकों के लिए व्यवस्था में कठोर नियम थे । उन में रक्त की पवित्रता का होना अति आवश्यक था । याजक अन्य जातीय स्त्रियों से विवाह करने के कारण याजक पद से हटा दिये जाते थे । याजकों की धार्मिकता मन्दिर के बाहर बहुत कम दिखाई देती थी । याजकों में अधिकांश सदूकी मत माननेवाले लोग थे । इन याजकों में एक महायाजक होता था । यह पद अति पवित्र और आदर का समझा जाता था । यह बड़े अधिकार का पद था । यह अधिकार न सिर्फ धार्मिक क्षेत्र में परन्तु राजनैतिक क्षेत्र में भी था । सन् 70 ई. तक महायाजक ﴾महापुरोहित﴿ धार्मिक और लौकिक दोनों क्षेत्रों का अध्यक्ष समझा जाता था । प्रधान याजक यहूदियों की सर्वोच्च सभा के अध्यक्ष थे । इसकी अपनी पुलीस थी । गिरफ्तार करने का अधिकार था ।[1] किन्तु किसी को प्राणदंड देने का नहीं । जरूसलेम का मन्दिर यहूदियों का एकमात्र मन्दिर था । दूसरे स्थानों पर केवल सभागृह थे ।

ईसा के समय याजकों के चौबीस दल थे । वे बारी-बारी से एक सप्ताह तक जरूसलेम के मन्दिर में पुरोहित का कार्य करते थे ।[2] उन्हें वेदी पर चढ़ावा रखने तथा मन्दिरगर्भ में प्रवेश करने की आज्ञा थी । उनके सहायक लेवी कहलाते थे । याजक और लेवी दोनों लेवी वंशी माने जाते थे । प्रातः और सन्ध्या को एक पुरोहित मन्दिर गर्भ में प्रवेश कर धूप की वेदी पर धूप जलाता था । याजकों की संख्या अधिक थी, इसलिए इस कार्य को संपन्न करनेवाले पुरोहित की नियुक्ति के लिए चिट डाला जाता था । मन्दिर गर्भ से निकलकर याजक जनता को आशीर्वाद दिया करता था । वे प्रारंभ में संहिता के व्याख्याता भी थे । इस प्रकार मन्दिर सेवा के काम करनेवाले पुरोहित, याजक, महायाजक और प्रधान याजक थे ।

---

1. नया विधान, डा. कामिल बुल्के, पृ. 724.

2. वही, पृ. 143.

बैबिल में क्षत्रिय का नाम तो कहीं नहीं मिलता । लेकिन राजाओं और राजवंशों का इतिहास बहुत मात्रा में मिलता है । भारतीय विचार के समान बैबिल में भी राजा या शासक ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है । राजा का कर्तव्य होता है कि वह ईश्वर के नाम पर शासन करे । सामुएल राजा, दावीद राजा, येशु, सोलमन राजा आदि आदर्श राजाओं के उदाहरण बैबिल में हैं । राजा का मुख्य कर्तव्य है कि वह अपनी प्रजा से भी ईश्वर की आज्ञा का पालन कराए । बैबिल में येशु को ऐसा ही राजा माना जाता है और उन्हें समस्त राजाओं का आदर्श बताया गया है । ये लौकिक राजा नहीं मनुष्य के हृदय में शान्ति की स्थापना के लिए परिश्रम करनेवाले राजा हैं । बैबिल में भक्त दावीद राजा को भी आदर्श बताया गया है । दूसरे सभी राजाओं का महत्व दावीद से तुलना के आधार पर निर्धारित किया गया है । राजाओं का मूल्यांकन इस आधार पर किया गया है कि वे कितने धर्म परायण और प्रभु की सेवा के प्रति कितने निष्ठावान थे । हेरोदेस राजा और राजपाल पीलातोस विलासी और दुष्ट राजाओं के प्रतीक हैं । यहूदिया में जितने हाकिम नियुक्त किये गये थे, उन में पीलातोस सब से महत्वपूर्ण था । उसने यहूदियों को तरह-तरह से सताया । प्रभु ईसा मसीह का न्याय, मृत्यु, पुनरुत्थान इसके समय में हुआ । येशु के काल में यहूदी लोग रोमी लोगों के अधीन थे । पीलातोस के मन में यहूदी राजा के प्रति अत्यन्त घृणा और द्वेष की भावना थी और प्रजा भी उस से घृणा करती थी ।

इस प्रकार यहूदी जाति ने महान शासकों और राज्य का विस्तार करनेवाले शक्तिशाली राजाओं को जन्म दिया । यहूदी या इस्राएली राजा के इतिहास में हमें भलाई-बुराई, धर्म-अधर्म, स्नेह-दाह, ईमानदारी, बेईमानी आदि के विभिन्न चित्र देखने को मिलते हैं ।

बैबिल में वैश्य शब्द का प्रयोग नहीं मिलता । लेकिन व्यापार करनेवाले लोगों का चित्रण है । बैबिल में कनानी लोग व्यापारी थे ।

मिस्र में जोसफ धान्य वस्तुओं का व्यापार करता था । इब्रानी लोग प्रारंभिक काल में चरवाहे थे, जो भेड़-बकरी पालते थे । वे अपने अस्तित्व के प्रारंभिक काल में भ्रमण करनेवाले थे । गाँव की बस्ती के आस-पास खेत थे और खेतों के सामने भेड़-बकरियों और गाय बैलों के लिए चारा रहता था । वे चारे की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते थे । वे ऐसे क्षेत्र में घूमते थे जिस में उनके पशुधन को पालने के लिए काफी वर्षा होती थी । वे किसी भी स्थान में बहुत दिन नहीं टिकते थे ।

जरूसलेम यहूदा राज्य का और शोमरोन इस्राएल राज्य के राजनगर थे । यहाँ के लोगों के जीवन से संबंधित महान घटनाओं में नागरिक जीवन का बडा महत्वपूर्ण भाग है । यहाँ के लोग खेती में ही लगे रहे । मिट्टी से उनका जीवन चिपका हुआ था । इसलिए यदि अकाल पडा तो घोर संकट आ जाता था । किसान के लिए जीवन बडा कठिन था । वर्षा और उपज की ऋतु छोटी होती थी । फिर भी किसान के लिए वर्ष भर काम रहता था । इसलिए जहाँ वृक्ष अधिक होते थे बहुधा पवित्र स्थान माना जाता था । बैबिल के प्रारंभिक उत्पत्ति ग्रंथ में किसान कैन और चरवाहा आबेल के वर्णन मिलते हैं ।[1] गाँवों का प्रमुख धन्धा कृषि था । अब्राहम धनी थे, उनके पास बहुत भेड़-बकरियाँ थीं । अब्राहम पशुओं और चाँदी-सोने से संपन्न था ।[2] लोट के पास भी भेड़-बकरियाँ, चौपाये और तम्बू थे ।[3] धर्म का संबंध कृषि जीवन बितानेवाले लोगों की ज़रूरतों से था ।

बैबिल के नया नियम के सुसमाचार में कहा गया कि जरूसलेम मन्दिर के ओसारे में कई व्यापारी थे । ये व्यापारी सीधे-सादे लोगों का

---

1. बैबिल उत्प 4:1-15
2. वही, 13:2
3. वही, 13:5

अपने लाभ के लिए शोषण करते थे । येशु ने मन्दिर में व्यापार करनेवालों को वहाँ से निकाल दिया । क्योंकि पवित्र मन्दिर व्यापारियों का लाभ उठाने की जगह बन गया ।[1] गलीलिया प्रदेश के नज़रत और गनेसरेथ के मैदान में मुख्यत: फलों के बगीचे थे । दाखलता, गेहूँ, अंजीर आदि की खेती अधिक होती थी । यहाँ अंगूर की खेती का अधिक प्रचलन था । यह प्रदेश ईसा के जीवन से घनिष्ठ रूप से जुडा था ।

बेथलेहम चरवाहे कठोर जीवन बिताते हुए रातों में भेंड-बकरियों को पहाडी गुफाओं अथवा चट्टानों की छाया में सुरक्षित रखते थे और स्वयं पास की आबादियों में चले जाते थे । इन में अनेक सत्यनिष्ठ तथा शुद्ध हृदय के थे ।

बैबिल में शूद्र संज्ञा न रहते हुए भी शूद्र धर्म, दासत्व का जिक्र स्थान स्थान पर मिलता है । यह परिवार में नौकरी करनेवालों की ओर संकेत है । अधिक दास और दासियाँ कृषकों पर निर्भर रहते थे । इन में अनेक भूमिहीन मज़दूर थे । इनकी स्थिति कमज़ोर थी । बैबिल में सेवा-धर्म का अच्छा चित्र खींचा गया है । सेवा-धर्म सब से कठिन धर्म है । सेवक को अपने कर्तव्य का पालन मन, वचन, कर्म से करना चाहिए । दास का गौरव को यजमान के प्रति पूर्ण प्रेम से ही बढता है । संत पोल एफेसियों के नाम पत्र में सेवा-धर्म का विश्लेषण इस प्रकार किया गया है । "दास मनुष्यों को प्रसन्न करनेवालों के समान दिखावटी सेवा न करो पर येशु के दासों के सदृश हृदय से उनकी इच्छा पूरी करो । जिस प्रकार ईश्वर की आज्ञा मानते हो उसी प्रकार डरते और निष्कपट हृदय से स्वामी की आज्ञा मानो जो शारीरिक रूप से तुम्हारे स्वामी हैं ।"[2]

---

1. बैबिल मात्यु 21-12-17, मार 11:15-19, जोन 2:32
   लूक 19:45-48.
2. बैबिल एफे 3:1-12

संत पोल के काल में दासत्व की प्रथा साधारण बात थीं, और अपनी आर्थिक सामर्थ्य के अनुकूल रोम के साम्राज्य में सब स्वतंत्र लोग अपने घरों में दास रखते थे । दासों का व्यापार होता था । बहुधा घर के दासों से अच्छा व्यवहार किया जाता था । लेकिन कुछ ऐसे भी थे कि वे स्वतंत्र नहीं थे कि यदि चाहे तो क्रूर स्वामी को छोड़ें ।

ईसा, सेवकों को उनके कर्तव्यों के लिए सजग रहने का आह्वान देते हुए कहते हैं -"तुम उन लोगों के समान बन जाओ, जो अपने स्वामी की राह देखते रहते हैं कि वह बरात से कब लौटेगा । जब स्वामी आकर द्वार खटखटाये तो वे तुरन्त ही उसके लिए द्वार खोल दें । धन्य हैं वे सेवक, जिन्हें स्वामी रात के दूसरे या तीसरे पहर आने पर उसी प्रकार जागता हुआ पायेगा ।

समाज में सफल-जीवन-यापन के लिए भारतीय समाज द्वारा आयोजित व्यवस्था का प्राचीन काल में बड़ा ही महत्व रहा था । वर्णाश्रम धर्म के अनुसार मानस में समाज व्यवस्था का वर्णन हुआ है ।[1] जिनका आधार जन्म न होकर कर्म रहा है । वर्णाश्रम व्यवस्था में तुलसी की गहरी आस्था थी । तुलसी का विश्वास था कि वर्णाश्रम धर्म का यथोचित निर्वाह भौतिक उन्नति के साथ साथ आध्यात्मिक विकास में भी सहायक है । रामराज्य के वर्णन में उन्होंने वर्ण व्यवस्था का पालन मुख्य व्यवस्था के रूप में किया है और उसी के आधार पर सुख शान्ति का विकास दिखाया है ।[2] उनके मत में इसके कट्टर पालन से दैहिक, दैविक कष्टों की समाप्ति होती है । लोग अपने अपने धर्म का पालन करेंगे । सब नर आपस में एक दूसरे से प्रेम रखेंगे और पृथ्वी स्वर्ग बन जायेगी ।[3] इस प्रकार वे मानव मानव के बीच के प्रेम एवं मानव मात्र की

---

1. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः
2. बरनाश्रम निज निज धर्म निरत वेद पथ लोग ।
   चलहि सदा पावहि सुखहि नहिं भय सोक न रोग ।। मानस उत्त :20
3. दैहिक दैविक भौतिक तापा । राम राज नहिं काहुहि व्यापा ।
   सब नर करहि परस्पर प्रीति । चलहि निरत श्रुति नीति ।। मानस उत्त: 20: 1

उन्नति का सन्देश वर्णधर्म के पालन के ज़रिये देते हैं ।

बैबिल में वर्गभेद का संकेत भारतीय व्यवस्था के समान मूल्यनिष्ठ, कर्तव्यनिष्ठ, उत्तरदायित्वपूर्ण नहीं था । वहाँ लोगों को स्वतंत्र रूप से काम करने का अधिकार मिलता था । फिर भी भारतीय व्यवस्था के अनुसार चारों वर्णों के लिए जो धर्म रखा गया था वह बैबिल में भी समान रूप से प्राप्त है । यह इस बात का प्रमाण है कि मानव समाज में चाहे वह भारत या किसी अन्य देश का हो, समान व्यक्तियों के लिए एक ही प्रकार के कर्तव्य निर्धारित थे । भारत वर्ष में जन्म कर्म सिद्धांत को महत्त्व मिल जाता था । पश्चिम एशियाई देश में वंशानुक्रम पर बल दिया जाता था । दोनों समाज किसी प्रकार के मिश्रण को स्वीकार नहीं करते थे । सामाजिक अन्याय भारतीय समाज एवं पश्चिम एशियाई समाज दोनों में समान रूप से देखा जा सकता है ।

जाति भेद एवं रामचरितमानस :-

वर्ण व्यवस्था के साथ साथ भारतीय समाज में जाति-भेद का भी प्रचलन था । विभिन्न वर्गों के स्त्री-पुरुषों के संसर्ग से जो सन्तान उत्पन्न होती थी उसका परिचय जाति के द्वारा दिया जाता था । उसका कोई वर्ण नहीं था । मूर्धाभिषिक्त, अम्बष्ठ आदि जातियों का ज़िक्र प्राचीन समाज में मिलता है । अतिरिक्त, वैदेहिक, पुक्कश, निषाद, सूत, मागध, तक्षा, सैरंध्र, आहिंडक आदि अनेक संकर जातियों के नाम उनके काव्यों में एवं प्राचीन ग्रंथों में उल्लिखित हैं ।[1]

रामचरितमानस में वर्ण व्यवस्था के साथ साथ जाति भेद की ओर भी संकेत मिलता है । लेकिन तुलसी जन्म से नहीं कर्म से ही मनुष्य की जाति का निर्धारण करने के पक्ष में थे । जाति भेद का अनुसरण करते हुए भी

1. महाभारतकालीन समाज, पृ. 100.

उनके राम और भरत नीच जाति के निषाद राज गुह का आलिंगन करते हुए दिखाई पडते हैं ।[1] केवट प्रसंग में लघुता के विचार से केवट, ऋषिप्रवर वसिष्ठ को देर से ही प्रणाम करता है । ऋषि अपने हृदय की उच्चता का परिचय देकर उसे बार बार गले लगाते हैं ।[2] छोटी जाति के होते हुए भी राम उसे भक्त के रूप में सम्मानित करते हैं । शबरी प्रसंग में नीच जाति की होते हुए भी राम शबरी के हाथ का दिया खाना खा लेते हैं । तुलसी का कहना है कि मूर्ख से मुख, पामर, चण्डाल, शबर, खस, यवन, कोल, किरात हर कोई राम नाम के जाप से परम पवित्र हो जाता है -

"स्वपच खबर खस जमन जड पावर कोल किरात ।
रामु कहत पावन परम होत भवन विख्यात ।।"[3]

तुलसी की दृष्टि में भक्ति की मिलन भूमि पर सब प्रकार के जाति भेद और लौकिक भेद-भाव मिट जाते थे । नीतिकार के अनुसार जातिगत अपमान व्यक्ति के लिए मरण तुल्य है । तुलसी भी जाति-अपमान को सर्वाधिक दुःखमय मानते हैं । "सबते कहते जाति अपमान" कहकर उन्होंने इसी को व्यक्त किया है । तुलसी की सचेष्ट आन्तरिकता अपने अतिशय उदार और आदर्श के क्षणों में ऐसी ही अभिव्यक्ति कर जाती है ।

मध्यकाल में वर्ण व्यवस्था भयंकर जाति भेद में बदलकर घृणित रूप ले चुकी थी । तुलसी इस बात से दुःखी थे । उत्तरकाण्ड में इसलिए उन्होंने राम के मुँह से कहलवाया -

"भगतिवंत अति नीचउ प्रानी । मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी ।।"[4]

---

1. मानस अयो: 193.
2. वही, 194.
3. वही, 194.
4. मानस उत्त 85:5

तुलसीदास के समान सभी भक्त कवियों ने मध्यकाल में ऐसी ही अभिव्यक्ति की है - जाति-पाँति पूछै नहीं कोई आदि पंक्तियाँ इसी की सूचक हैं । तुलसी का मानस और राम, जाति, वर्ण, वर्ग की दीवारें लाँघकर सब के लिए प्रिय बन गये ।

जातिभेद और बैबिल :-

बैबिल में भी जाति-भकद का स्थान स्थान पर चित्रण मिलता है । यहाँ पर कनानी, हित्ती, परिज्जी, यबूसी, अम्मोनी, मोआबी, मिस्री, याजक, यूनानी, रोमी, लेवी, सदूकी, फरीसी, शास्त्री, जलोती, असेनी, कुमरानी, सामरी, इब्रानी, फिलिप्पी, यहूदी आदि जातियों का उल्लेख किया गया है,[1] जो दिखाता है कि इस समय के लोग जाति-भेद को मानते थे । इस समय अन्तर्जातीय विवाह भी वर्ज्य माना जाता था ।[2] लेकिन ईसा यहूदियों और यूनानियों के भेद नहीं मानते थे । सामरी लोग नीच जाति के माने जाते थे । सुसमाचार के अंतरंग साक्षी इन सामरियों के बारे में यत्र-तत्र स्पष्ट है कि ये लोग घृणा के पात्र समझे जाते थे ।[3] उन से यहूदी किसी प्रकार का व्यवहार नहीं करता था । यहूदियों के अलावा अन्य जाति की स्त्रियों को यहूदी लोगों से दूर किया गया था । सामरियों के रास्ते से यहूदी यात्रा भी नहीं करते थे । परन्तु ईसा की शिक्षा नई थी । वे यहूदी शास्त्रियों से अधिक प्रभावशाली थे । उन्होंने नीच जाति के लोगों से अच्छा व्यवहार किया ।[4] वे उनके साथ उठते थे और भोजन भी कर लेते थे । नीच जाति के प्रति उनके उदार दृष्टिकोण एवं व्यवहार के कारण कभी कभी ईसा आक्षेप और अपमान के शिकार बन जाते थे ।[5]

---

1. बैबिल एस्रा 9:1
2. बैबिल जोन 13:25
3. वही, 4:9
4. बैबिल जोन 4:1-40, लूक 17:11-19, लूक 19:1-10, मात्यु:8:6-13
5. बैबिल मात्यु 9:11.

वे समाज में तुच्छ समझे जानेवाले लोगों के साथ अधिक उदार रहते थें । यहूदी के लिए खास तौर पर दो बातें मना थीं । वह किसी अन्य जातीय के यहाँ मेहमान नहीं बन सकता था । लेकिन ईसा उनके मेहमान बनते थे ।[1]

प्रभु येशु ने समाज के जाति भेद, समाज का मूल्यहीन दृष्टिकोण, संकुचित धारणा तथा अमानवीय व्यवहार का खुले आम विरोध किया । येशु के संग नीच जाति के लोग भी बैठे थे । वे जातियों के बीच की दीवारें तोड देते थे, भेद-भाव का अन्त करते थे । फरीसी नाम का अर्थ है "अलग किए हुए लोग" । फरीसी ऐसे लोग थे जिन्होंने व्यवस्था के छोटे से छोटे ब्योरों के पालन के लिए स्वयं को सामान्य जीवन और साधारण लोगों से अलग किया था । बैबिल में कहा गया था कि तिमुथियुस एक मिश्रित विवाह से पैदा हुआ था । कट्टर यहूदी उस विवाह को विवाह ही मानने से इनकार करता था । कट्टर यहूदी की दृष्टि में यदि कोई यहूदी लडकी भिन्न जातीय लडके से विवाह करे तो लडका या लडकी मृत समझी जाती थी । ऐसे विवाह के पुत्र को संत पोल ने एक यहूदी भाई स्वीकार किया और उसका खतना कराया । इससे पोल ने यह साबित किया कि ईसा ने जातिभेद ही समाप्त कर दिया था । तीमुथियुस उच्च वंश का था । तीमुथियुस का पोल के साथ एक विशिष्ट संबंध था । जब पोल ने कुरिंथियों को पत्र लिखा तब उसने तिमुथियुस को "प्रभु से मेरा प्रिय और विश्वासयोग्य पुत्र" कहा ।[2]

बैबिल में कहा गया कि इस्राएलियों को एदोमी व्यक्ति से घृणा मत करनी चाहिए क्योंकि वे आपस में भाई-भाई हैं । मिस्र निवासियों से भी घृणा नहीं की जानी चाहिए । इन बातों से यह सिद्ध होता है कि भिन्न जातियों के रहते हुए भी बैबिल को आपस में भाई-चारे का सन्देश देना था ।

---

1. बैबिल मात्यु 9:10
2. बैबिल I कोरी 4:16

जाति-भेद को न मानने का उपदेश भी यहाँ मिलता है । जैसे दूसरे जातियों के साथ तुम्हारा बर्ताव अच्छा बना रहे ।[1] कोई भी मनुष्य हीन जातिवाला या अशुद्ध नहीं कहा जा सकता । ईश्वर समान रूप से सभी जातियों पर अपना अनुग्रह फैलाता है ।[2] येशु ने अपना रक्त बहाकर ईश्वर के लिए प्रत्येक वंश, भाषा, जाति और राष्ट्र से मनुष्यों को खरीद लिया ।[3] और एक जगह पर बैबिल में यह आदेश दिया गया है - मनुष्य की जाति को न देखकर सामान्य रूप से मानव की सहायता करनी चाहिए । लगभग नया नियम की समस्त पुस्तकों में यह प्रस्तुत है कि ईश्वर सब जातियों के ईश्वर हैं ।[4] इसके थोडे से उदाहरण देखिए - येशु स्वयं समरिया में गये और वहाँ कुछ दिन ठहरे । रोमी शतपति के लिए येशु ने कहा कि उसने ऐसा विश्वास इस्राएल में भी नहीं पाया ।[5] सामरी कोढी चंगा होकर, धन्यवाद देते हुए लौटा ।[6] येशु केवल यहूदियों की ज्योति नहीं है, वह जगत् की ज्योति हैं । येशु का चरम उद्देश्य था कि समस्त संसार को ईश्वर से मिलाए । रस्किन आदि बैबिल से प्रभावित होकर समाज में प्रचलित ऊँच-नीच की भावना का विरोध करते थे । बैबिल के आदर्श पाश्चात्य वातावरण की सीमा पार करके सार्वभौमिक स्वरूप धारण कर लेते हैं । वहाँ एक नवीन युग का प्रवर्तन आरंभ होता है । येशु, युग-युग के महान समाज सुधारक हैं ।

बैबिल में बताया गया है कि ईश्वर ही सब का जनक हैं । सामरी लोग भी ईश्वर की सन्तानें हैं । भेद डालने में कोई अर्थ नहीं । समाज ने

---

1. बैबिल । पत्रो 2:12
2. वही, 10:28
3. वही, 10:4-5
4. बैबिल प्रकाश 5:9
5. बैबिल मात्यु 8:10
6. बैबिल लूक 17:11-19

सामरियों को अच्छुत ठहराया है और यहूदी जाति की श्रेष्ठता का अभिमान किया है । छुआ-छूत और जाति-पाँति नियम सारहीन हैं । ईसा के जीवन में सामरी स्त्री का प्रसंग मानस के शबरी-प्रसंग के साथ साम्य रखता है । यहूदी लोग सामरी जाति के साथ कोई संबंध नहीं रखा करते थे । लेकिन येशु धार्मिक पूर्वाग्रह की उपेक्षा करते हुए, कुएँ के पास बैठकर एक सामरी स्त्री से पानी पिलाने का अनुरोध करते हैं । ईश्वर की दृष्टि में मानवों के बीच ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव नहीं है । वर्णाश्रम को मानने पर भी तुलसी की दृष्टि में आदर्श समाज में ऊँच-नीच जैसे भेद-भाव का कोई स्थान नहीं है । वर्गों की विषमताओं को समरूप बनाकर वे चाहते थे कि बडाई, छोटे की छोटाई दूर करें ।"[1]

ईसा सभी जातियों की समानता, पडोसियों के प्रति प्यार, गरीबों के प्रति सहानुभूति और दलितों, कमज़ोरों, असहायों के प्रति करूणा की शिक्षा देते हैं । जाति, धर्म, रंग, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक स्थिति पर आधारित कोई भी भेद-भाव ईसा को बर्दाश्त नहीं हैं । आज देश से जाति-प्रथा की भयंकर बुराई को समाप्त कर देना अत्यन्त आवश्यक हो गया है । येशु उपदेश देते हैं, जो उसने किया, सबों को एक समान समझनेवाले एक ऐसे समाज का निर्माण करे जिस में आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों क्षेत्रों में बिना किसी प्रकार के पक्षपात और भेदभाव के सब कोई समान भागीदार हो सके । मानस का भी यही सन्देश है । वहाँ भी जाति पर बल न देकर कर्मों पर ही बल दिये जाने का सन्देश मिलता है । गुहराज केवट निषाद, शबरी आदि की कथाएँ इसी की सूचना देती हैं ।

---

1. बैबिल जोन 4:1-10

ानस और बैबिल में चित्रित समाज - पारिवारिक संगठन का स्वरूप :-

व्यक्ति सामाजिक जीव है, अकेले रहना वह पसन्द नहीं रता । उसे अपने लिए एक परिवार, एक समाज चाहिए । राइट के अनुसार मनुष्यों के समूह को समाज नहीं कहा जाता, अपितु समूह के अन्तर्गत व्यक्तियों संबंधों की व्यवस्था का नाम समाज है ।"[1] समाज का महत्वपूर्ण तत्व, संबंधों ी व्यवस्था, एकता, अतः क्रियाओं के मानकों का प्रतिमान है, जिनके द्वारा माज के सदस्य अपना निर्वाह करते हैं । सामंजस्य, आपसी सहयोग, सदाचरण ादि समाज के मानदण्ड हैं, जिन पर पूरी सामाजिक व्यवस्था टिकी हुई है ।

एक आदर्श समाज में, आदर्श परिवार में प्रत्येक व्यक्ति का या कर्तव्य होता है, उसका निर्देशन हमें मानस और बैबिल के समाज से प्राप्त ोता है । जहाँ परस्पर सहयोग की भावना का अभाव हो, व्यक्ति स्वार्थ में ीन हो, धन संपादन में अतीव तत्पर हो, मैत्री भाव का अभाव हो, ईर्ष्या नपती जा रही हो, परोपकार को भुलाया जा चुका हो, जातिवाद पनपता हा हो, वह समाज एक आदर्श समाज नहीं कहा जा सकता । परिवार के सदस्यों परस्पर स्नेह का अभाव, माता-पिता और गुरू की अवज्ञा, स्वामी-सेवक बंध की अज्ञता, आदि के वातावरण में शान्ति नहीं मिल सकती । इन रिस्थितियों से ऊबकर मनुष्य ऐसे वातावरण की कल्पना करता है, जहाँ से ी सुख मिल सके । उसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्यों के प्रति सजग हना पड़ता है । मानस और बैबिल ने विभिन्न संदर्भों में इसकी शिक्षा विभिन्न दाहरणों के माध्यम से दी है । इस दृष्टि से दोनों धर्मग्रंथों की प्रत्येक शिक्षा ासंगिक हैं । इनमें जीवन का सत्य अंकित रहता है । इसलिए उनका महत्व क्षुण्ण है । यह महत्व देशकाल के परे हैं । मानस और बैबिल में अभिव्यक्त

"It is not a group of people, It is the system of relationships that exists between the individuals of the group". Elements of sociology, Wright, P.5.

इन चरम सत्यों का मानव जीवन में बड़ा ही महत्व है । सामाजिक शिक्षाओं के अन्तर्गत विभिन्न पारिवारिक संबंध, नारी, स्वामी सेवक संबंध, गुरु-शिष्य संबंध, मित्र संबंध, आदि से संबंधित शिक्षायें आती हैं । जिनका विश्लेषण आगे किया जाएगा ।

परिवार समाज का लघुसंस्करण है । परिवार में ही मानव का पालन पोषण एवं शिक्षा प्रारंभ होती है । यहीं से जीवन को दिशा मिलती है । वास्तव में पारिवारिक सीमाएँ, व्यक्ति के पारिवारिक संबंधों और कर्तव्यों तक ही सीमित रहती हैं, किन्तु इन सीमाओं में महत्वपूर्ण है - संबंध कैसे हों, परिवार का कौन सा रूप आदर्श है, उसके लिए क्या अपेक्षित है और क्या त्याज्य । एक आदर्श परिवार की स्थापना करना मानव-जीवन का एक विशिष्ट मूल्य है । समाज और परिवार अन्योन्याश्रित हैं । समाज एवं देश की संपन्नता तथा उन्नति के लिए परिवार को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी पड़ती है और जब परिवार टूट जाता है अथवा बिखर जाता है, चाहे कारण कुछ भी हो, तब बच्चों की ही सब से ज्यादा क्षति होती है क्योंकि वे उस नन्हे से अंकुरित पौधे की तरह होते हैं जिसे सही समय पर सही देखभाल की आवश्यकता पड़ती है । अन्यथा कुछ सूख जायेंगे, कुछ का विकास अपूर्ण रह जाएगा ।

मानस में पारिवारिक संगठन का स्वरूप :-

पारिवारिक जीवन में महाराज दशरथ का परिवार अपने आदर्श रूप में धन्य है । इस परिवार का प्रत्येक व्यक्ति समाज के सामने कोई न कोई आदर्श प्रस्तुत करता है । दशरथ सत्य-प्रतिज्ञ और पुत्र प्रेम का आदर्श प्राणों का परित्याग करके समाज के समक्ष रखते हैं तो श्रीराम पितृ भक्ति, सत्यपालन आदि अनेक गुणों के भण्डार हैं । राम अपने पिता का वचन मानकर वन चले जाते हैं । राम वन जाते समय कैकेयी के प्रति क्रोध अभिव्यक्त नहीं करते हैं, यह उनके महान आदर्श तथा गंभीर व्यक्तित्व का परिचायक है ।

भरत भ्रातृ भक्ति के, लक्ष्मण अपूर्व सहनशक्ति के, कौसल्या प्रेममयी माता के और सीता पतिपरायण पत्नी के आदर्श हैं । कैकेयी भी संसार के सामने एक आदर्श रखती है, वह है पश्चात्ताप का आदर्श । यदि किसी व्यक्ति से अपराध हो जाय तो वह भी कैकेयी के समान पश्चात्ताप करके अपने जीवन को पावन कर सकता है । पति-पत्नी के रूप में राम और सीता, गुरू और शिष्य के संबंध का चित्र वसिष्ठ और राम के द्वारा, माता और पुत्र कौसल्या एवं राम के माध्यम से, पिता और पुत्री जनक और सीता के द्वारा, सांस और बहू कौसल्या और सीता के द्वारा, सेवक और स्वामी हनुमान और राम के माध्यम से, मित्र का मित्र के प्रति व्यवहार राम और सुग्रीव के माध्यम से और शत्रु का शत्रु के प्रति आचरण का मधुर और आदर्श संबंध इस परिवार में देखने को मिलता है ।

मनुष्य के लिए निरपेक्ष आदर्श, राम का अपनी पत्नी, सीता के प्रति प्रेम, पुत्र का अपने पिता के प्रति सम्मान, आज्ञापालन, भाई-भाई के लिए त्याग, देश के लिए राजाओं का, अपने संबंधियों तक का बलिदान उसका मूल आधार है ।

कालजयी कृति मानस में पारिवारिक जीवन की अद्भुत अभिव्यक्ति की परिणति हुई है, ऐसा कहने में किंचित् भी अतिशयोक्ति नहीं । इस में हिन्दू संस्कृति के उत्तम एवं उत्कृष्ट चित्र पाये जाते हैं जो अत्यन्त दुर्लभ हैं । मानस में आदर्श जीवन की संपूर्ण कल्पना साकार हो उठी है । मानस पारिवारिक जीवन का पारिजात है । संक्षेप में कहा जाय तो मानस जन-समाज का महाकाव्य है ।

बैबिल में पारिवारिक संगठन का स्वरूप :-

बैबिल में भी परिवार के महत्व के बारे में अनेक स्थानों पर संकेत मिलते हैं । स्वयं येशु ने बैबिल में परिवार के महत्व को समझाया है ।

माता-पिता एवं सन्तान के बीच के आदर्श को उन्होंने व्यक्त किया है ।[1] परिवार में सन्तान को अपने माता-पिता का आदर करना और बुढ़ापे में उनको संभालना चाहिए ।[2] संत पोल कोरीन्थियों और एफेसियों के नाम पत्र में आपसी प्रेम पर ज़ोर देते हैं ।[3] पति अपनी पत्नी को इस तरह प्यार करे, मानो वह उसका शरीर है । कोई अपने शरीर से बैर नहीं करता । उल्टे, वह उसका पालन-पोषण करता है और उसकी देख-भाल करता रहता है । येशु समाज के साथ ऐसा करते हैं क्योंकि हम उनके शरीर के अंग हैं । जो भी हो, येशु कहते हैं कि आप लोगों में हर एक अपनी पत्नी को अपने समान प्यार करे और पत्नी अपने पति का आदर करे । धार्मिक जीवन की शुद्धता और आचरण की विशुद्धता के बारे में येशु का कथन परिवार एवं पारिवारिक जीवन की पवित्रता की ओर भी संकेत करते हैं ।[4] पति-पत्नियों को पारिवारिक जीवन में हर कार्य में पवित्र रहना चाहिए । व्यभिचार को छोड किसी अन्य कारण से अपनी पत्नी का परित्याग करना उचित नहीं है ।

अच्छे परिवार में हर सदस्य की अलग-अलग जिम्मेदारी होती है । बच्चे कामों में माता-पिता की मदद करते हैं । आपस में इतनी मेल-जोल से रहते हैं कि एक दूसरे के योगदान पर गर्व करते रहते हैं । संकट की घडी में एक दूसरे का साथ देते हैं ।

बैबिल में संयुक्त परिवार का पहला संकेत नोह के परिवार में मिलता है । नोह आदर्श पिता और धर्मी थे । नोह अपनी पत्नी, अपने पुत्रों तथा अपने पुत्रों की पत्नियों के साथ आदर्श पारिवारिक संबंध रखता था । नोह परिवार सहित जहाज़ पर चढकर जल प्रलय से बच गया था । बैबिल में

---

1. बैबिल मार 7:10-13
2. एफे 5:25-33
3. मार 11-12
4. मात्यु 19:3-9

एक ही परिवार में सभी संबंधों के संकेत नहीं मिलते हैं । कई परिवारों के चित्रण में ही इन आदर्शों को देखा जा सकता है । नज़रत परिवार में आदर्श पुत्र येशु है, वे अपने माता-पिता का आदर करते हुए, उनकी सहायता करके, उनके अधीन रहते हैं । उनके परिवार में जोसफ आदर्श पिता और पति हैं । पत्नी के प्रति एकनिष्ठा, निर्व्याज स्नेह, प्रेमपूर्वक उसकी देखभाल करना आदि जोसफ के व्यवहार में एक आदर्श पति का ही स्वरूप है । मेरी आदर्श पत्नी और पतिव्रता नारी है । पति की सहचरी के रूप में हर प्रसंग में उसका साथ देने के साथ ही साथ उसको संकट में सांत्वना देकर मेरी ने अपनी पत्नी का आदर्श निभाया है । माता के रूप में वह क्षमा, ममता और वात्सल्यमयी माता का आदर्श रूप दिखाती है । वह पति-परायण पत्नी का और प्रेममयी माता का आदर्श रूप प्रस्तुत करती है ।

रूत की पुस्तक में बतलहम के एक भक्त परिवार के सुख और दुःख की घटना के बारे में पढ़ते हैं और रूत आदर्श बहू है और आधुनिक नारियों के लिए एक चुनौती भी है । नोमी आदर्श सास है । तोबित की पुस्तक में तोबित के परिवार का चित्रण किया गया है । उसमें तोबित नाम के एक संहिता प्रेमी तथा परोपकारी व्यक्ति का चरित्र प्रस्तुत किया गया है । तोबित आदर्श पिता है, पति है, ससुर है । उनकी पत्नी एदना आदर्श सास है । तोबित आदर्श पुत्र है । उत्पत्ति ग्रंथ में कुलपति याकोब के पुत्र जोसफ आदर्श भाई है ।[1] संत लूक की पुस्तक में पुरोहित ज़करियास और उनकी पत्नी एलिज़बत आदर्श पति और पत्नी हैं । उनके पुत्र स्नापक योहन आदर्श पुत्र है आदि ।

पारिवारिक संबंध :-

मानव के परस्पर संबंध ही सुदृढ़ समाज निर्माण के आधार स्तंभ हैं । समाज में कई प्रकार के व्यक्ति रहते हैं । उनके जीवन का चरम

---

1. Introduction to the Old Testament, Dr.C.Stanley Thoburn P.118.

लक्ष्य भले ही एक हो, परन्तु उसकी प्राप्ति की दिशाएँ भिन्न भिन्न हो सकती हैं । इसलिए उनके जीवन में पारस्परिक संबंधों की भिन्नता भी स्वाभाविक है । किसी से उसके संबंध मैत्री पूर्ण हो सकते हैं तो किसी के साथ शत्रुतापूर्ण भी हो सकते हैं । कोई व्यक्ति सज्जन, संत, महात्मा, परोपकारी, विद्वान या विचारक हो सकता है तो कोई मूर्ख, विवेकहीन, अभिमानी, दुष्ट या परद्रोही भी । इन परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के मानवों से मित्रता पूर्ण व्यवहार कर एक आदर्श जीवन की रूपरेखा प्रस्तुत करना ही समाज के संदर्भ में मानव जीवन का वैशिष्ट्य है । जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक दो पहलू हैं और दोनों के समान विकास से ही मानव जीवन सुख और आनन्द की प्राप्ति कर सकता है ।

भारतीय संस्कृति में परिवार का स्थान महत्वपूर्ण रहा है । सामाजिक शक्ति का स्वरूप परिवार है । परिवार का संगठन दृढ़ रहने में ही परिवार की महत्ता है । इसके लिए परिवार के भिन्न भिन्न सदस्यों को उदार भावनाओं से समन्वित रहना चाहिए । परिवार का यह संतुलन और दृढता विभिन्न पारिवारिक संबंधों पर निर्भर है जैसे माता-पिता, सन्तान, पति-पत्नी, सास-बहू, भाई-भाई, मित्र, गुरू आदि । आगे मानस और बैबिल में चित्रित पारिवारिक संबंधों पर विचार किया जायेगा ।

माता-पिता और सन्तान :-

परिवार उसी को कहते हैं जिस में माता-पिता और सन्तान है । सर्वप्रथम बच्चे का संपर्क माता से होता है । उसके बाद पिता, भाई-बहन आदि अन्य सदस्यों से । परिवार में माता का स्थान ऊँचा रहता है क्योंकि वह सर्वाधिक कष्ट सहनकर बच्चों का पालन पोषण करती है । वह अपनी सन्तान को वात्सल्य और स्नेह देती है । उसका प्रेम निस्वार्थ, अजस्र

और निर्मल है । "माता समं नास्ति शरीर पोषणं"[1] वाली उक्ति प्रसिद्ध है । अंग्रेज़ी में कहावत है Mother is the image of the earth. माँ के सहज गुणों में क्षमा का अत्यधिक महत्व है । माँ शब्द का अर्थ है दया, क्षमा, और ममता । माँ स्नेह और वात्सल्य की मूर्ति है ।

तुलसीदास ने मानस में कौसल्या और सुमित्रा माता के दो आदर्शों को हमारे सामने रख दिया है । कौसल्या का पुत्रस्नेह विवेक से परिचालित है । सुमित्रा अपने पुत्र को राम के साथ वन भेजने में ज़रा भी नहीं हिचकती । माता को पुत्रप्राण, विवेकशीला और तेजस्विनी होना चाहिए ।

राजा दशरथ आदर्श पिता के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं, जो पुत्र के हेतु अपने प्राणों तक को समर्पित करते हैं । मानस में वात्सल्य भाव का उत्कर्ष कई प्रसंगों द्वारा वर्णित हुआ है । राजा दशरथ अपने लिए अनेक प्रकार के कष्टों को सहते हुए भी राम जैसे आदर्श बेटे को आँखों से दूर होते नहीं देखते और शिवजी से प्रार्थना करते हैं -

अजस होउ जंग सुजसु नसाऊ । नरक परौ बरू सुरपुरू जाऊ ।
सब दुख दुसह सहावहु मोही । लोचन ओट रामु जनि होही ।।[2]

पिता को पुत्र प्राणों के समान प्रिय होना चाहिए । लेकिन यह प्यार मोह का कारण न होना चाहिए । पिता के पुत्रस्नेह को विवेक से मर्यादित होना चाहिए । मानस के पिता संबंधी आदर्श दशरथ के चरित्र से स्पष्ट हो जाते हैं ।

पुत्र वास्तव में परिवार का दीपक कहा गया है । "आत्मा वै जायते पुत्रः" की उक्ति से आत्मज को अपना ही अंश माना गया है । समस्त सुखों से संपन्न होने पर भी पुत्र के बिना परिवार शून्य-सा प्रतीत होता है ।

---

1. रामकथा में जीवन मूल्य, डा. अनिलकुमार मिश्र, पृ. 100.
2. मानस अयो 44:1.

तुलसी ने माता-पिता के प्रति, बच्चों के कर्तव्यों के प्रति संकेत किया है ।[1] उनके अनुसार माता-पिता और गुरू इतने महान हैं कि उनकी बातों पर बिना विचार करके ही शुभ मानकर उनका अनुसरण किया जाता है जो लोग माता-पिता और स्वामी की शिक्षा को मानकर चलते हैं, वे ही अपने जन्म लेने का लाभ पाते हैं ।[2] जो पुत्र मन, वचन, कर्म से पिता का आदर करता है वह पिता के लिए प्राणों के समान होता है । ज्ञानी, तपस्वी, दानी, शूर-वीर, धनवान आदि से बढ़कर पितृ-भक्त ही जीवन में सफलता पाता है । श्रीराम नित्य प्रति सबेरे उठकर माता की ही नहीं, पिता और गुरू की वन्दना करते हैं - "प्रातःकाल उठि के रघुनाथा । मातुपिता गुरू नावहि माया ।"[3] श्रीराम में आदर्श पुत्र के योग्य सभी गुण मौजूद हैं ।

पुत्र प्रत्येक अवस्था में पिता की आज्ञा का पालन करे । पिता के औचित्य-अनौचित्य पर विचार करना उसका धर्म नहीं है । श्रीराम अपनी कोमलता, शील, सौहार्द्र प्रेम आदि के कारण सब को अपने परिवार में प्रिय लगते थे । वे अपने माता-पिता के आज्ञाकारी पुत्र थें । माता-पिता के वचन का पालन करनेवालों को चारों पुरूषार्थ प्राप्त होते हैं ।[4] जो अनुचित और उचित का विचार छोड़कर पिता के वचनों का पालन करते हैं, वे सुख और सुयश प्राप्त करके अन्त में स्वर्ग पाते हैं ।[5]

---

1. कोई पित भगत वचन मन कर्मा । सपनेहुँ जान न दूजर धर्मा ।
   धन्य जन्म जगतीतल तासू । पितहि प्रमोद चरित सुनि जासू ।।
   मानस अयो: 176:2
2. मातु पिता गुर प्रभु कै बानी । बिनहि विचार करिअ सुभजानी ॥- मानस: बाल 76:2
3. मानस बाल 204:4
4. चारि पदारथ करतल ताके । प्रिय पितु मातु प्राण सम जाके ॥ मानस :45:1
5. अनुचित उचित बिचारू तजि जे पालहि पितु बैन ।
   ते भाजन सुख सुजस के बसहि अमरपति ऐन॥- मानस अयो: 174

बैबिल में माता मरियम या मेरी ने अपने पुत्र येशु की सारी बातों को अपने मन में संचित रखा और वह उन पर मनन किया करती थी। मेरी अपने कर्तव्यों का ठीक रूप से पालन करती थी। येशु के जन्म के चालीसवें दिन वह शिशु को लेकर जरूसलेम मन्दिर पर पहुँच गयी। येशु पहलौठे पुत्र होने के कारण येशु को ईश्वर को अर्पित करना था। माना जाता था कि परिवार का पहला बच्चा प्रभु को समर्पित होता है, क्योंकि वह परिवार का पहला फल है और परिवार का मुखिया भी। पितृसत्तात्मक समाजों में परिवार का प्रमुख एक प्रकार से पुरोहित माना जाता था, क्योंकि उसे यज्ञ तथा बलिदान करने का अधिकार होता था और मन्दिर में पूजा करने का दायित्व भी उसी पर होता था। इस्राएली या यहूदी समाज में पहलौठे पुत्र को ईश्वर को समर्पित करने तथा फिर निश्चित मूल्य पर वापस खरीदने की परंपरा चली आ रही थी। इस प्रकार मरियम येशु को ईश्वर को समर्पित करती थी। ईश्वर की इच्छा पूरी होने में येशु को माध्यम बनाना था। ईसा का विकास अपने माता-पिता के साधारण जीवनक्रम के साथ हो रहा था। यहूदी माता के दायित्वों का निर्वाह करते हुए मेरी अपने परिवार की व्यवस्था में व्यस्त रहती थी।

बैबिल में माता-पिता की आज्ञा को मानने और उनकी सेवा करने पर बल दिया गया है। बच्चो! अपने माता पिता की आज्ञा मानो क्योंकि वह उचित है।[1] इस से तुम्हारा कल्याण होगा और तुम बहुत दिनों तक पृथ्वी पर जीते रहोगे। अन्यत्र कहा गया है पुत्रो! पिता की शिक्षा ध्यान से सुनो। उसका करने में ही तुम्हारा कल्याण है।[2] अपने पिता का सम्मान करनेवालों को अपनी ही सन्तान से सुख मिलेगा।

---

1. बैबिल एफे 6:1-2
2. बैबिल प्रव 3:2

बैबिल के अनुसार पिता का आशीर्वाद उसके पुत्रों का घर सुदृढ बनाता है ।[1] माता-पिता का सम्मान मनुष्य का गौरव है ।[2] सन्तान को अपनी माता-पिता की सेवा करनी चाहिए । येशु के उपदेशों में परिवार के प्रति उनका दृष्टिकोण यह था कि सांसारिक परिवार से परे एक आध्यात्मिक परिवार की स्थापना करने के लिए वे आये थें । येशु ऐसे पुत्र का आदर्श है जिसने माता-पिता के और घर के साधारण कर्तव्यों को पूरा किया । उसने ऐसी ज़िन्दगी की जो साधारण आदमी की होती है । येशु अपने घर में पुत्र के कर्तव्यों को पूरा कर रहा था । वह छोटे-छोटे कामों को ईमानदारी से कर रहा था । बैबिल में पूर्ण आज्ञाकारी पुत्र आदर्श पुत्र है । सच्चे पुत्र का लक्षण है पूर्णमन और आदर के साथ आज्ञा पालन करना ।

मानस और बैबिल के अनुसार माता-पिता के आदर करनेवालों को सब प्रकार के ऐश्वर्य मिल जाते हैं । बैबिल कहता है जो अपने माता-पिता का आदर करता है, वह दीर्घायु होगा ।[3] उसी बात को मानस में इस प्रकार बताया है -

"अनुचित उचित विचारू तजि जे पालहि पितु बैना ।
ते भाजन सुख सुजस के बसहि अमर पति ऐन ।।"[4]

मानस और बैबिल में माता-पिता और सन्तान के संबंधों का सुन्दर चित्रण हुआ है । मानस में माता-पिता के प्रति बच्चों के कर्तव्यों की ओर संकेत देते हैं जैसे

"कोई पितृ भक्त वचन मन कर्मा । सपनेहुँ जान न दूजर धर्मा ।
धन्य जन्म जगतीतल तासू । पितहि प्रमोद चरित सुनि जासू ॥"[5]

ठीक उसी प्रकार बैबिल में कहा गया कि वचन, मन, कर्म से अपने माता-पिता का

---

1. बैबिल प्रव 3:15
2. वही, 3:17
3. वही
4. मानस अयो 174
5. वही, 45:1

आदर करना चाहिए । राम ने पुत्र का आदर्श रूप प्रस्तुत किया है । माता-पिता की आज्ञा को सर्वोपरि मानकर चलना उनके प्रति आदर की भावना रखना, संकट काल मे उनको सांत्वना देना, उनके साथ विनम्रता पूर्वक व्यवहार करना आदि पुत्र के सभी आदर्श राम में पाते हैं । बैबिल में येशु आदर्श पुत्र है । उन्होंने तीस वर्ष तक माता-पिता के अधीन में रहकर उनकी सहायता की । वे कर्तव्यनिष्ठ आज्ञाकारी पुत्र हैं । बैबिल मे कहा गया कि उन्होंने पिता की आज्ञा मानकर अपना जीवन बलि चढाया । दोनों ग्रंथों में त्याग की भावना को प्रेम और कर्तव्य की कसौटी माना गया है ।

मानस में विवाह और पति-पत्नी संबंध :-

भारतीय संस्कृति के अनुसार पति-पत्नी संबंध पवित्र माना गया है जहाँ पति भर्ता है और पत्नी भार्या है । प्राचीन काल से ही यह सामाजिक विधान रहा है जहाँ 'पतिर्हि देवो नारीणां पतिर्बन्धु: पतिर्गति: पत्युर्गति समा नास्ति दैवतं हि यथा पति:' वाली बात कही गया है । पति की छाया पत्नी के लिए जीवन के धूप में अत्यन्त आवश्यक रहती है । यही भारतीय समाज का विधान रहा है । मानस में श्रीराम आदर्श पति है ।

तुलसी ने पति-पत्नी संबंध के मूल में श्रद्धा, विश्वास अथवा प्रीति को रखकर उसे एक असाधारण सौष्ठव प्रदान करने की चेष्टा की थी । तुलसी दाम्पत्य प्रेम को धर्म नियंत्रित तथा आध्यात्मिक मानते थे । मानस में उस पवित्र संबंध को लेकर कई सूक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं -

"सहज अपावनि नारी पति सेवत सुभगति लहई ।"[1]

"एक धर्म एक व्रत नेमा । काय वचन मन पति पद प्रेमा ।"[2]

---

1. मानस अर 5 क

2. मानस अर : दो: 4:5

औरत का श्रृंगार उसका पति ही है, पतिव्रता नारी ही महान है । यों तो नारी सहज रूप में शूद्र मानी गयी है और पति सेवा करते हुए वह सद्गति को प्राप्त होती है । यही उसका धर्म है, व्रत है और नियमित रूप से इस व्रत का अनुष्ठान करती हुई नारी समाज में ऊँचे स्थान की अधिकारिणी बन जाती है । सीता को अशोकवाटिका में रखकर रावण ने साम, दान, भेद, दण्ड आदि उपायों से पथ विचलित करने का अनेक बार प्रयास किया, परन्तु सीता ने अपने पति श्रीराम का नामस्मरण करते हुए जो उत्तर दिया था, वह पति प्रेम का अनूठा उदाहरण माना जा सकता है । तुलसीदास कहते हैं -

तृन धरि ओट कहति वैदेही । सुमिरि अवधपति परम सनेही ॥
सुनु दस मुख खद्योत प्रकासा । कबहुँ कि नलिनी करई बिकासा ॥
अस मन समुझु कहति जानकी । खल सुधि नहिं रघुबीर बान की ॥
सठ सूनें हरि आनेहि मोही । अधम निर्लज्ज लाज नहिं तोही ॥[1]

मानस की सीता घर के छोटे से छोटे काम को उचित महत्त्व देती है । वे घर के काम को स्वयं अपने हाथ से करती थीं । जब वे अयोध्या में वापस आ जाती हैं, राम का राज्याभिषेक हो जाता है, सीता विधि-विधान से रानी बन जाती हैं, तब भी वे अपने पारीवारिक धर्म का पूरा-पूरा पालन करती हैं । यद्यपि राम के परिवार में अनेक नौकरानियाँ हैं, फिर भी सीता महल में परिवार के सदस्यों की परिचर्या करती है । सभी सासों की श्रद्धापूर्वक सेवा करती है । श्रीराम के साथ पारिवारिक पत्नी धर्म और सासों के साथ पारिवारिक पुत्री-धर्म का पूरा-पूरा निर्वाह करती हैं । तुलसी ने सीता का वर्णन करते हुए लिखा है -

जद्यपि गृह सेवक सेवकानी । बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी ।
निज कर गृह परिचरजा करई । रामचन्द्र आयसु अनुसरई ।[2]

---

1. मानस सुन्द 8:3,4,5
2. मानस उत्त 23:3

जहाँ तुलसी पत्नी के इस सहज पुनीत प्रेम, आत्मत्याग, सेवा-भाव तथा अनुगामिनी बनकर परिचर्या करते हुए जीवन निर्वाह के नैतिक आदर्श कर महत्त्व बताते हैं । वहाँ पर यह भी बताते हैं कि राम का सीता से भी कितना अगाध प्रेम था । इस प्रेम का परिचय राम और लक्ष्मण के क्षेमसमाचार को कहते हुए हनुमानजी ने अत्यन्त कोमल स्वर में यों दिया है -

"जनि जननी मानहु जियँ ऊना । तुम्ह ते प्रेमु राम को दूना ।"[1]

भारतीय दाम्पत्य प्रेम सात्त्विक माना जाता रहा है जिसमें आत्मिक संबंध होता है । सीता तो, भारतीय नारीत्व की गौरव-गरिमा है । सीता साध्वी थी, पतिव्रता थी । सीता पति को नारी के जीवन का एकमात्र आधार और संबल मानती है -

"जिय बिनु देह नदी बिनु बारी । तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ।"[2]

जिस प्रकार प्राणरहित शरीर, जलरहित नदी है, उसी प्रकार पति रहित पत्नी का समाज में कोई मूल्य नहीं, उसका आदर सम्मान नहीं । सीता क्षण भर के लिए भी राम का वियोग सहन नहीं कर पायेंगी -

"राम संग सिय रहति सुखारी । पुर परिजन गृह सुरति बिसारी ।"[3]
"सिय मनु राम चरन अनुरागा । अवध सहस सम बनु प्रिय लागा ।"[4]

सीता ने अपने प्रियतम के संग वन में भी राजप्रासादों से बढ़कर स्वर्गिक सुख का अनुभव करती प्रतीत होती है । इन पंक्तियों में भारतीय सन्नारी का चित्र अंकित हुआ है । नारी का समस्त सुख पति के संग रहने में ही है । इसलिए वह भारतीय साहित्य में जीवन-संगिनी और अर्धांगिनी के नाम से संबोधित होती आ रही है । सुख-दुःख में पत्नी पति का साथ दे, यही पातिव्रत्य धर्म का लक्षण है ।

---

1. मानस सुन्द 13:5
2. मानस अयो 64:4
3. 139:1
4. मानस अयो 139 :2

दाम्पत्य गृहस्थ जीवन का प्राण माना जाता है । दाम्पत्य प्रेम का प्राज्ज्वल और प्रभावशाली चित्र यों अंकित हुआ है - कौसल्या तथा श्रीराम के मना करने पर सीता कहती है -

प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माही । मो कहुं सुखद कतहुं कछु नाही ।[1]

पति से बढ़कर इस संसार में सती साध्वी सीता के लिए और कुछ भी नहीं । पति का सान्निध्य उसके लिए स्वर्गिक सुख से भी बढ़कर है । वे सदा छाया बनकर अपने पति के संग रहना चाहती हैं । सुख-दःख में साथ देना तो उनका समानाधिकार है । वे अपने उस अधिकार से वंचित रहना नहीं चाहतीं । अयोध्या में सीता पहली बार हमारे सामने राम-वनवास के समय आती है । उस अवसर पर हम उन्हें एक आदर्श पत्नी के रूप में पाते हैं ।

चित्रकूट में सीता अपने पिता जनक के पास बैठी है । अचानक रात हो जाती है । सीता का मन श्रीराम के पास जाता है, वे सोचती हैं कि पति रात को वल्कल वस्त्र धारण करें और भूमि पर शयन करें और पत्नी वैभव का अनुभव करें - यह सर्वथा अनुचित है । अतः वह एकदम भावों में मग्न हो जाती है । सीता के सभी मनोभावों को कवि ने इस पंक्ति में साकार कर दिया है -

कहति न सीय सकुचि मन माही । इहाँ बसब रजनी भल नाही ।[2]

पति और पत्नी के पारस्परिक स्नेह से ही परिवार पवित्र होता है । तुलसी ने मानस में पति-पत्नी प्रेम की उत्कृष्टता का उल्लेख किया है । उन्होंने राम, सीता, शिव-पार्वती आदि के पावन जीवन का वर्णन अत्यंत उच्च एवं आदरणीय ढंग से मानस में किया है । लेकिन उन्होंने पति-पत्नी संबंध का विवेचन राम-सीता के पुनीत चरित्रों को लेकर अत्यन्त सुन्दर

---

1. मानस अयो 64 3
2. मानस अयो 286:4

ढंग से किया है । मानस की सीता और राम के दाम्पत्य स्नेह के द्वारा तुलसी ने इस बात की ओर संकेत किया है कि जीवन में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ आने पर भी सीता को राम से और राम को सीता से असीम और अगाध प्रेम रहा । यहाँ ईर्ष्या-द्वेष को कोई स्थान नहीं । सर्वत्र प्रेम, स्नेह, ममता, श्रद्धा, प्यार, दुलार तथा संवेदना के ताने बाने गुंथे हुये हैं । नारी के लिए उसका पति कैसा भी हो पूज्य रहता है । मानस में कहा गया है -

वृद्ध रोग बस जड धन हीना । अंध-बधिर क्रोधी अति दीना ।
ऐसे हु पति कर किय अपमाना । नारी पाव जमपुर दुःखमाना ।।[1]

बैबिल में विवाह और पति-पत्नी संबंध :-

बैबिल में विवाह को पवित्र बन्धन माना गया है । ईश्वर की विशेष सक्रियता के कारण आदि पुरुष और स्त्री अस्तित्व में आये और संपूर्ण मानव जाति उन्हीं की सन्तति है । "ईश्वर ने मनुष्य को अपना प्रतिरूप बनाया । उसने नर और नारी के रूप में उनकी सृष्टि की । ईश्वर ने पति-पत्नी को शान्ति का जीवन बिताने के लिए बुलाया है । ईश्वर ने यह कहकर उन्हें आशीर्वाद दिया "फूलो फलो ।"[2] सृष्टि के प्रारंभ से ही नर और नारी में स्वाभाविक रूप से प्रेम संबंध स्थापित हो गया । आदम और हौवा के प्रेम से लेकर आज तक के जीवन से यह बात सामान्य रूप से प्राप्त होती है कि नर और नारी में परस्पर आकर्षण होता है, प्रेम होता है ।

विवाह एक सामाजिक स्थायी संबंध है, जिसके अन्तर्गत एक स्त्री और पुरुष अपनी प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखते हुए सन्तान के लिए सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करते हैं । विवाह मनुष्यों में अनेक सद्गुणों का विकास करता है और उस में सर्वप्रमुख यह है कि विवाह के पश्चात् पति-पत्नी दोनों में ही

---

1. मानस अर 12 :4-5
2. बैबिल उत्पत्ति 1:27-28

एक दूसरे के प्रति प्रेम भाव के कारण आत्मत्याग की भावना विकसित होती है। वे अपनी स्वार्थ वृत्ति को छोड़कर संपूर्ण परिवार के हित का ध्यान रखते हुए कार्य करते हैं। विवाह में मनुष्य को एक ऐसा साथी मिलता है जिस पर वह भरोसा करता है और उसे अपना विश्वास पात्र बनाता है। बैबिल में इस सारे शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक संबंधों की पूर्ति की अभिव्यक्ति मिलती है। पति-पत्नी का संबंध पावन है और वह समाज के कल्याण के लिए अनुपेक्षणीय है। बैबिल में इस संबंध पर काफी चर्चा मिलती है। जोसफ और मरियम आदर्श पति-पत्नी है। जोसफ एक पत्नीव्रती है। उन्होंने विवाह का पवित्र उद्देश्य सुरक्षित रखा। मन, वचन और कर्म से मरियम उसका अनुपम प्रेम था। वह नीतिमान, सत्यनिष्ठ, त्यागी पति का प्रतीक है। कठिन स्थिति में भी वह सुदृढ रहा और मरियम का सच्चा साथी, वैसे ही मरियम भी। वह विनय की मूर्ति और पतिव्रता नारी थी।

येशु ने उसके अनुयायियों के लिए वैवाहिक जीवन का एक उच्च आदर्श प्रस्तुत किया है। पाश्चात्य देशों में वैवाहिक जीवन की पवित्रता और स्थायी संबंधों का येशु के पहले अधिक उदाहरण नहीं मिलते। बैबिल के अनुसार विवाह का अर्थ है दो व्यक्तियों की पूर्ण एकता। जिस में केवल एक कर्म के लिए नहीं वरन् जीवन के समस्त कार्यों को सन्तोषप्रद एवं सहभागितापूर्ण ढंग से चलाने के लिए दो व्यक्ति साथ होते हैं। यही विवाह का मूलाधार है। विवाह में पति पूर्णरूपेणा पत्नी को समर्पित रहता है, और पत्नी पति को समर्पित है। येशु उपदेश देते हैं वैवाहिक जीवन में दोनों के व्यक्तित्व एक दूसरे के पूरक हों। विवाह से जीवन सीमित नहीं होना चाहिए, विवाह से दोनों के जीवन की पूर्ति होनी चाहिए। दोनों साथियों के लिए विवाह से जीवन में एक नया सन्तोष, नयी प्रचुरता आनी चाहिए। विवाह दो व्यक्तियों की एकता है जिस में दोनों एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं। यह अकेले रहने की अपेक्षा अधिक समृद्ध, अधिक आनन्दमय, अधिक सन्तोषप्रद होता है।

आदर्श पति-पत्नी वे हैं जो एक दूसरे का अधिक ध्यान रखते हैं, अटूट प्रेम करते हैं, सेवा करने में गौरव मानते हैं, एक दूसरे को समझते हैं और इसलिए एक दूसरे को सदा क्षमा करते हैं । बैबिल में उत्तम पत्नी के बारे में कहा गया है - पत्नियों का श्रृंगार बाहरी-केश प्रसाधन, स्वर्ण आभूषण तथा सुन्दर वस्त्र नहीं है । वह हृदय के आभ्यन्तर का विनम्र तथा शान्त स्वभाव का अनश्वर अलंकरण हो, जो ईश्वर की दृष्टि में महत्व रखता है । प्राचीन काल में ईश्वर पर भरोसा रखनेवाली तथा अपने पतियों के अधीन रहनेवाली स्त्रियाँ इसी तरह अपना श्रृंगार करती थीं । उदाहरण केलिए सारा रूत, यूदित, एस्तेर आदि पति की आज्ञा का पालन करतीं और उन्हें स्वामी कहकर पुकारती थीं । इस संबंध में कई उपदेश भी बैबिल में मिलते हैं जैसे पत्नी प्रभु जैसे अपने पति के अधीन रहे ।[1] पति पत्नी का शीर्ष है आदि ।

बैबिल के अनुसार तलाक घृणास्पद है । जिसे ईश्वर ने जोडा उसे मनुष्य अलग न करे । अपने पति का आदर करनेवाली पत्नी अपने जीवन में हमेशा सफल होती है । बैबिल के अनुसार पति ही पत्नी की रोशनी है । इसके बिना नारी का संसार सूना है ।

पतिव्रता का आदर्श समाज के लिए उच्चकोटि का मूल्य गौरव है । मानस और बैबिल दोनों ग्रंथों में मिलनेवाली सूक्तियाँ एक स्वर से पति-पत्नी के इस पवित्र संबंध में पत्नी के धर्म का समान रूप से जिक्र करती आयी हैं । लेकिन बैबिल ने इसके साथ साथ स्त्री के महत्व को भी चित्रित किया है और पति धर्म से संबंधित सूक्तियाँ भी प्रस्तुत की हैं । जैसे "पति अपनी पत्नी को हमेशा प्यार करे, पति अपनी पत्नी को इस तरह प्यार करे मानो वह उसका अपना शरीर हो, पुरुष अपने माता-पिता को छोड अपनी पत्नी के साथ रहे

---

1. बैबिल । पत्रो 3:1

और वे दोनों एक शरीर हो जायें, पत्नी का अपने शरीर पर अधिकार नहीं, वह पति का है, पति का अपने शरीर पर अधिकार नहीं, वह पत्नी का है, यह संबंध दो शरीरों का ही नहीं दो आत्माओं का होता है । पति अपनी पत्नी के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करे और पत्नी अपने पति के प्रति । पत्नी अपने पति से अलग न हो, पति अपनी पत्नी का परित्याग न करें । सच्ची पत्नी का पति धन्य है, उसकी आयु दुगुनी होती है ।[1]

बैबिल के अनुसार कम बोलनेवाली पत्नी पति के लिए वरदान है । ऐसी पत्नी के साथ पति सुखी जीवन बिताता है । शालीनता, परिश्रम, कार्यकुशलता, दूरदर्शिता, सहायता, उदारता, बुद्धिमानी और सुन्दर चाल-चलन, आदि पत्नी के महत्व को और भी बढा देते हैं । सुशिक्षित पत्नी अमूल्य संपत्ति है । सुव्यवस्थित घर में साध्वी स्त्री का सौन्दर्य ईश्वर के पर्वत पर उदीयमान सूर्य के सदृश है । उसके स्वस्थ शरीर, उसके मुख का सौन्दर्य, पवित्र वृक्ष पर चमकते हुए दीप की तरह शोभायमान है । साध्वी पत्नी के हृदय में ईश्वर की आज्ञाएँ सुदृढ आधार पर शाश्वत नींव की तरह संस्थापित हैं । ऊपर कहे हुए गुणोंवाली पत्नी बैबिल के अनुसार उत्तम पत्नी है ।

सती-साध्वी शक्ति रूप नारी के लिए महत्वपूर्ण है । जहाँ सती साध्वी नारी रूप का सवाल है वहाँ गोस्वामीजी श्रद्धावान् हैं । वे माता, पार्वती, सती, अनसूया, कौसल्या, सीता के आगे श्रद्धा से सिर झुकाते हैं । मानस में ऐसी पतिव्रता स्त्री को ही उत्तम माना गया है जो स्वप्न में भी पराये पुरुष का दर्शन नहीं करती -

"उत्तम के अस बस मन माँही । सपनेहु आन पुरूष जग नाही ।"[2]

---

1. बैबिल एफे 5 :28, 5:31

2. मानस अर 4:6

बैबिल भी कहता है कि उत्तम पत्नी वही है जो अपने पति के साथ जीवन भर उसकी भलाई करती रहती है । वह अपने घरवालों के भोजन का प्रबन्ध रात रहते उठकर करती है । उसके मुख से ज्ञान की बातें निकलती है और उसकी जिह्वा मधुर शिक्षा देती है ।[1] पति भी अपनी पत्नी का ध्यान रखे तथा अनन्त जीवन के अनुग्रह का उत्तराधिकारिणी जानकर उसका समुचित आदर करे । बैबिल के अनुसार पति-पत्नी का यही आदर्श संबंध है । ऐसे संबंध ईश्वर के अनुग्रह से ही प्राप्त होते हैं । संसार के प्रत्येक दम्पति को निश्चित रूप से यह समझ लेना चाहिए कि वैवाहिक संबंध, पारस्परिक आदर, पारस्परिक सम्मान, क्षमा, सहनशीलता, सहानुभूति, कृतज्ञता और प्रेम से ही सुदृढ बनता है । पत्नी पति की अर्द्धांगिनी है । वह उसके सुख-दुःख में समान रूप से साझीदार है ।

विवाह एक स्थिर धार्मिक संबंध है जो जन्मजन्मान्तर का बन्धन बन जाता है । इस में दोनों का व्यक्तित्व एक हो जाता है । इस बन्धन में मन, वचन तथा कर्म एक इकाई हो जाते हैं । दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों अपने अहं को त्याग दें ।

मानस और बैबिल के आदर्शों ने विवाह और प्रेम को अनन्यता प्रदान की है । विवाह समाज की आवश्यकता है । पति-पत्नी का संबंध पवित्र भाव-भूमि पर होता है, उनके प्रेम में अनन्यता होती है । यदि पुरुष त्याग का प्रतीक है तो स्त्री तपस्या का और यदि पुरुष चन्द्र है तो नारी चन्द्रिका है । सागर के साथ लहर, सूर्य के साथ किरण और अग्नि के साथ ऊष्मा का जो संबंध है, वही संबंध पति के साथ पत्नी का है ।

संत पोल एफेसियों के नाम पत्र में पति-पत्नियों को आदेश देता है - हे पत्नियो, अपने-अपने पति के ऐसे अधीन रहो, जैसे प्रभु के ।

---

1. बैबिल सूक्ति 31 10-14

हे पतियो ! अपनी अपनी पत्नियों से प्रेम रखो जैसा ईसा ने भी कलीसिया से प्रेम करके अपने आप को उसको दे दिया ।[1] कोलेसियों की पत्री में उसने लिखा, हे पत्नियो जैसा प्रभु में उचित है वैसा ही अपने-अपने पति के अधीन रहो । हे पतियो ! अपनी अपनी पत्नियों से प्रेम रखो, और उन से कठोरता न करो ।[2]

बैबिल में मरियम आदर्श पत्नी और जोसफ आदर्श पति है । उसके अलावा ज़करिया और एलिज़बत, तोबित और एदना आदि आदर्श पति-पत्नी है । ये तीनों पति-पत्नी धर्मनिष्ठ, सत्य निष्ठ, ईमानदार, त्याग, कठिन परिश्रम, परोपकार, आपस में स्नेह आदि व्यवहार के कारण आदर्श बन गये ।

समाज और व्यक्ति के बीच की कडी है परिवार । परिवार एक ओर व्यक्ति की सुख-सुविधाओं का विधान करता है तो दूसरी ओर उस में अनुशासन, सदाचार, कर्तव्यपरायणता, कष्टसहिष्णुता, त्याग एवं सहनशीलता आदि सद्गुणों का विकास कर उसे समाज का उपयोगी अंग बनाने में सहायता करता है । अतः आदर्श परिवारों की समष्टि का नाम है आदर्श समाज । इसी बात को दृष्टि में रखकर मानस और बैबिल ने परिवार को इतना महत्व दिया है कि मानस आदर्श पारिवारिक जीवन का महाकाव्य बन गया है, बैबिल आदर्श पारिवारिक जीवन का आधार शास्त्र बन गया है ।

दोनों ग्रंथों में विवाह संस्कार का बडा महत्व है । येशु और तुलसी के दृष्टिकोणों में समानता भी मिलती है । दोनों एक पत्नीव्रत के समर्थक हैं । बैबिल के पुराना नियम के काल में बहुपत्नी-विवाह प्रचलित था । एक पत्नीव्रत येशु की अपूर्व देन है । दशरथ के काल में बहुविवाह प्रचलित था । लेकिन राम एक पत्नीव्रत हैं ।

---

1. बैबिल कोले 3:18, 19, व पीटर 3:1-7

2.

विवाह ईश्वर और समाज के सामने एक प्रतिज्ञा, एक वाचा ‡ Covenent ‡ है कि पति-पत्नी दोनों जब तक जियेंगे तब तक पति-पत्नी के रूप में जियेंगे । इसलिए विवाह यदि समझौता है तो एक संस्कार भी है ।

पतिव्रता का आदर्श समाज के लिए गौरव है । मानस और बैबिल दोनों ग्रंथों में मिलनेवाले उदाहरण और उपदेश एक स्वर से पति-पत्नी के इस पवित्र संबंध में पत्नी के धर्म का समान रूप से जिक्र करते आये हैं । लेकिन बैबिल ने इसके साथ-साथ स्त्री के महत्त्व को भी चित्रित किया है और पति के धर्म से संबंधित उपदेश भी प्रस्तुत किये हैं । जैसे पति अपनी पत्नी को हमेशा प्यार करें, पति अपनी पत्नी को इस तरह प्यार करे मानो वह उसका अपना शरीर हो । पुरुष अपने माता-पिता को छोडे और अपनी पत्नी के साथ रहे और वे दोनों एक हो जायें । पति अपनी पत्नी के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करे और पत्नी अपने पति के प्रति । पत्नी अपने पति से अलग न हो, पति अपनी पत्नी का परित्याग न करें ।

तुलसी ने आदर्श परिवार के विविध पक्षों को दिखाने के लिए जितने अधिक पारिवारिक संबंधों की योजना एक परिवार से की है, उतना संबंध बैबिल में एक ही परिवार से नहीं अलग परिवारों के चित्रण से मिलता है ।

सास-बहू संबंध :-

पति-पत्नी के बाद परिवार में सास-बहू का संबंध महत्वपूर्ण होता है । सास को अपनी माता के समान समझकर और बहू को अपनी पुत्री समझकर प्यार करनेवाली आदर्श स्त्रियाँ अब दुर्लभ हैं । प्राचीन भारतीय परिवार में हर एक सदस्य एक दूसरे से घनिष्ठ संबंध रखता था । पति के ही नाते पत्नी भी अपने पति की माँ अर्थात् अपनी सास के प्रति श्रद्धा रखती थीं और उसकी सेवा करने में लगी रहती थी । मानस और बैबिल में आदर्श सास

बहू संबंध प्राप्त होते हैं । दोनों ग्रंथ ऐसा उपदेश देते हैं कि बहू अभिमान छोडकर सास की सेवा करे । सास के सामने अत्यन्त विनम्र रहे । सास, उसके सुख-दुःख को जाने और उसे आँखों का तारा बनाकर रखे । बहू सास की आज्ञाओं को चुपचाप सुन ले, चाहे वे उसे अच्छी न लगें । सास के लिए वह पुत्री है । उसकी कल्याण-कामना के लिए उपदेश और शिक्षा दे ।

मानस में सीता, सासों के साथ अपना पारिवारिक धर्म निभाती है, सासें भी अपना-अपना पारिवारिक धर्म निभाती हैं । सासों ने अपने पारिवारिक धर्म पालन का प्रमाण प्रारंभ में ही दे दिया । राजा जनक की दुलारी पुत्री सीता जब विवाहित होकर अयोध्या आती है, तब सासें अपनी पुत्र-वधुओं - सीता, ऊर्मिला, माण्डवी और श्रुतिकीर्ति को बडे वात्सल्य से प्यार-दुलार करती हैं । उनके सुख-दुःख का पूरा ध्यान रखती हैं । तुलसी मानस के बालकाण्ड में सास बहुओं के पारस्परिक प्रेम के संबंध में कहते हैं -
"सुन्दर बधुन्ह सास लै सोई । फनिकन्ह जनु सिरमनि उर गोई ।"[1]
वन जाते समय राम ने सीता से कहा था कि वे घर में रह कर सास ससुर की सेवा करें । सीता जहाँ आदर्श पत्नी है, वहाँ आदर्श पुत्र-वधू भी है । पति सेवा के लिए समर्पित रहती हुई भी वह अपनी सासों की भी सेवा तन-मन से करती है ।[2] सीता सेवा की विधि को जाननेवाली है । घर में कौसल्या आदि सभी सासुओं की सेवा करती है, उन्हें इस बात का अभिमान और मद नहीं है ।

सास भी सीता को प्राणों से बढकर मानती है । सीता जैसी सुशील, सद्गुण-संपन्न पुत्रवधू को पाकर कौसल्या निहाल हो जाती हैं । वे मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशंसा करती हैं । सीता अपने गुण, शील, स्वभाव एवं

---

1. मानस बाल 357 2

2. जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ । सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ ।
   कौसल्यादि सासु गृह माहीं । सेवइ सबन्हि मान मद नाही ।।
   मानस उत्त 23:4

व्यवहार से सास-ससुर तथा परिजन सभी को सम्मोहित कर लेती हैं। वे सब की प्यारी-दुलारी बन जाती हैं। विवाह के पश्चात् पति के घर को अपना तथा पति के परिवार के सभी सदस्यों की सेवा में संलग्न रहना नारी का धर्म है।[1] चाहकर भी सीता अपने सास-ससुर की सेवा में संलग्न न रहीं, क्योंकि तभी उन्हें पति के संग वन को जाना पडा। किन्तु इस कमी को वे चित्रकूट में पधारे सासों की सेवा करके पूरा करती हैं और अपने मन की अभिलाषा को पूरी करने का भरसक प्रयत्न करती हैं।

इस प्रकार मानस में सास-बहू संबंध माता पुत्री के संबंध के समान आदर्श रहे हैं।

<u>बैबिल में सास-बहू संबंध :-</u>

पारिवारिक जीवन की पूर्णता सास-बहू के प्रेम से ही होती है। बैबिल में भी सुन्दर, सुशील, सद्गुणों से संपन्न और प्यारी बहू का चित्र मिलता है। नोमी और रूत आदर्श सास-बहू है। रूत अपनी सास को बहुत प्यार करती थी। अपनी सास के प्रति रूत की भक्ति और सम्मान मानवीय संबंधों में सब से उदात्त हैं। अकाल से पीडित होकर नोमि के पति और दस वर्ष के बाद उनके दो पुत्रों की मृत्यु हो गयी। दोनों पुत्र विवाहित थे। उन में एक बहू है रूत। नोमि अपनी बहुओं से बार बार घर लौट जाने का उपदेश देती थी। रूत तो सास की दुलारी प्यारी बेटी थी। उन बहुओं में जेठानी ओर्पा अपने घर लौट गयी, किन्तु रूत ने उत्तर दिया "अनुरोध न कीजिए कि मैं आप को छोड़ूँ। आप जहाँ जायेंगी, वहाँ मैं भी जाऊँगी और आप जहाँ रहेंगी वहाँ मैं भी रहूँगी, जहाँ आप मरेंगी वहाँ मैं भी मरूँगी। यदि मृत्यु से छोडकर कोई

---

1. आयसु मोर सासु सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई।
   एहि ते अधिक धरमु नहिं दूजा। सादर सासु ससुर पद पूजा।।
   मानस अयो: 60:2-3

और बात मुझे आप से अलग कर दे तो ईश्वर मुझे कठोर से कठोर दण्ड दे । जब नोमी ने देखा कि उसका साथ चलने का दृढ निश्चय है तो उसने फिर कुछ नहीं कहा । रूत अपनी सास को नौकरी करके खिलाती थी । नगर में सब लोग उसका आदर करते थे और वे जानते थे कि वे साध्वी स्त्री हैं । अपनी सास के निर्देशानुसार फिर बोआस एक बडी धनी और गुणी व्यक्ति से रूत का विवाह संपन्न हुआ । रूत का पुत्र सास के लिए सात पुत्रों से भी बढकर था ।

अपनी सास के प्रति रूत का व्यवहार आदर्शपूर्ण है । सास के साथ सदा रहने के लिए रूत का अपने लोगों को छोडना साहसिक कार्य है । रूत अपनी सास को माँ के समान प्यार करती थी, सास भी अपनी पुत्री की तरह बहू को प्यार देती थी ।

तोबित के परिवार में उनके पुत्र तोबियास ने रगुएल की पुत्री सारा से शादी की । रगुएल ने आधी सम्पत्ति अपनी पुत्री को दे दी । उसने तोबियास को अपने ही पुत्र के समान प्यार किया । उसने पुत्र से कहा कि पुत्र ! ढाढस रखो मैं तुम्हारा पिता हूँ और मेरी पत्नी एदना तुम्हारी माता है । हम सब अब से और सदा के लिए तुम्हारे हैं, बेटा ! ठहरो ! मेरे पास रहो आदि । उसने अपनी पुत्री सारा से कहा बेटी ! अपने सास-ससुर का आदर करना, क्योंकि वे अब से उसी तरह तुम्हारे माता-पिता हैं जैसे हम हैं, जिन्होंने तुम को उत्पन्न किया है । बेटी ! शान्ति से जाओ । मैं तुम्हारे विषय में जीवन भर अच्छी बातें सुनता रहूँ । एदना ने तोबियास से कहा पुत्र ! ईश्वर तुम्हारी रक्षा करे, जिस से मैं मरने से पहले तुम्हारे और अपनी पुत्री सारा के पुत्र को देख सकूँ और ईश्वर के सामने आनन्द मनाऊँ । मैं तुम को अपनी बेटी सौंपती हूँ । उसे जीवन भर कभी कष्ट नहीं देना । बेटा ! शान्ति से जाओ । अब से मैं तुम्हारी माता हूँ । तोबियास ने माता-पिता का चुम्बन किया, रगुएल और एदना के प्रति यह कहते हुए शुभ कामना प्रकट की । मुझे यह सौभाग्य

प्राप्त हो कि जब तक आप जीते रहें, मैं आप का आदर माता-पिता की तरह करता रहूँ । तोबित और अन्ना को अपनी प्यारी बहू पाकर आनन्द हुआ । वे अपनी बहू की अगवानी करने निनिवे के फाटक गये । तोबित ने उसे आशीर्वाद दिया । पुत्री ! सकुशल पधारो । पुत्री ! धन्य है तुम्हारा ईश्वर, जिसने तुम को हमारे लिये दे दिया है । धन्य हो तुम । पुत्री ! तुम को आशीर्वाद और शान्ति । तुम्हारा स्वागत है ।

तोबित और अन्ना अपनी बहू को पाकर बहुत प्रसन्न हो गये और उसे बहुत प्यार करते थे । यहाँ रगुएल के परिवार में रगुएल आदर्श ससुर है, एदना आदर्श सास है, फिर तोबित के परिवार में तोबित आदर्श ससुर, पिता, पति आदि है, उसकी पत्नी अन्ना आदर्श सास भी है ।

नारी जीवन का सब से महत्वपूर्ण अंग सास-बहू का रिश्ता है । पारिवारिक स्थिति बहुत इसी संबंध पर आधारित रहती है । मानस और बैबिल में उदाहरण और उपदेशों के माध्यम से एक साथ कहा गया कि सास-बहू का संबंध जितना अच्छा होता है उतनी ही हमारी पारिवारिक स्थिति सुखद रहती हैं । मानस में सीता और बैबिल में रूत आदर्श बहू है । संयुक्त परिवार में घर की सुख-शान्ति, सास-बहू संबंध पर निर्भर करती है । सास-बहू के परस्पर सौहार्द्र की जितनी आवश्यकता है, यथार्थ जीवन में उसका उतना अभाव पाया जाता है । विरले परिवार ही ऐसे होते हैं जहाँ सास-बहू में परस्पर तनाव न हो । लेकिन मानस और बैबिल ने सास-बहू के आदर्शों का चित्रण करते हुए इस पवित्र संबंध को कलुषित न करने का सन्देश दिया है ।

भाई-भाई का संबंध :-

मानवता का सर्वप्रथम संबंध अपने परिवार से स्थापित होता है । एक ही माता-पिता की सन्तान होने के कारण भाइयों को बचपन से ही

समान परिवेश और समान संरक्षण मिलता है । इसलिए एक ओर उनके मन में सहज-स्नेह का भाव रहता है, तो दूसरी ओर बराबर की कभी-कभी प्रतिद्वन्द्विता की भावना भी । भ्रातृत्व की चाह हर एक के हृदय में हिलोरें लेती हैं । चाहे वह अपना सगा भाई हो या रिश्ते का । भाई किसी कीमत पर नहीं खरीदा जा सकता । पारिवारिक व्यवस्था के औचित्य को दृष्टि में रखते हुए नीतिकारों ने भ्राता के साथ अच्छा व्यवहार करने पर बल दिया है । त्याग, सहानुभूति, वात्सल्य, प्रेम आदि गुण ही भ्रातृत्व के व्यवहार के पोषक होते हैं । मानस और बैबिल दोनों भ्रातृ प्रेम पर बल देते हैं और भ्रातृप्रेम के आदर्श का चित्र प्रस्तुत करते हैं ।

मानस में दो प्रकार के भ्राताओं के वर्णन मिलते हैं । एक ओर श्रीराम के भाई लक्ष्मण तथा भरत का और दूसरी ओर बालि के भ्राता सुग्रीव रावण के भ्राता विभीषण और कुंभकरण आदि का । बालि xxxx तथा रावण का विनाश अपने भाइयों के प्रति उनके क्रूर, अनाचार, अत्याचार नीतिहीन तथा कर्कश व्यवहार के कारण ही होता है । मित्र और भाई दोनों की हितकर बात को नीतियुक्त मानकर स्वीकार कर लेना ही श्रेयस्कर होता है । वन में तथा अयोध्या में सभी प्रकार की सुव्यवस्था बनी रही और श्रीराम विजयी होकर ही लौटे - इसका श्रेय अधिकांश रूप में उनके सहयोगी भ्राता लक्ष्मण तथा आज्ञाकारी भ्राता भरत के त्याग, निष्ठाभाव, निस्वार्थ स्नेह तथा सेवा भाव को है । भाइयों के परस्पर व्यवहार में अनुपम सेवा, निष्ठा, त्याग तथा बड़े भाई के प्रति अनुकूलता के भाव होना चाहिए । जब कि बड़े भाई में भी छोटों के प्रति वात्सल्य, आत्मीयता आदि भाव प्राय: अपेक्षित रहते हैं । धर्म-नीति के अनुसार ज्येष्ठ भ्राता पितृतुल्य ही माना जाता है । लक्ष्मण इसी नीति का पालन करते हुए राम से कहते हैं -

गुर पितु मातु न जानउँ काहू । कहउँ सुभाउ नाथ पति आहू ।
जहँ लगि जगत सनेह सगाई । प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ।
मेरे सबइ एक तुम्ह स्वामी । दीनबंधु उर अंतरजामी ।[1]

---

1. मानस अयो 71 2-3

-

भ्रातृ स्नेह की तुलना में लक्ष्मण के लिए राज-प्रसादों की सुख-सुविधाएँ एवं ऐश्वर्य तुच्छ है । वे सब कुछ आप ही हैं । कैकेयी ने वन में भेजने का वरदान केवल राम के लिए माँगा था किन्तु लक्ष्मण का नवविवाहिता पत्नी तथा अन्य समस्त कुटुम्ब को त्यागकर साथ जाना भ्रातृनीति की उत्कृष्टता का ही प्रतीक है । लक्ष्मण की इस त्याग भावना ने श्रीराम को इतना द्रवित कर दिया कि लक्ष्मण-मूर्छा के समय राम विलाप करते हुए यहाँ तक कह देते हैं । यदि मैं जानता कि वन में भाई का विछोह होगा तो मैं पिता का वचन - जिसको मानना मेरे लिए परम कर्तव्य था उसे भी न मानता ।[1] अपने बड़े भाई की इच्छा को ही अपना सर्वस्व मानकर स्वेच्छा से उन्हीं जैसा तपोमय जीवन व्यतीत करनेवाले भरत का व्यवहार भ्रातृ-नीति का एक अनूठा उदाहरण है । संसार की कोई भी रोक-टोक उन्हें अपने भ्राता के प्रति निष्ठापूर्ण उद्देश्य से तिल मात्र भी हटा नहीं सकी ।

आदर्श साहोदर्य का दूसरा चित्र तो और भी अद्भुत है, वह है भ्रातृप्रेम की मूर्तिमान प्रतिभा भरत । तुलसी कहते हैं -

"जो न होत जग जनम भरत को । सकल धरम धुर धरनि धरत को ।"[2]

भरत का अपनी माता को कुत्सित शब्दों से अपनी गलती को समझाते हुए राम जैसे मानव धर्म के प्रतीक भाई का पक्ष लेना नैतिक दृष्टि से भ्रातृत्व धर्म की उच्चता का ही उपलक्षक है । भ्रातृत्व के इन्हीं नैतिक गुणों के कारण ही तुलसीदास कह देते हैं -

परमारथ स्वारथ सुख सारे । भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे ।
साधन सिद्धि राम पग नेहू । मोहि लखि परत भरत मत एहू ।।[3]

चारों भ्राताओं की पारस्परिक प्रीति की घनिष्ठता का तब परिचय मिलता है जब बड़े भ्राता राम के लिए तीनों ही भाई उन से अयोध्या में रहने की प्रार्थना

---

1. जौ जनतेउँ वन बंधु बिछोहू । पिता वचन मनतेउँ नहिं ओहू । मानस लंका 60:3

2. मानस अयो 232:1

3. वही, 288:4

करते हैं । इसी प्रेम के कारण ही तो राम पितृ-वचन पालन के व्रत का त्याग करने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं । उनके प्रेम का उस समय भी पता चलता है जब वसिष्ठ राम को राज्याभिषेक का समाचार देकर चले जाते हैं तो राम ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण अधिकारी होते हुए भी अपने भाइयों के संबंध में सोचते हुए कहते हैं-
बिमल बंस यहु अनुचित एकू । बंधु बिहाय बडोहि अभिषेकू ।[1]

राम के मन में यही सन्देश है कि सभी भ्राताओं में समानता युवराजत्व के समय क्यों नहीं रहती ?

मानस के लंका काण्ड में भ्रातृप्रेम से संबंधित उपदेश है । संसार में पुत्र, धन, घर और परिवार सभी पुनः प्राप्त किये जा सकते हैं लेकिन भाई बार बार नहीं मिलता । श्रीराम ने कहा कि -
सुतवति नारि भवन परिवारा । होंहि जहिं जग बारहि बारा ।
अस विचारि जिय जागहु ताता । मिलहि न जगत सहोदर भ्राता ।[2]

भाई जैसा भी हो, बुरे दिनों में काम आता है, दुःख के समय उसे आगे बढना पडता है । जिसप्रकार वज्र के आघातों को रोकने के लिए सर्वप्रथम हाथ ही आगे बढते हैं । लेकिन आज इस तथ्य को पूर्ण सत्य के रूप में नहीं स्वीकारा जा सकता कि विपत्ति के आने पर भाई ही सहायक होता है और वह विपत्ति के समय सेवा करता है ।

भरत एवं लक्ष्मण की भ्रातृत्व भावना अप्रतिम है । संसार के किसी भी साहित्य और धर्मग्रंथ में ऐसा उदाहरण दुर्लभ है । ज्यों ही अपने

---

1. मानस अयो 9:4
2. मानस लंका 61:4

अग्रज श्रीराम के वन-गमन का समाचार मिलता है त्यों ही लक्ष्मण व्याकुल होकर अधीर हो उठते हैं ।[1] राम के समझाने पर भी लक्ष्मण मानते नहीं । वे श्रीराम से अनुरोध करते हैं - मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला । मंदक मेरू कि मोहि मराला ।[2] अपने अग्रज राम के प्रति जो अन्याय हुआ है, उसे भरत कैसे सहन करते हैं ? अपने अराध्य श्रीराम को वापस लिवा लाने के लिए वे चित्रकूट पहुँचते हैं ।[3] इस प्रकार दो भाईयों के स्नेह सिक्त हृदयों का, गंगा-यमुना संगम ! इस हृदय की ओर देखकर कोई भी आत्मविभोर हुए बिना नहीं रह सकता है ।

भरत का राम के प्रति जो असीम अनुराग है, वह तो अवर्णनीय है । राम भी भरत के प्रेम हेतु अपनी सत्यता को भी मिथ्या कर देने पर उद्यत हो जाते हैं । वे यद्यपि चौदह वर्ष वन में रहने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं । किन्तु फिर भी स्नेहातिरेक के कारण भाई भरत से कह उठते हैं कि तुम मन को प्रसन्न कर और संकोच को त्यागकर जो कुछ कहो, मैं आज वही करूँ । इस कथन में राम का भरत के प्रति प्रेम का भाव सजीव हो उठा है ।[4]

बैबिल में भाई-भाई का संबंध :-

बैबिल में भी दो प्रकार के भ्राताओं के चित्रण मिलते हैं । एक ओर जोसफ का भ्रातृ-प्रेम भरत और लक्ष्मण की स्मृति करा सकता है, यद्यपि प्रसंगों में बहुत अन्तर है । दूसरी ओर प्रथम मनुष्य आदम के पुत्र काएन के भ्राता आबेल,

---

1. समाचार जब लच्छिमन पाए । व्याकुल बिलख वदन उठि धाए ।
   कंप पुलक तन नयन सनीरा । गहे चरन अति प्रेम अधीरा । मानस: अयो :69:1
2. मानस अयो 71:2
3. बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपा निधान ।
   भरत की मिलनि लखि, बिसरे सबहि अपान । मानस :अयो 240
4. मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौ सोइ आजू । मानस अयो: दो:264.

खाये हुए लडके का ज्येष्ठ और खोया हुआ लडका आदि । कायेन तथा खोये हुए लडके का ज्येष्ठ का विनाश अपने भाइयों के प्रति उनके अत्याचार, क्रूर, धर्महीन तथा कर्कश व्यवहार के कारण ही होता था । उत्पत्ति ग्रंथ में कहा गया कि आबेल ईश्वरभक्त, नीतिनिष्ठ, धार्मिक व्यक्ति था । विश्वास के कारण आबेल ने कायेन की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ बलि चढायी । ईश्वर अधिक प्रसन्न हो गये । इसलिए कायेन ने ईर्ष्या से अपने भाई की हत्या की । वह अपने धर्मी भाई का हत्यारा बन गया । बैबिल उपदेश देता है कि उसने उसकी हत्या इसलिए की, उसके अपने कर्म बुरे थे और उसके भाई के कर्म अच्छे थे, इसलिए हम कायेन की तरह नहीं बनें । हम भाई का संरक्षण करनेवाले, उसके गुणों पर आकृष्ट होनेवाले, उसे प्यार करनेवाले बनें ।

जोसफ कुलपति याकोब के बारह पुत्रों में सब से प्रिय और सब से छोटे थे । वे बडे भाइयों से बडा स्नेह-भाव रखते थे । फिर भी अपने पिता के इष्ट पुत्र होने के नाते उसके भाइयों ने उसे ईर्ष्या के कारण बेच दिया । व्यापारी उसे मिस्र ले गये जहाँ वे बाद में फरवोन राजा का कृपा पात्र बने ।

जोसफ का मिस्र में बेचा जाना, वहाँ उसके साहसिक कार्य, उसका निर्दोष चरित्र, अन्याय से बन्दीगृह में डाला जाना, स्वप्नों का अर्थ बताने की उसकी ख्याति, फरवोन राजा के सामने उसको पहुँचाया जाना, राजा के सर्वोच्च स्थान पर उसकी नियुक्ति ये सब अन्त में भ्रातृ प्रेम का आदर्श दिखाने के लिए बडी कलात्मकता के साथ प्रस्तुत किये गये हैं ।[1] यह प्रसंग सभी के मन को स्पर्श करनेवाला है ।

जोसफ के मंत्री के पद पर रहते ही सभी देशों में अकाल पडने लगा, लोग अनाज के लिए जोसफ के पास आने लगे । उनके भाई भी भोजन के

---

1. बैबिल उत्पत्ति 45

लिए उनके पास आए तब जोसफ का व्यवहार चतुर एवं मर्मस्पर्शी रहा । जोसफ ने अपने सभी भाइयों को बुलाकर खाने की चीज़ें दे दीं और बहुत प्यार से उनका देखभाल भी किया । ऊँचे पद पर रहते हुए भी जोसफ ने अपने भाइयों से सहानुभूति पूर्ण व्यवहार और निस्वार्थ स्नेह प्रकट किया । यह साहोदर्य का अद्भुत दृश्य है । वहाँ कहीं भी पुरानी बातों की याद नहीं दिलाई गई । जोसफ ने अपने भाइयों को क्षमा किया । भाई जैसा भी हो बुरे दिनों में काम आता है ।

बैबिल के नया नियम में संत जोन और संत याकोब भाई-भाई थे । वे एक दूसरे से बहुत प्यार करते थे । वे आदर्श जीवन बिताते थे । उनके पारिवारिक जीवन के संबंध में बैबिल से अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती । फिर भी वे ईश्वर हित के लिए अपने को सब कुछ समर्पण करते थे, वे दोनों येशु के शिष्य भी थे ।

बैबिल में जिस अर्थ में भ्रातृ-प्रेम का प्रयोग हुआ है वह भावना मात्र नहीं है, उस में भाई की भलाई का दृढ़ संकल्प निहित है । येशु ने कहा - भाई-भाई से प्रेम रखे । उन्होंने निस्वार्थ भ्रातृ-प्रेम के बारे में कहा । अपने भाई से सच्चा प्रेम करें । भाई को क्षमा करें । कई बार हम अपने भाई के मन को, जो हमें सब से अधिक प्यार करता है, सब से ज्यादा चोट पहुँचाते हैं । इसलिए अटूट प्रेम का आधार क्षमाशीलता होनी चाहिए । क्षमाशीलता के बिना प्रेम अवश्य मर जाएगा । प्रेम सदा आनन्द उत्पन्न करता है ।

भ्रातृ संबंधों के चित्रण में मानस की अपेक्षा बैबिल यथार्थवादी अधिक है । मानस में तुलसी ने अपने चरित्रों के द्वारा कुछ आदर्श प्रस्तुत किये हैं । उन में भरत-लक्ष्मण की भ्रातृ भक्ति अतिविशिष्ट है ।

मानस में नारी :-

मानस में तुलसी ने नारी के प्राय: सभी रूप चित्रित किये हैं । वीरांगना नारी, भक्त नारी, पतिव्रता नारी, सती नारी आदि सभी रूपों में तुलसी ने नारी के महत्व प्रदर्शित किये हैं । भारतीय नारियों के आदर्शों की महान परंपरा तुलसी की कृतियों में सुरक्षित हैं । नारी जीवन के पूर्ण सौन्दर्य की अभिव्यक्ति मानस की अद्भुत विशेषता है । तुलसी सभी चरित्रवती नारियों का आदर करते हैं । मन्दोदरी यद्यपि राक्षस राजा रावण की पत्नी है, किन्तु तुलसी के लिए श्लाघ्य है । पार्वती के जन्म पर हिमाचल में नव-निधियाँ आ जाती हैं । कौसल्या, सीता, सुमित्रा, ऊर्मिला, जनक की पत्नी सुनयना, शबरी, मन्दोदरी, वानरी तारा, आदि सभी नारियाँ तुलसी के लिए पूज्य हैं । किन्तु शूर्पणखा, कामासक्त, असत्य भाषिणी और व्यभिचारिणी है, अत: उस से तुलसी को घृणा है । तुलसी ने नारी के महत्व का जहाँ निदर्शन किया है, वहाँ कामिनी, व्यभिचारिणी की निन्दा भी की है । ऐसी नारी को तुलसी ने ताडन की अधिकारिणी बताया है ।[1]

तुलसी ने राम परिवार की आदर्श नारियों को चित्रित कर नारीत्व को उचित गौरव भी दिया है । मानस के नारी पात्र पवित्र, पूज्य और प्राचीन आदर्शों के अनुकूल है । तुलसी ने अपनी अनुपम कुशलता से नारी पात्रों के चरित्र को उज्जवल कर दिया है । मानस में कौसल्या अपने पुत्र को वनवास देनेवाले पति के प्रति या कैकेयी के प्रति कटुता प्रकट नहीं करती, भरत और राम को समान समझने के कारण भरत के राज्याभिषेक पर आपत्ति नहीं कर सकती थी । तुलसी ने मानस में सीताजी को उपदेश देते हुए सती अनसूया के द्वारा नारी धर्म की व्याख्या इस प्रकार करवाई है - नारी के लिए पति ही ईश्वर है, वह उसकी गति है, वही उसका सर्वस्व है । इसके अलावा उसके जीवन का प्राप्तव्य पति सेवा ही है -

---

1. ढोल गंवार सूद्र पसु नारी । सकल ताडन के अधिकारी ॥ मानस - सुन्द 59:6

"सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभ गति लहइ
जसु गावत श्रुति चारि, अजहु तुलसिका हरि हि प्रिय ।"[1]

पत्नी एक संस्कारबद्ध रूप है जिसके पगों में कर्तव्य की पुकार का उत्तर है और उसके जीवन में वह तृप्ति है जो मातृत्व का चरम मार्ग है ।[2] वास्तव में मातृत्व में नारी का चरम विकास है और वात्सल्य में प्रेम की पूर्णता । तुलसी ने कौसल्या, कैकेयी, सीता, सुमित्रा आदि वात्सल्य मूर्तियों को अपनाकर अपनी भावना का विकास किया है ।

पत्नी के रूप में नारी प्रेमिका है, सहचरी है, पतिव्रता है, अर्द्धांगिनी है और सती है, साथ ही वह गृहिणी भी है । फलतः स्त्री घर का केन्द्र है । इन सभी रूपों में सीताजी को चित्रित किया गया है । सीता का पातिव्रत धर्म आज तक भारतीय नारी का पुण्य पाथेय रहा है । प्राण पति के साथ रहकर वह विपदा में भी संपदा का अनुभव करती रही है । अरण्यकाण्ड में भी अत्री की पत्नी अनसूया सीता को नारी धर्म का उपदेश देती हुई कहती है -

वृद्ध रोग बस जड धन हीना । अंध बधिर क्रोधी अति दीना ॥
ऐसे हु पति कर किएँ अपमाना । नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥
एकई धर्म एक व्रत नेमा । काय वचन मन पति पद प्रेमा ॥
बिनु श्रम नारि परमगति लहही । पति व्रत धर्म छाँडि छल गहही ॥[3]

नारी वर्ग में पुरूष वर्ग की अपेक्षा कुछ निजी गुण होते हैं जिनके कारण वह नारी की संज्ञा पा सकी है । कोमलता, सहृदयता, शालीनता,

---

1. मानस अर सो 5 क
2. डा. सुदेव हंस, उपन्यासकार चतुरसेन के नारी पात्र ।
3. मानस अर 12:4, 12:5

भीरूत्व, लज्जा, अज्ञान, चपलता आदि स्त्रियोचित है । तुलसी ने नारी के आठ अवगुणों की भी चर्चा की है । साहस, झूठ, चंचलता, माया, भय, अविवेक, अपवित्रता और निर्दयता से आठ अवगुण है -

"नारी स्वभाव सत्य सब कह ही । अवगुण आठ सदा उर रह ही ।"[1]

"साहस अनृत चपलता माया । भय अविवेक असौच अदाया ।"[2]

रावण-मन्दोदरी वार्ता के दौरान कथित उक्त सूक्ति पुरुषों को ऐसी नारियों से दूर रहने को चेतावनी है ।

मानस में तुलसी कहते हैं - स्त्री अपने धर्म से विमुख होकर यह दुःख अल्पायु में ही भोगने लगती है । जो कुटिल हो, कलह कारिणी हो, ऐसी नारी गोस्वामी की दृष्टि में शोचनीय है -

"सोचिअ पुनि पति वंचक नारी । कुटिल कलह प्रिय इच्छा चारि ।"[3]

क्योंकि ऐसी स्त्री, समाज के लिए कल्याणकारी नहीं होती । नारी का सब से घोरतम पाप पतिवंचना या व्यभिचार है । धोखा देकर पति का अपमान करनेवाली या पर पुरुषरत नारी नरक की अधिकारिणी मानी गयी है -

"पति वंचक परपति रति करई । रौरव नरक कल्प सत परई ।"[4]

हिन्दू समाज की पूरी परिणति सीता के चरित्र में हो जाती है । उत्सुक कौमार्य, संकोचशील, स्वयंवरा, वधू, पुत्रवधू पत्नी, भाभी, गृहणी सभी रूपों में सीता हमारे सामने आती है । सभी रूप सुन्दर है, आदर्श रूप है, जो हमें प्रिय भी है । मानस की सीता में सतीत्व की भावना स्थान स्थान पर स्पष्ट हो गयी है । इस प्रकार सीता को नारी के सर्वोत्तम गुणों से विभूषित कर उन्हें माँ जानकी कहकर संबोधित करते हैं । अरण्य काण्ड

---

1. मानस 6:16:1
2. मानस लंका 15:2
3. अयो :171:4
4. वही, 5:8

में सीता के लिए विलाप करते हुए राम कहते हैं -
हा गुनखानि जानकी सीता । रूप सील व्रत नेम पुनीता ॥[1]
सीता में सर्वोत्तम गुण प्रतिष्ठित करने के अतिरिक्त तुलसी ने राक्षस नारी में त्रिजटा और मन्दोदरी जैसी मानवीय नारियों की कल्पना की । त्रिजटा को "रामचरन रति निपुण विवेका"[2] कहा गया और मन्दोदरी के चरित्र में एकसाथ पातिव्रत धर्म और विवेकशीलता का मिश्रण है । लंका काण्ड में वह रावण को समझाती है -
रामहि सौंपि जानकी नाइ कमल पद माथ ।
सुत कहुँ राज समर्पित बन जाइ भजिअ रघुनाथ ॥[3]
अंगद के रावण को अपमानित करते समय मन्दोदरी अधिक स्पष्ट शब्दों में कहती है -
अब पति मृषा गाल जनि मारहु । मोर कहा कुछ हृदयं विचारहु ।[4]

राम के वनवास, दशरथ के मरण और अयोध्या पर शोक के कारण होने पर भी तुलसी ने कैकेयी के चरित्र को उदात्त बनाया है । यहाँ कैकेयी पुत्र कल्याण की आकांक्षा में वैधव्य और राज्य ध्वंस का कारण बनती है । चित्रकूट में तुलसी ने राम को सर्वप्रथम कैकेयी के दर्शनार्थ भेजकर तथा रानी को पश्चात्ताप की अग्नि में जलता हुआ दिखाकर अपने पापों और दुष्कर्मों का शमन कर दिया है ।[5] मंथरा को दुष्टा या खल नारी के रूप में चित्रित किया गया है ।

तुलसी की दृष्टि में व्यभिचारिणी सूर्पणखा जैसी नारी का चरित्र अवश्य निन्दनीय है । उन्होंने नारी के शील और मर्यादा को अत्यधिक

---

1. मानस अर :22 ख 4
2. मानस सुन्द 11
3. मानस लंका 17
4. वही, 36
5. लखि सिय सहित सरल दोउ भाई ।
   कुटिल रानि पछितानि अघाई ।। मानस 2:253:2

महत्व दिया है । श्रीराम और लक्ष्मण के प्रति कामातुर सूर्पणखा ने नारी सुलभ शील का उल्लंघन किया था । फलस्वरूप उसके अंग-भंग कर दण्ड का विधान किया गया । यहाँ उनके नारी विषयक प्रेम और काम के प्रति मर्यादित दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं ।

बैबिल में नारी :-

बैबिल के उत्पत्ति ग्रंथ में लिखा है कि ईश्वर ने नर-नारी का सृजन किया । ग्रंथ के शब्दों में "ईश्वर ने मनुष्य को अपना प्रतिरूप बनाया, उसने नर और नारी के रूप में उनकी सृष्टि की ।"[1] यह कथन स्वयं स्पष्ट करता है कि मनुष्य कहने का तात्पर्य है, नर और नारी दोनों का समान स्तर । ईश्वर की दृष्टि में कोई किसी से कम नहीं, ईसाई दर्शन के अनुसार ईश्वर की कोई जाति और लिंग नहीं है । वह लिंगानुसार मनुष्य का न्याय नहीं करेगा वरन् मानवता के आधार पर ही करेगा ।

नारी के भौतिक स्वरूप के अनुकूल समाज ने हमेशा उसे 'अबला' की दृष्टि से रखा है । उसका स्थान पुरुष वर्ग से पीछे रहा है । किन्तु सृष्टि के आरंभ से ऐसा नहीं था, जैसा कि उक्त कथन से स्पष्ट होता है । उत्पत्ति ग्रंथ में नर-नारी के समान दर्जे को इन शब्दों में दर्शाया गया है - "इस कारण पुरुष अपने माता-पिता को छोड़ेगा और अपनी पत्नी के साथ रहेगा और वे दोनों एक शरीर हो जायेंगे ।[2] अतः किसी भी रूप में ईश्वर ने नारी को नर से भिन्न कोटि में नहीं रखा । पुरुष के जीवन में नारी का स्थान केन्द्र में है ।

पुराना नियम में रूत आदर्श पत्नी और बहू के रूप में चित्रित है । रूत आज्ञापालन, विनम्रता, परिश्रम और सन्तोष के मूल सद्गुणों का

---

1. बैबिल उत्पत्ति 1:23
2. वही, 2:24

ामझी जानेवाली, और वह भी पुरूष-प्रधान समाज से नारी का चयन कर उसी
ं द्वारा शुभ सन्देश आम जनता तक पहुँचाते हैं ।

ईसा के शिष्यों के साथ कई स्त्रियाँ थीं, जो गाँव-गाँव,
ागर-नगर घूम उपदेश दिया करती थीं । इन में से कुछ को दुष्टात्माओं एवं
ायंकर रोगों से, ईसा ने मुक्ति दिलाई थी । बाद में उन्हें अपनी मण्डली में
ाम्मिलित कर दोनों को समान दर्जा दिया । इन नारियों के नाम हैं -
ारियम मगदलेना और इस स्त्री से येशु ने सात अपदूतों को निकाला था । हेरोद
ा कारिन्दा खूसा की पत्नी योहन्ना, सूसन्ना और अन्य नारियाँ भी जो
ापनी संपत्ति से ईसा और उनके शिष्यों की सेवा-परिचर्या करती थीं ।

बैबिल के नया नियम के पृष्ठों का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर
विभिन्न परिस्थितियों एवं युगों की स्त्रियों का चित्रण हमारे सामने प्रस्तुत होता
जैसे शारीरिक रोगों से पीडित स्त्रियाँ, वर्षों से भूत-प्रेम से ग्रस्त स्त्रियाँ,
ीस वर्षों से रक्त स्राव के रोग से ग्रसित स्त्रियाँ जो समाज के अन्य लोगों को
्पर्श नहीं कर सकती थीं । किन्तु ईसा के पास सब का इलाज था, उन्होंने
ायंकर से भयंकर रोग से पीडित अछूत महिलाओं को अपने पावन स्पर्श से चंगा और
ोगमुक्त किया ।[1]

प्रभु ईसा ने नारी-उत्थान, नारी मुक्ति, नारी जागरण
ी दिशा में समाज का मूल्यहीन दृष्टिकोण, संकुचित धारणा तथा अमानवीय
ालीलों का खुलेआम विरोध किया । विखडित एवं संवेदनहीन मान्यताओं के
ामक्ष भयभीत होकर नारी-जगत् को इन विसंगतियों का शिकार होने से
ायाया । व्यभिचारिणी नारी के प्रति समाज के दृष्टिकोण एवं प्रताडना
ो उन्होंने उन्हीं के शब्दों में सटीक उत्तर दिया ।

---

1. बैबिल लूक 8:43-48, लूक :13:11-13

प्रभु ईसा संपूर्ण संवेदनशील मानव थे । समाज में महिलाओं की दुर्दशा के प्रति वे पूर्ण रूपेणा सजग थे, तथा जब भी अवसर आया उन्होंने उनका उद्धार ही नहीं किन्तु समाज में उन्हें उनका स्थान भी दिलाया है । वे स्त्री पुरुष की समान गरिमा को जानते थे । ईश्वर की दृष्टि में नर-नारी की गरिमा एवं क्षमता क्या है, वे इसे भी अच्छी तरह जानते थे । नारी के प्रति सर्वोच्च-सम्मान की भावना उनके इन वचनों से प्रकट होती है "तुम लोगों ने सुना है कि कहा गया है व्यभिचार मत करो । परन्तु मैं तुम से कहता हूँ जो किसी स्त्री पर बुरी दृष्टि डालता है वह अपने मन में उसके साथ व्यभिचार कर चुका है ।"[1] अर्थात् स्त्री के प्रति अश्लील दृष्टि रखनेवाला पाप का भागी होता है । यह कथन सीधे उस मूलभूत सत्य की ओर संकेत करता है कि पुरुष नारी की गरिमा, मातृत्व एवं कर्मक्षेत्र की सुरक्षा के लिए उत्तरदायी है और ठीक यही बात नारी पर भी लागू है । इस कथन में हम देखते हैं कि स्त्री-पुरुष दोनों ही समान रूप से एक दूसरे के जीवन के लिए उत्तरदायी हैं ।

बैबिल के अनुसार प्रभु पर श्रद्धा रखनेवाली नारी ही प्रशंसनीय है । अपनी वेषभूषा में मर्यादा और शालीनता रखनेवाली, सत्कर्मों से अपने को अलंकृत करनेवाली अनुकम्पा, सहानुभूति, विनम्रता, कोमलता, और सहनशीलता से युक्त नारी ही प्रशंसनीय रही है ।

यहूदी कानून के अनुसार पत्नी पति की संपत्ति समझी जाती थी । पति ही अपनी पत्नी को तलाक दे सकता था । एकपत्नीत्व अधिक प्रचलित था, लेकिन बहुपत्नीत्व और उपपत्नी प्रथा वैध थी । ईसा ने तलाक को अवैध और एकपत्नीत्व को ही वैध माना है । ईसा पुरुषों और स्त्रियों दोनों को समान रूप से अपनी शिक्षा के अधिकारी मानते थे । वह नारियों की

---

1. बैबिल मात्यू 5:28

2. Background of the New Testament, Dr.Yohan Dhulia p.64

परिचर्या स्वीकार करते थे और उन्होंने उनके प्रति सहानुभूति दिखायी । पिनी स्त्री, व्यभिचारिणी का बचाव, कनानी स्त्री, यरूसलेम की नारियाँ, ा स्त्री, पत्रोस की सास, जैरूस की बेटी, मरियम, मरथा, सलोमी, सुसन्ना दि की कहानियों से उदाहरण मिलते हैं । स्त्रियाँ प्रारंभ से ही ईसाई ासिया की सदस्याएँ बन गयी हैं - लुदिया, थेसलोनि की प्रतिष्ठित महिलाएँ, ाया की प्रतिष्ठित गैर-यहूदी महिलाएँ, दमरिस, परोपकारी विधवाएँ आदि । ास के नाम पत्र में तरूण नारियों के कर्तव्य के बारे में उपदेशात्मक सूक्तियाँ ाती हैं "तरूण स्त्रियों को ऐसी शिक्षा दें कि वे अपने पति और अपने बच्चे को ार करें, समझदार, शुद्ध और सुशील हों । अपने घर का अच्छा प्रबन्ध करें ा अपने पति के अधीन रहें, जिस से लोग सुसमाचार की निन्दा न कर सकें ।[1] ायाँ मातृत्व द्वारा मुक्ति प्राप्त करेंगी । यदि स्त्रियाँ संयम से विश्वास, ाप्रेम और पवित्रता में दृढ बनी रहेंगी, तो वे अपने मातृत्व द्वारा मुक्ति प्राप्त ी ।[2] बैबिल में संत पोल स्त्री-पुरूष का अन्योन्याश्रित संबंध स्वीकार करते । प्रभु के विधान के अनुसार स्त्री के बिना पुरूष कुछ नहीं है और पुरूष के ा स्त्री कुछ नहीं ।[3]

येशु ने इस बात पर विशेष ध्यान दिया कि सामाजिक मूल्यों ारिप्रेक्ष्य में ही उनकी शिक्षा और कार्यों से स्त्रियाँ स्वयं के लिए आत्मचेतना गरिमा को प्राप्त करें । उनके कार्यकलापों ने स्त्री-जगत को यह अनुभव ाया कि उनकी शिक्षा एवं कार्यों के द्वारा सत्य ने उन्हें अनावश्यक बन्धनों से ा कराया है । उन्हें सात्त्विक एवं अनंत प्रेम की अनुभूति होती है । उन्हें भी एहसास होता है कि येशु उनके स्थान उन विषयों पर चर्चा करते हैं, ा पर तत्कालीन समाज स्त्रियों के साथ चर्चा नहीं करता था । येशु ने अपने की स्त्रियों के साथ सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि सभी समस्याओं पर र्चायें की हैं ।

बैबिल तीतुस 2:4-5
तिमथी 2:15
1 कोरी 11:11

नारी वर्ग में पुरुष वर्ग की अपेक्षा कुछ निजी गुण होते हैं जिनके कारण वह नारी की संज्ञा पा सकी है । कोमलता, सहृदयता, भीरूत्व, लज्जा, अज्ञान, चपलता आदि स्त्रियोचित है । नारी के पास पुरुषों की तुलना में अच्छाई-बुराई की ज्यादा शक्ति होती है क्योंकि नारी ही परिवार में नैतिक मूल्यों की रक्षिका है ।

कई स्त्रियों का समाज में ऊँचा स्थान था । नया नियम में प्रिसक्किला का नाम अपने पति से पहले आता है । दूसरी ओर, उस समय के कुछ रोमी लेखों से ज्ञात होता है कि स्त्रियों को विलास का साधन ही समझा जाता था और दासियो का जीवन अति दुःखपूर्ण था ।

व्यभिचार वास्तव में समाज की ही देन है । बैबिल में व्यभिचार का विरोध किया गया है । येशु ने कहा - व्यभिचार मत करो ।[1] व्यभिचारिणी का आचरण ऐसा ही है - वह खाती, मुँह पोंछती और कहती है- मैं ने कोई बुरा काम नहीं किया है ।[2] ईश्वर ने हमें यह भी बताया कि तुम्हारी देह पवित्रात्मा का मन्दिर है ।[3] उसकी पवित्रता को बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है । बैबिल कहता है कि व्यभिचार से दूर रहे क्योंकि मनुष्य के दूसरे सभी पाप उसके शरीर के बाहर हैं किन्तु व्यभिचार करनेवाला अपने ही शरीर के विरुद्ध पाप करता है । ईश्वर मनुष्य शरीर में निवास करता है । व्यभिचार मनुष्य को पतन और विनाश की गर्त में ढकेल देता है । कोई भी वासना के वशीभूत न हो । ईश्वर ने हमें अशुद्धता के लिए नहीं, पवित्रता के लिए बुलाया ।[4]

---

1. बैबिल मारक 10:19
2. सूक्ति 30:20
3. 1 कोरि 6:19
4. बैबिल थेस : 4:8

व्यभिचार यहूदियों में एक बड़ा अपराध समझा जाता था । व्यवस्था में व्यभिचार के भयंकर पाप के लिए स्पष्ट निर्देश थे । उसकी सजा मौत थी । लैव्यवस्था में लिखा है फिर यदि कोई पराई स्त्री के साथ व्यभिचार करे तो जिसने किसी दूसरी स्त्री के साथ व्यभिचार किया है तो वह व्यभिचारी और व्यभिचारिणी दोनों निश्चय ही मार डाले जाएँ ।"[1] जिसका मिलन वेश्या से होता है वह उसके साथ एक शरीर हो जाता है । "मिश्नाह" यहूदियों की विधि संहिता है, उस में व्यभिचार के लिए गला दबाकर मार डालने की सजा बताई गई है । सूक्तिग्रंथ में सोलमन कहता है "व्यभिचारी को सुबोध नहीं है ।[2] धन्य है बाँझ स्त्री, जो अशुद्ध नहीं हुई जिसने व्यभिचार नहीं किया ।

उत्पत्ति ग्रंथ में कहा गया कि व्यभिचार और सामाजिक अन्याय और अत्याचार के कारण ईश्वर ने सोदोम और गोमेरा नामक जगह पर आकाश से गन्धक और आग बरसायी । उस देश में केवल लोत नामक एक धर्मी था, उसको ईश्वर ने बचाया और उसकी रक्षा की । उस नगर के बाकी निवासियों का नाश कर दिया ।

मानस एवं बैबिल के विश्लेषण से यह पता चलता है कि समाज में नारियों को पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं मिली थी, साथ ही पूर्णरूपेण उनकी उपेक्षा भी नहीं होती थी । लेकिन इनकी नारियाँ उस समय के नारी के यथार्थ स्वरूप को प्रस्तुत करने में अत्यन्त सक्षम रही हैं । नारी में सहज रूप से कुछ गुण भी हैं और अवगुण भी । महान लोगों ने इनकी विशेष चर्चा भी की है । सौन्दर्य, कोमलता, शालीनता, मृदुलता, वात्सल्य, क्षमा, ममता आदि गुणों के साथ साथ नारी दुःसाहस, मूर्खता, अतिलोभ, निर्दयता आदि अवगुणों की खान भी रही है । तुलसी और येशु के समय में समाज में नारी की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी ।

---

1. बैबिल लैव्यवस्था 22:23-24

2. बैबिल सूक्ति 6:32

वह पुरुष के विलास का साधन मात्र बन गयी थी । तुलसी इन परिस्थितियों से आक्रान्त थे और नारी की सहज महिमा से भी प्रभावित थे । अतः मानस में नारी के दोनों रूप चित्रित हैं ।

मानस और बैबिल में इस प्रकार समाज में नारी की स्थिति पर विचार मिलते हैं । दोनों में नारी की चारित्रिक एवं आचरण की पवित्रता पर बल दिया गया है । मानस में जहाँ वह इसका सैद्धांतिक रूप प्रस्तुत करती है तो बैबिल में उसके व्यावहारिक हानि, लाभ की ओर संकेत मिलते हैं । हिन्दू और ईसाई समाज में मातृत्व का आदर है । भारत में नारी "शक्ति", "धन" और 'ज्ञान' का प्रतीक मानी गई है । वह हमारी राष्ट्रीयता की भी प्रतीक है । अपने देश को हम भारत माता कहकर उसके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं । उसी तरह ईसाई लोग भी अपनी कलीसिया को "सभा माता" कहकर अपना आदर प्रकट करते हैं ।

गुरू-शिष्य संबंध :-

गुरु सेवा का जीवन में बहुत ही अधिक महत्त्व है और इसी से उन्नति का मार्ग खुलता है । माता-पिता के पश्चात् गुरू ही एक महान विभूति है जो बच्चों में अच्छे कर्मों के संस्कार डालता है और बच्चों को जीवन में उचित मार्ग दिखाता है । जो मनुष्य अपने गुरू के मुख से निकले हुए शब्दों को माने और उनकी आज्ञानुसार चले, उनके उपदेशों का जीवन भर पालन करे, वही सच्चा शिष्य है । इस में जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छोटा-बडा या धनी-निर्धन का कोई प्रश्न नहीं है । संसार में सब मनुष्य समान है लेकिन अपनी करनी के कारण भिन्न हैं । जीवन में गुरू के उपदेश को सदैव ध्यान से सुनना चाहिए और उसी के अनुसार आचरण करना चाहिए । शिष्य के सांगोपांग विकास के लिए गुरु का मार्ग-प्रदर्शन नितान्त आवश्यक है । लौकिक और आध्यात्मिक

दोनों दृष्टियों से नीतिशास्त्रों में गुरु को अत्यन्त महत्व दिया गया है । पारिवारिक नीति के अन्तर्गत गुरू का महत्व लौकिक दृष्टिकोण से ही स्पष्ट किया जा रहा है ।

गुरू को सदैव रामचरितमानस और बैबिल में ऊँचा पद दिया गया है । मानस कहता है कि गुरू के साथ छिपाव करने से हृदय शुद्ध नहीं होता और ज्ञान की प्राप्ति नहीं की जा सकती -

सन्त कहहि असि नीति प्रभु श्रुति पुरान मुनि गाव
होइ न विमल विवेक उर गुर सन किए दुराव ।।[1]

जिनको गुरू वचनों से श्रद्धा नहीं, उनको स्वप्न में भी सुख नहीं -

गुरू के वचन प्रतीति न जेही । सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही ।[2]

गुरू शिष्य का संबंध अटूट होता है । गुरू को चाहिए कि शिष्य को संपूर्ण ज्ञान का बोध कराए और शिष्य का कर्तव्य है कि वह मन, वचन, कर्म से गुरू के प्रति ही श्रद्धा रखे और स्वयं जागृत बना रहे -

फूलइ फरइ न बेंत जदपि सुधा बरषहि जलद ।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरू मिलहि विरंचि सेत ।[3]

वास्तव में दोनों को ही योग्य होना चाहिए । जो गुरू के साथ ईर्ष्या भाव रखते हैं वे नरक मार्ग से होकर दारूण यातनाएँ सहन करते हैं -

जो सठ गुरू सन इरिषा करही । रौरव नरक कोटि जुग परही ।[4]

गुरू के प्रति पूर्ण सेवा भाव तथा मन:शुद्धि आवश्यक है । सद्गुरू के मिल जाने पर तो वहाँ फिर सन्देह-भ्रम आदि नहीं ठहरते -

"सद्गुरू मिले जाहि जिमि संसय भ्रम समुदाय ।"[5]

---

1. मानस बाल 45.
2. वही, 80:4
3. मानस लंका 16 ख
4. मानस उत्तर 107:3
5. मानस किष्कि 17

बिना सद्गुरु के कोई भी चाहे वह ब्रह्म और शिव के समान ही क्यों नहीं भवसागर नहीं तर सकता -

गुरू बिनु भवनिधि तरइ न कोई जो विरंचि संकर सम होइ ।[1]

इसलिए गुरु चरणों में अनुराग का होना इस लोक और परलोक दोनों ही के लिए शुभ प्रद है -

जो गुरू पद अंबुज अनुरागी । ते लोकहुँ वेदहुं बड भागी ।[2]

गुरू की आज्ञा का पालन करना राम अपना पारिवारिक तथा सामाजिक धर्म मानते हैं । गुरू के प्रति राम की जितनी श्रद्धा है, वशिष्ठ मुनि का उतना ही वात्सल्य राम के प्रति है । राज्याभिषेक की भूमिका के रूप में राम को उपदेश देने के लिए वसिष्ठ स्वयं ही प्रेम और वात्सल्य के कारण राम के यहाँ पहुँच जाते हैं । प्रिय शिष्य श्रीराम ने तुरन्त उठकर गुरूवर के चरणों में प्रणाम किया कहा कि आज मेरे अहो भाग्य । मेरा घर आज मंजुल गृह बन गया -

सेवक सदन स्वामि आगमनु । मंगल मूल अमंगल दमनु ।[3]

राजा दशरथ राम के राज्याभिषेक के लिए गुरु वसिष्ठ की आज्ञा लेते समय गुरु के महत्व को बताने के साथ उनके उपकारों के लिए कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहते हैं-

जौ गुरू चरन रेनु सिर धरही । ते जनु सकल बिभव बस करही ।
मोहि सम यहु अनभयउ न दूजें । सब पायउँ रज पावनि पूजें ।[4]

गुरु को भी देवता ही मानना चाहिए । राम के निवास स्थान के लिए निर्देश करवाते हुए तुलसी ने इस नीति के आधार पर यह कहलाया है - तुम्ह ते अधिक गुरहि जियँ जानी । सकल भायँ सेवहिं सनमानी ।[5]

गुरू-सेवा भाव, राम-लक्ष्मण में ऋषि विश्वामित्र के प्रति भी पूरा-पूरा है । राजा जनक की नगरी मिथिलापुरी में पहुँचकर भी दोनों भाई

---

1. मानस उत्तर 93:3
2. अयो 259:3
3. वही, 6:5
4. वही, 3:6-7
5. वही, 129

गुरु विश्वामित्र की सेवा-शुश्रूषा करते हैं । प्रातकाल में लक्ष्मण, गुरूवर तथा राम से पहले जागते हैं । तुलसी लिखते हैं -

उठे लखनु निसि बिगत सुनि अरूनसिखा धुनि कान
गुर ते पहलेहिं जगतपति जागे रामु सुजान ।[1]

गुरू का भी कर्तव्य होता है कि वह शास्त्रमत तथा लोकमत दोनों पर विचार करके ही अपने अनुयायियों को ठीक मार्ग पर चलने का प्रयास करें ।

तुलसी ने उसी गुरू को गुरुत्व की पदवी से विभूषित करने का समर्थन किया है जिसके वचन संसार के मयामोह रूपी तमपुंज का हरण करने के लिए सूर्य के किरण-जाल के सदृश हों । सौभाग्य से यदि इस प्रकार का सर्वगुण संपन्न गुरु प्राप्त हो जाए तो बिना विचार करके ही उसके आदेश का पालन करना, नीति-सम्मत माना जाता है उसके पालन में किसी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिए । तुलसी विश्व मुख से इसका बखान कराते हुए कहते हैं -

सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा । परम धरमु यह नाथ हमारा ।
मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी । बिनहि विचार करिअ सुभ जानी ।[2]

काकभुशुण्डि और उज्जयनी के गुरु के प्रसंग में तुलसी ने गुरु-शिष्य के व्यवहार का सुन्दर चित्रण किया है । गुरु-शिष्य को पुत्र के समान समझता है और शिष्य के कुपथ पर जाते देखकर उस से प्रबोध करता है और स्वयं मन में दुःखी रहता है । गुरु दयालु हो, क्रोध से दूर रहे । गुरु से ईर्ष्या करनेवाला शिष्य रौख को प्राप्त होता है । गुरु का हृदय अत्यन्त विशाल होता है, वह संसार के सभी प्राणियों के कल्याण के लिए सोचता है ।

---

1. मानस बाल 226
2. वही, 76:2

मानसकार ने आदर्श गुरु -चेले का चित्र ही मानस में दिया है । वन से आने के पश्चात् हनुमान, विभीषण, अंगद, नील,नल, सुग्रीव आदि के सामने राम ने अपने गुरूजी की असीम कृपा का वर्णन किया और कहा कि इनकी कृपा से ही हम ने युद्ध में राक्षसों को मारा है । उनके आचरण की भाँति सब ही अपने गुरु की आज्ञा और सेवा का पालन करते थे । गुरु के प्रति सदैव आदर और विनय का व्यवहार किया जाय । गुरु, शिष्य की प्रत्येक प्रकार सहायता करे और कष्ट पड़ने पर उसे सांत्वना दें । राम, भरत, लक्ष्मण तीनों के ही हृदय में गुरु, आचार्य, वशिष्ठ के प्रति असीम श्रद्धा का भाव है । वह हमेशा सजीव हो उठा है ।

बैबिल में गुरु सेवा का चरम आदर्श और गुरू की आज्ञा का पालन करने का उपदेश मिलता है । शिक्षा की सदिच्छा प्रज्ञा का प्रारंभ है । शिक्षा का प्रेम गुरू की आज्ञाओं का पालन हैं । गुरु की आज्ञाओं के पालन में अमरता है ।[1] अमरता ईश्वर के निकट पहुँचाती है । बुद्धिमानों और विवेकों की भारी संख्या में संसार का कल्याण है । इसलिए गुरु शिक्षा को ग्रहण करना चाहिए । पुराना नियम में सोलमन राजा ने यहूदियों को बुद्धि की शिक्षा दी । उसको बुद्धि साहित्य का गुरु माना जाता है । सब राष्ट्रों से तथा पृथ्वी भर के राजाओं की ओर से, जिन्होंने सोलमन की बुद्धि की चर्चा सुनी थी, लोग उसकी प्रज्ञा सुनने आया करते थे ।[2] बैबिल के पुराना नियम के राजाओं के पहले ग्रंथ में सोलमन के विषय में यह लिखा है -"ईश्वर ने सोलमन को प्रचुर मात्रा में प्रज्ञा और विवेक प्रदान किया ।" सच्चे गुरु से ज्ञान और अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है । इसलिए शिष्य का चरित्र ऊँचा होता है । बुद्धिमान शिष्य गुरु का उपदेश सुनकर विद्या को बढ़ाएगा । बैबिल साधारण चीज़ों के प्रतीकों के द्वारा आध्यात्मिक और सामाजिक संसार के विषय में

---

1. बैबिल प्रज्ञा 6:18
2. बैबिल सूक्ति 5:9-14

शिक्षा देना पसन्द करता है । पुराना नियम में इसया, जेरेमिया, यसकियेल, दानियेल बड़े नबी है और वे आदर्श शिक्षक भी है । इसके अलावा बारह छोटे नबी - होशे, जोएल, आमोस, ओबधाह, योना, मीका, नहूम, हबक्कूक, सपन्याह, हाग्गै, ज़करिया और मलाकी भी आदर्श गुरू के रूप में चित्रित किये गये हैं । नबी के लिए तो धार्मिक और नैतिक मूल्यों की शिक्षा देने का अधिकार प्राप्त था । उनके शिष्यों को नबी के कथनों और कामों में भी ईश्वर का हाथ दिखाई देता था । नबी प्रधानतया भाषण देता था । वह नबी की अपनी अन्तर्दृष्टि या विचार-शक्ति से बाहर के स्रोत से आता है, उस में आवेश और तीव्र भावना होती थी । यह सन्देश ईश्वरीय प्रेरणा से अधिकृत होता था ।

येशु नया नियम में सब से श्रेष्ठ गुरु थे । वे पण्डित, दार्शनिक, ज्ञानी, वक्ता आदि सब कुछ थे । चार सुसमाचारों में प्रभु येशु की अमूल्य शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं । अपने शिष्यों को उपदेश आसानी से समझने के लिए दो तरह की सूक्तियों का प्रयोग करते थे, पूर्ण रूप में और दृष्टान्त रूप में अर्थात् उपमा रूप में । येशु के प्रभाषण चातुर्य और पाण्डित्य को देखकर शुरू में ही येशु के लिए सभाघर का द्वार और सभाघर का प्रवचन मंच खुला हुआ था । सभाघर यहूदियों का धर्मग्रंथ शिक्षणालय और चर्चा करने का स्थान था । येशु ने अपना शिक्षा कार्य सभाघर से शुरू किया, क्योंकि सभाघर में ही उसे अपने युग के सब से अधिक सच्चे धार्मिक लोग मिल सकते थे और वहाँ उन से बातें करने का रास्ता खुला हुआ था । प्रभाषण के बाद कुछ समय वार्ता, प्रश्न और विचार-विनिमय के लिए दिया जाता था । नसरत के यहूदी सभाघर में भाषण देने के लिए कभी कभी कहावतों और सूक्तियों का प्रयोग भी करते थे । येशु के सुभाषितों में गंभीर शैली और सरल उपमा शैली प्राप्त होती है । इसलिए येशु की शिक्षाएँ दूसरों को प्रभावित करती हैं । उनके भाषणों में सूक्तियों की खान उपलब्ध है ।

येशु सच्चे गुरू थे और वे अत्यन्त विनम्र और कोमल थे ।[1] उनके प्रत्येक काम और शिक्षा आश्चर्यपूर्ण होती है । सभायें होती हैं - पहाडों की तराइयों में, ऊसर मैदानों में तथा नदी के तटों पर । उनमें बैठने के लिए आसन होता है पृथ्वी और पत्थर, प्रकाश होता है - सूर्य या चन्द्रमा और श्रोताओं की संख्या हज़ारों से लेकर लाखों तक होती है । बारह मुख्य शिष्यों के अलावा अनेक शिष्य और भी होते हैं, दूर दूर से उनके उपदेशों और भाषणों को सुनने के लिए लोग आते जाते थे, उन्होंने जो कहा वे सब अपने जीवन में करते थे ।

गु का अर्थ है अन्धकार एवं रू का अर्थ है निरोधक अर्थात् अन्धकार या अज्ञान का निरोध करनेवाला व्यक्ति याने गुरू । दूसरे शब्दों में जो शिष्य के हृदय से अज्ञान अन्धकार को हटाकर उसमें प्रकाश रूप ज्ञान का संचार कर दे वही गुरू है । अतः गुरू का स्थान अत्यन्त उज्ज्वल है । गुरू येशु ने अपने शिष्य के अज्ञानान्धकार को दूर कर दिया । मानसकार का भी मत इस से भिन्न नहीं है । वे गुरू को अत्यन्त ऊँचे स्थान पर देखते हैं । गुरू कृपा से साधक को भवसागर पार करना, संभव बन जाता है, गुरु के पदनख शिष्य के लिए बहुमूल्य हैं रत्नों के समान हैं । उनके स्मरणमात्र से शिष्य की दृष्टि एवं भावविश्व दिव्यत्व से आपूरित होता है । इस मृदु-मंजुल अंजन से दृष्टि-दोष दूर हो जाते हैं । दृष्टि को अमरत्व प्राप्त होता है । दृष्टि निर्मल और विवेकपूर्ण बन जाती है ।[2] वे कहते हैं कि जो गुरू की अत्यन्त पवित्र हृदय से सेवा करता है, उसे संसार के सारे वैभव प्राप्त हो जाते हैं । तुलसी ने उसी व्यक्ति को लोक और वेदों में भी बडा भागी कहा है -

जे गुर पद अंबुज अनुरागी । ते लोकहु वेदहु बड भागी ।[3]

---

1. मानसपुत्र ईसा जीवन और दर्शन, डा. रघुवंश
2. गुरू पद रज मृदु मंजुल अंजन । नयन अमिअ दृगदोष विभंजन ।।
   तेहि करि विमल विवेक विलोचन । बरनउँ रामचरित भवमोचन ।।
   मानस बाल 1:1
3. मानस: अयो 259:3

इस तरह गुरु को ईश्वर या ज्ञान को प्राप्त करनेवाला समझकर हर व्यक्ति को अपने हृदय की बात गुरु के सामने खुलकर रखनी चाहिए । तब गुरु उसकी सारी शंकाओं का नाश कर उसके ज्ञानदीप को जलाता है । तुलसी के अनुसार शिष्य के ये गुण हैं - गुरु के चरणों में अत्यन्त अनुराग, गुरु के वचनों में विश्वास, गुरु की शिक्षा का पालन विचार किये बिना करना । तुलसी ने मानस में श्रीराम, भरत और लक्ष्मण को आदर्श शिष्य के धर्मों का पालन करते हुए दिखाया है । साथ ही साथ गुरु वसिष्ठ की गुरुता का चित्रण किया है । श्रीराम और लक्ष्मण के गुरु के प्रति गौरव भाव और विनयपूर्ण व्यवहार का स्वयं कवि ने इस तरह वर्णन किया है -

सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ ।[1]
गुरु पद पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ ।।

गुरु चरणों की सेवा एवं धर्माचरण तथा सन्तोष के द्वारा सामाजिकता की प्रवृत्ति दृढ होती है । समाज में गुरु जन का आदर करना और पारस्परिक संबंधों का निर्वाह करके पारिवारिक एकता, सामाजिक प्रेम, तथा सहयोग की भावना को दृढ किया जा सकता है । स्पष्ट है कि बैबिलकार एवं मानसकार ने गुरु कृपा के महत्व एवं अनिवार्यता को माना है ।

स्वामी-सेवक संबंध :-

स्वामी की सेवा का जीवन में अधिक महत्व है और इसी से उन्नति का मार्ग खुलता है । निज स्वार्थ को त्यागकर अपने स्वामी के लिए सर्वस्व अर्पण करनेवाले सेवक का कर्म अत्यन्त कठिन माना जाता है । सेवक को अपने स्वामी की हमेशा सेवा करनी चाहिए । स्वामी की सेवा और उसकी आज्ञा का पालन जीवन में अत्यन्त आवश्यक है । सच्चे स्वामी एवं सच्चे सेवक

---

1. मानस बाल दो 225

का कर्तव्य निष्ठ बन पाना कठिन कार्य है । स्वामी का भी कर्तव्य है दास को अपने ही परिवारवाले व्यक्ति के जैसे समझकर उससे अच्छा व्यवहार करना । स्वामी का धर्म है वह अपने सेवक के अपराधों पर दृष्टि न डालकर उसको उसी प्रकार सम्भाल रखे जिस प्रकार माँ अपने पुत्र को रखती है ।

मानस में सच्चे स्वामी और सच्चे सेवक का वर्णन मिलता है । तुलसी ने मानस में कहा है -
सेवक वह जो सेवा का काम करे ।[1] साथ ही उसका यह धर्म है कि वह अपने स्वामी की आज्ञा के खिलाफ कोई अनुचित कदम न उठाए । सच्चे सेवकों में हनुमान अग्रगण्य है । स्वामी के आदर्श रूप में श्रीराम आते हैं । तुलसी की राय में सेवक धर्म सब से कठिन धर्म है ।[2] सेवक धर्म की कठोरता के कारणों का उल्लेख करते हुए तुलसी कहते हैं कि स्वाभाविक स्नेह, स्वार्थ, छल तथा चारों फलों की आशा को छोड़कर स्वामी की सेवा करना ही सच्ची सेवकाई होती है ।[3] सेवकत्व का यह भाव आदर्श की चरम सीमा पर पहुँच गया है जहाँ सेवक स्वामी की ही इच्छा सर्वोपरि मानता हुआ उसी के भरोसे रहता हो । ऐसी स्थिति में स्वामी को माँ की भाँति उसका पालन-पोषण करना पड़ता है ।[4] जहाँ स्वामी ऐसा करे, वहाँ सेवक को, अपने कर्तव्य का पालन, मन, वचन, कर्म से करना

---

1. सेवक से जो करे सेवकाई । मानस बाल 271:2
2. सिर बल जाऊँ उचित मोरा । सबते सेवक धरम कठोरा । मानस अयो 203:4
3. सहज सनेहँ स्वामि सेवकाई । स्वारथ छल फल चारि बिहाई ।
   अग्या सम न सुसाहिब सेवा । सो प्रसादु जन पावै देवा ।।
   मानस अयो 300:2
4. सेवक सुत पति मातु भरोसे । रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे ।
   मानस किष्कि 3:2

चाहिए । ऐसी नीति है कि सूर्य को पीठ से, अग्नि को सामने होकर तथा छल-कपट त्यागकर स्वामी और सेवक को अपने अपने कर्तव्यों का सर्वभाव से पालन करना चाहिए ।[1]

सच्चा सेवक वही है जो स्वामी के हितार्थ ही कार्य करे ।[2] सेवक का गौरव तो स्वामी के प्रति पूर्ण प्रेम से ही बढ़ता है । वस्तुत: सेवक हाथ, पैर और नेत्रों के समान तथा स्वामी मुख के समान होना चाहिए । स्वामी-सेवक का यही व्यवहार प्रशंसनीय है -

सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ ।
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि सुकबि सराहहिं सोइ ।।[3]

इसलिए सेवा धर्म बड़ा कठिन है -

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना । सेवा धरमु कठिन जग जाना ।[4]

स्वामी धर्म स्वार्थ का विरोध है -

स्वामी धरम स्वारथहि विरोधू । वैरू अंध प्रेमहि न प्रबोधू ।

सुरसा के पाश में फँसे हुए हनुमान भी मृत्यु तक की परवाह न करके स्वामी के कार्य की प्रमुखता का प्रदर्शन करते हुए सेवक के सच्चे धर्म को निबाह रहे हैं -

राम काजु करि फिरि मैं आवौ । सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौ ।
तब तव बदन पंठिहउँ आई । सत्य कहउँ मोहि जान दे माई ।[5]

---

1. भानु पीठि सेइअ उर आगी । स्वामीहि सर्व भाव छल त्यागी -
   मानस किष्कि 23:2
2. करइ स्वामि हित सेवक सोई । दूषण कोटि देश किन कोई ।
   मानस अयो 186:3
3. मानस अयो 306
4. वही, 293:4
5. मानस सुन्द 2:6-7

श्रीराम अपने सेवकों पर अत्यन्त प्रीति रखनेवाले उत्तम स्वामी हैं । श्रीराम स्वयं कहते हैं -

सब के प्रिय सेवक यह नीति । मोरे अधिक दास पर प्रीति ।[1]

राम ने हनुमानजी की सेवकाई की प्रशंसा करते हुए स्पष्ट कहा है कि वह उसके ऋण से उऋण भी नहीं होना चाहते -

"सुनुसुत तोहि उरिन मैं नाहीं । देखेउँ करि बिचार मन माहीं ।"[2]

स्वामी तथा सेवक में इसी प्रकार के सद् व्यवहार से ही परस्पर प्रीति बढ़ती है और सुख शान्ति का साम्राज्य छाया रहता है । मानस में स्वामी सेवक का आदर्श अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है । आज तो इस भावना से युक्त न तो स्वामी ही है न सेवक ही ।

बैबिल में भी स्वामी-सेवक धर्म का अच्छा चित्र खींचा गया है । संत पोल की माँग यह है कि सेवक अपने सारे हृदय से अपने स्वामी की सेवा करे और स्वामी अपने दासों की संपत्ति नहीं वरन् व्यक्ति जानकर उनके प्रति आचरण करें । "हे स्वामियो, अपने अपने दासों के साथ न्याय और ठीक-ठीक व्यवहार करो, यह समझकर कि स्वर्ग में तुम्हारा एक स्वामी है ।[3] बैबिल में फिलिमोन के नाम पत्र में फिलिमोन स्वामी और उनेसिमोस नामक एक दास के संबंध में चित्रण मिलता है । संत पोल ने फिलिमोन को लिखा है कि वह उनेसिमोस को ऐसा ग्रहण करे जैसे पोल को । अब उनेसिमोस फिलिमोन का दास नहीं वरन् उसका भाई है । इसलिए दोनों के बीच एक नया अटूट संबंध हो गया । वहाँ स्वामी और उसके दासों में आदर्श और नवीन प्रकार का संबंध स्थापित हो गया था ।

---

1. मानस उत्त 15:4
2. मानस सुन्द 32:7
3. बैबिल कोले 4:1

सेवक से संत पोल का अनुरोध है कि जो लोग इस पृथ्वी पर आपके स्वामी हैं, आप डरते-काँपते और निष्कपट हृदय से उनकी आज्ञा पूरी करें, मानो आप ईश्वर की सेवा कर रहे हों।[1] मनुष्य को प्रसन्न करने के उद्देश्य से दिखावे मात्र के लिए नहीं, बल्कि मसीह के दासों की तरह ऐसा करें, जो सारे हृदय से ईश्वर की इच्छा पूरी करते हैं। सेवक प्रसन्नता से अपना सेवा कार्य करते रहे क्योंकि प्रत्येक मनुष्य चाहे वह दास हो या स्वतंत्र हो, जो भी हो, भलाई करेगा।[2] स्वामी भी दासों के साथ उचित व्यवहार करें। स्वामी धमकियाँ देना छोड दें। क्योंकि आप जानते हैं कि स्वर्ग में उनका और एक स्वामी है, और वह किसी के साथ पक्षपात नहीं करता। स्वयं येशु कहते हैं कि दास अपने स्वामी से बडा नहीं होता।[3] संत लूक ने कहा कि "तुम उन लोगों के सदृश बन जाओ, जो अपने स्वामी की राह देखते रहते हैं कि वह बारात से कब लौटेगा, ताकि जब स्वामी आकर द्वार खटखटाये, तो वे तुरन्त, ही उसके लिए द्वार खोल दें।[4] वे सेवक धन्य हैं जिन्हें स्वामी जगाता हुआ पायेगा।

बैबिल में पालस्तीन देश की वास्तविक स्थितियों पर आधारित एक घटना है। जिस में स्वामी अपने सेवकों की खोज में निकलता है। वह स्वामी अपने सेवकों को उचित मज़दूरी देनेवाला है। यहाँ सेवक समाज के सब से निम्न वर्ग के लोग थे। दास और सेवक तो किसी परिवार से संबंधित रहते थे। उनका भाग्य परिवार के भाग्य के साथ जुडा हुआ था। उन सेवकों की दशा बहुत बुरी थी। वे बहुधा आधा पेट ही रहते थे। प्रतिदिन काम मिला तो ठीक, नहीं तो बाल-बच्चे उस दिन भूखे रहते थे।[5]

---

1. बैबिल एफे 6:5
2. बैबिल मात्यु 10: 24
3. वही
4. बैबिल लूक 12:36
5. वही

येशु ने एक धनवान और उसके भण्डारी अधर्मी दास का दृष्टान्त देकर शिष्यों से कहा कि कोई दास दो स्वामियों की सेवा नहीं कर सकता, क्योंकि वह तो एक से बैर और दूसरे से प्रेम रखेगा या एक से मिला रहेगा और दूसरे को तुच्छ जानेगा, तुम ईश्वर और धन दोनों की सेवा नहीं कर सकते ।[1]

मानस और बैबिल स्वामी और सेवक का संबंध दृढ बनाने का आह्वान देते हैं । जो स्वामी के हित-साधन में तल्लीन रहता है, वह सच्चा सेवक है । दोनों ग्रंथों में समान रूप से सेवक के निस्वार्थ भाव से काम करने का आदर्श और उपदेश मिलते हैं । सेवक का कल्याण स्वामी की निस्वार्थ सेवा में निहित है ।

मित्रता का संबंध :-

परिवार और समाज में रहते हुए व्यक्ति, मित्र की इच्छा अवश्य करता है । मनुष्य के जीवन में मित्रता से संबंधित अनेक घटनाएँ मिलती हैं । समाज में जीने के लिए मानव को मित्रों से मिलकर अपने विचारों को प्रकट करते हुए व्यवहार-कुशल बनना पडता है । व्यवहार कुशलता ही व्यक्ति को अपने कार्य में सफलता देती है । परन्तु मित्र की पहचान क्या है ? इसका बोध मानसकार और बैबिलकारों ने अपने ग्रंथों के माध्यम से कराया है । मित्रों के गुणों को परखना अत्यन्त ज़रूरी होता है । मित्र व्यक्ति को कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग की ओर ले जाता है -

पापान्नि-वारयति भोजयते हिताय
गुह्यं च गूहति, गुणान् प्रकटीकरोति ।[2]

---

1. बैबिल लूक 16:1-13
2. नीतिशतक 73 शुक्रनीति 122

तुलसी के मित्र संबंधी ये सब लक्षण मान्य है -

कुपथ निवारि सुपंथ चलावा । गुन प्रगटे अवगुनहि दुरावा ।
देत लेत मन संक न धरई । बल अनुमान सदा हित करई ।।[1]

मैत्री भाव का पूरा-पूरा निर्वाह राम ने सुग्रीव के साथ किया है । व्यक्ति के सुख-दुःख में भाग लेनेवाला ही मित्र है । सच्चा मित्र वही है जो अवगुणों को दूर कर व्यक्ति को ज्ञान के मार्ग पर ला खड़ा कर दे । सच्चा मित्र अपने मित्र के दुःख को अपने दुःख की अपेक्षा अधिक महसूस करे -

"निज दुःख गिरि सम रज करि जाना ।
मित्रक दुःख रज मेरू समाना ।।"[2]

मित्र विपत्ति में रक्षक के समान होता है, इसलिए विपत्ति पड़ने पर मित्र की परख स्वयं हो जाती है -

विपत्ति काल कर सतगुण नेहा । श्रुति कह संत मित्र गुन एहा ।[3]

जो सदा परहित में लगे रहते हैं और प्रेम का पूर्ण रूप से निर्वाह करते हैं वे ही सच्चे मित्र कहलाते हैं । कपटी मित्र तो शूल के समान पीड़ा दे रहा है ।[4] तुलसी ने ऐसे कुमित्रों से बचने के लिए चेतावनी दी है ।[5] वस्तुतः सच्चे मित्र की कसौटी विपत्ति ही है ।[6] यह रहीम ने यों व्यक्त कर दिया है -

विपत्ति कसौटी जे कसे, सोई साँचे मीत ।[7]

---

1. मानस किष्कि 6:2
2. वही, 6:1
3. वही, 6:3
4. सेवक सठ नृप कृपण कुनारी । कपटी मित्र सूल समचारी । मानस किष्कि: 6:5
5. आगे कह मृदुवचन बनाई । पाछे अनहित मन कुटिलाई । मानस किष्कि: 7:7-8
6. धीरज धर्म मित्र अरू नारी । आपदकाल परखिहि चारी । मानस अर: 4:4
7. रहीम के दोहे

सच्चे मित्र की पहचान संकटकाल में ही हो पाती है । प्राय: यह देखा जाता है कि सुखमय जीवन में तो अनेक मित्र बन जाते हैं, लेकिन दु:ख, विपत्ति या संघर्ष के समय वे भी किनारा कर जाते हैं । अत: सच्चे मैत्री पूर्ण संबंधों की परीक्षा विपत्ति के समय ही हो सकती है । विपत्ति में भी साथ न छोडनेवाले ही सच्चे मित्र होते हैं । अँग्रेज़ी कहावत "ए फ्रेण्ड इन नीड इज़ ए फ्रेण्ड इनडीड" का यही अर्थ है । इसके विपरीत जो मित्र के दु:ख से दु:खी नहीं होते वे व्यक्ति त्याज्य हैं । संतों, वेदों का कहना है कि ऐसे व्यक्ति आस्तीन के साँप हुआ करते हैं जिन्हें त्यागने में ही हित है ।[1] ऐसे कुमित्र को देखना भी कवि पाप समझता है ।

सुग्रीव के साथ मित्रता का पवित्र संबंध जोडकर श्रीराम मित्र के लक्षणों को बताते हैं । उन्होंने मित्र और अमित्र के लक्षणों की लम्बी सूची दी है ।[2] मित्र वही होता है जिसे अपने मित्र का दु:ख सहन नहीं होता । मित्र को कुपथ से हटाकर सुपथ पर लगाना, अवगुण-गोपन तथा गुण-प्रकटीकरण लेन-देन में संशय-सन्देह न करना, यथाशक्ति सतत हित साधन । राम-सुग्रीव, राम-हनुमान इत्यादि की मैत्रियों ने मानव जाति के इतिहास को प्रकाशित किया है ।

बैबिल में येशु आदर्श मित्र हैं । येशु और संत जोन, संत पोल और सीलास आदि आदर्श मित्रों को बैबिल प्रस्तुत करता हैं । येशु ने अपने

---

1. जे न मित्र दु:ख होहि दु:खारी । तिन्हहि विलोकत पातक भारी ।।
   जाकर चित अहि गति सम भाई । अस कुमित्र परिहोहि भलाई ।।
   मानस किष्कि: 7:।

2. कुपथ निवारि, सुपंथ चलावा । गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा ।।
   देत-लेत मन संक न धरई । बल-अनुमान सदा हित करई ।।
   मानस किष्कि: 4:5

मित्रों एवं शिष्यों से कहा " मैं ने तुम लोगों को प्यार किया है उसी प्रकार तुम भी एक दूसरे को प्यार करो । कोई भी अपने मित्रों के लिए अपने प्राणों को अर्पित कर दे, इस से बढ़कर कोई प्रेम नहीं हो सकता ।"[1] येशु ने जो कहा वही अपने जीवन में पूरा किया । हम इस संसार में स्पर्धा के लिए नहीं, एक दूसरे से लड़ने के लिए नहीं भेज गये हैं । यहाँ एक महान दावा करते हैं कि मित्र की रक्षा के लिए अपने प्राणों के बलिदान से बढ़कर दूसरा कोई प्रेम नहीं है । सच्ची मित्रता में स्वार्थ की किंचित्मात्र भी गन्ध अपेक्षित नहीं है ।

बैबिल के प्रवक्ता ग्रंथ में मित्रता संबंधी बहुत शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं । सच्चा मित्र संजीवनी है ।[2] प्रिय शब्दों से मित्रता बढ़ती है और मधुरवाणी से मैत्री पूर्ण व्यवहार । तुम्हारे परिचित अनेक हो, किन्तु तुम्हारा परम आदर्शदाता सहस्रों में एक । परीक्षा लेने के बाद किसी को मित्र बना लो । जो मित्र अवसर को देखता है, वह विपत्ति के दिन तुम्हारा साथ नहीं देगा । सच्चा मित्र ही प्रबल सहायक रहता है । सच्चा मित्र जिसे मिल जाता है, उसे खजाना प्राप्त है । ऐसा मित्र एक अमूल्य निधि है, उसकी कीमत धन से चुकायी नहीं जा सकती । "आँख पर चोट लगने पर आँसू टपकते हैं और हृदय पर चोट लगने पर मित्रता चली जाती है । जो पक्षियों पर पत्थर मारता है वह केवल उन्हें भगाता है । लेकिन जो मित्र की निन्दा करता है, वह मित्रता भंग करता है ।[3] अहंकार, अपमान, विश्वासघात और कपटपूर्ण व्यवहार से मित्रता नष्ट हो जायेगी । मित्र की विपत्ति में उसके प्रति ईमानदार रहो । सच्चा मित्र दुःख में अपने मित्र का साथ देता है और भाला उठाकर उसके शत्रु से लड़ता है । संपन्नता में भी अपने मित्र को याद रखो ।[4] मित्र को प्यार करो और उसके प्रति ईमानदार रहो ।[5]

---

1. बैबिल जोन 15:12-13
2. बैबिल प्रवक्ता 6:16
3. वही, 22:24-27
4. वही, 37:5-6
5. वही, 27:18

लोक-व्यवहार का मैत्री-पूर्ण जीवन, सुव्यवस्थित परिवार और समाज की प्रथम शर्त है । समाज में मित्र का स्थान बहुत महत्व का होता है । क्योंकि मित्र की छाया में व्यक्ति बुरा भी बन सकता है या अच्छा भी । इसलिए नीतिकारों का कहना है कि अपने से हर विषय में उन्नत चरित्रवालों से मित्रता करनी चाहिए । व्यक्ति चाहे धनी हो या निर्धन, दुःखी हो या सुखी, निर्दोष हो या सदोष किसी भी स्थिति में हो, मित्र ही उसका परम सहायक होता है । इसलिए मित्र के स्नेह के मूल्य में व्यक्ति धन, सुख और यहाँ तक कि प्राणों का भी परित्याग कर देता है । मित्र के उपकार को विस्मृत करना समीचीन नहीं है । प्रत्युपकार का छोटा सा अवसर भी हाथ में नहीं जाने देना चाहिए । मित्र सदैव हित-साधन ही करता है । दुःख में मित्र ही काम आता है । महान मैत्री में स्व एवं पर का अन्तर मिट जाता है । महान मैत्री अद्वैतानुभूति की वाहक हो सकती है ।

मानस और बैबिल में मित्रता का आदर्श अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है । मानस में सच्ची मित्रता के द्योतक राम-सुग्रीव हैं । राम ने सुग्रीव से समस्त भेद-भाव, छल-कपट त्यागकर सच्ची मैत्री स्थापित की । बैबिल में येशु ने अपने मित्रों के लिए सब कुछ, अपने जीवन तक की बलि चढाकर मित्रता निभायी । दोनों ग्रंथों में मित्र की कसौटी विपत्ति ही है ।

निष्कर्ष :-

रामचरितमानस और बैबिल किसी व्यक्ति विशेष, गृह, समाज या राष्ट्र का ही नहीं अपितु समस्त विश्व के लिए आदर्श रूप बन गये हैं । मानस और बैबिल की प्रत्येक पंक्ति में आदर्श जीवन एवं आदर्श समाज की झाँकी प्रतिबिंबित है । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मानस और बैबिल ने समाज व्यवस्था को पारंपरिक रूप में ही माना है । तुलसी आदर्श समाज में समानता स्थापित करना चाहते हैं, इससे कुछ आगे बढकर येशु संपूर्ण क्रान्ति की

भी घोषणा करते जान पडते हैं जो अमीर है, उन्हें तुच्छ माना जाएगा, जो गरीब है, उन्हीं को महान कहा जाएगा । ईश्वर ने शक्तिशालियों को उनके आसनों से गिरा दिया और दीनों को महान बना दिया है ।[1] मानस में वर्ण-व्यवस्था का चित्रण मिलता है तो बैबिल में वर्ग भेद मिलते हैं । दोनों समाजों में समानता भी है और असमानता भी । भारतीय समाज में ब्राह्मण सब से श्रेष्ठ है तो पश्चिम एशियाई समाज में यहूदी लोग पुरोहित बनकर मन में अपनी उच्चता का भ्रम पालकर अहंकारवश अपने भाइयों को ही तुच्छ समझते हैं ।

तुलसी के भक्तिमार्ग में तुच्छ, नगण्य, और तिरस्कृत लोग ही ईश्वर के विशेष कृपा पात्र हैं । ईश्वर सिद्धों को छोडकर उन्हीं के साथ भाइचारे का व्यवहार करते हैं । ठीक उसी प्रकार येशु भी उन्हीं लोगों का स्वागत करते थे, जिन्हें समकालीन समाज अधर्मी एवं भ्रष्ट मानता था । तुलसी और येशु अपने युग के लोकनायक थे । परिवार के सदस्यों का कर्तव्य, उदाहरण और उपदेशों के माध्यम से दोनों ग्रंथ समान रूप से देते हैं । परिवार में नारी का स्थान, मैत्री संबंध, स्वामी-सेवक संबंध, गुरु-शिष्य संबंध, जाति संबंध आदि पर भी दोनों ग्रंथों ने यथेष्ट प्रकाश डाला है । व्यवहार में व्यक्ति को किस प्रकार का संपर्क स्थापित करना चाहिए, इसके औचित्य-अनौचित्य को ध्यान में रखकर अपने जीवनानुभवों के द्वारा सिद्ध वाणी के दोनों ग्रंथों के कलाकारों ने अपनी रचना में उच्चकोटि की शिक्षाओं की सरसता को विकीर्ण कर दिया है । किसी आदर्श सभ्य समाज को इन्हीं की अपेक्षा है, वसुधैव कुटुम्बकम् का तात्पर्य भी यह है कि सारा संसार एक परिवार है, और हम इस विशाल परिवार के सदस्य हैं । हमारा सांसारिक जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण होना चाहिए उसका निरूपण मानस और बैबिल में हुआ है । मानसकार और बैबिलकारों ने आदर्श परिवार के सदस्यों और आदर्श पात्रों द्वारा सामाजिक, पारिवारिक जीवन की सफलता तथा सार्थकता का शुभ सन्देश सुनाया है ।

---

1. बैबिल लूक 1-51-53.

चौथा अध्याय

रामचरितमानस और बैबिल में चित्रित समाज धर्म का स्वरूप

मन, वचन और कर्म को व्यवस्थित रखनेवाला तत्व धर्म हैं । धर्म से मानव जीवन पूर्णता प्राप्त करता है । धर्म व्यक्ति के समाजीकरण में सहायता प्रदान करता है, व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति करता है तथा व्यक्ति में नैतिकता और सद्गुणों का विकास करता है । वह लोगों को शान्ति और सान्त्वना प्रदान करता है, व्यक्तित्व को संगठित तथा पूर्ण बनाता है और व्यक्ति के बुरे कार्यों को नियंत्रित करता है । धर्म परलोक जीवन की उदात्त कल्पना को भौतिक कर्म के आधार पर प्रतिष्ठित कर जीवन को सुखमय बनाता है । धर्म व्यक्ति चरित्र को दृढ़ता प्रदान करके संघर्षों का धैर्यपूर्वक सामना करने की क्षमता प्रदान करता है ।

धर्म संबंधी भारतीय विचार :-

भारतीय धर्मग्रंथों और शास्त्रों में आचार्यों ने धर्म की अनेक परिभाषाएँ दी हैं । महाभारत में धर्म की व्याख्या करते हुए कहा गया है -

"धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः ।
यत् स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ।।"[1]

धर्म की उपर्युक्त व्याख्या में प्रजा की, समाज की धारणा को शीर्षस्थान दिया गया है । जिस कर्म से समाज का कल्याण हो उसे धार्मिक और जिस से समाज के हित को क्षति पहुँचे उसे अधार्मिक कहा जा सकता है । अभ्युदय निश्रेयसः सिद्धिः स धर्मः कहकर धर्म को अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि का अर्थात् इस लोक और परलोक दोनों में कल्याण संपादन का साधन माना गया है । धर्म की इस व्यापक कल्पना के अन्तर्गत जीवन के सभी पहलू आ जाते हैं । सांसारिक हो या

---

1. महाभारत, कर्ण पर्व, श्लोक 68

आध्यात्मिक, भौतिक हो या नैतिक, सभी प्रकार के कर्म क्षेत्र पर धर्म का शासन स्वीकार किया गया है ।

धर्म, मनुष्य के कार्य-कलापों का क्षेत्र विस्तृत कर देता है तथा उसे साधारण भौतिक स्वार्थों के ऊपर उठकर सोचने के लिए विवश करता है । समाज अनिवार्यतः व्यक्तियों से त्याग एवं बलिदान की माँग करता है और इस भावना का विकास धार्मिक चेतना के माध्यम से होता आया है । "आत्मज्ञान के द्वारा भी व्यक्ति दूसरों को समझने में अच्छी तरह समर्थ होता है और उसे संपूर्ण सामाजिक जीवन की उज्ज्वलता का बोध होता है ।"[1] आत्मज्ञान का सर्वश्रेष्ठ साधन धर्म ही है । धर्म के द्वारा लोगों की पाशविक प्रवृत्तियों का शोधन होता है तथा उन में सहानुभूति, परोपकार प्रेम आदि की भावना का विकास होता है ।

धर्म शब्द की व्युत्पत्ति "धृ" धातु से हुई है जिसका अर्थ है धारण करना, संभाल कर रखना या मिलाये रखना है । धर्म संपूर्ण विश्व को धारण करता है ।

महर्षि व्यास ने धर्म को धारण करने की क्रिया से संबद्ध करते हुए उसकी व्याख्या तीन प्रकार से की है -

ध्रियते लोकः आनेन इति धर्मः[2] - जिस से लोक धारण किया जाय, वह धर्म है ।
धरति धारयति वालोकम् इति धर्मः जो लोक को धारण करे वह धर्म है ।
ध्रियते यः स धर्मः जो दूसरों से धारण किया जाय, वह धर्म है ।
अमरकोश तथा अन्य कोश ग्रंथों में धर्म के अनेक अर्थ दिये गये हैं जैसे सुकृत या पुण्य, वैदिक-विधि, योगादि, न्याय, स्वभाव, आचार, सोमरस, आत्मा, अदृष्ट,

---

1. द क्राइसिस इन इन्डियन सोसइटी, पी. भटनागर, पृ. 23.
2. महाभारत, कर्ण पर्व, 69:58

उपमा, अहिंसा, सत्संग, भाग्य, दान एवं धर्म । एनसाइक्लोपीडिया इन्डिया भाग में मनोवृत्तियों को धर्म कहते हैं जैसे दया, अहिंसा, सत्य आदि इन्द्रियों के कार्य को धर्म कहते हैं जैसे आँख का धर्म देखना आदि । कर्तव्यों को भी धर्म कहते हैं । गुण की क्रिया का नाम धर्म है । मानवाचार को भी धर्म कहते हैं ।[1] श्रुति और स्मृति द्वारा प्रतिपादित कर्तव्य धर्म है, संसार में सब सत्कर्म धर्म है । संक्षेप में मानव जीवन को संचालित करनेवाले और उसके व्यापक बहुमुखी विकास के लिए जिन नियमों, उपनियमों, विधि-विधानों और बाह्य रीति-नीतियों का सहारा लिया जाता है - वे धर्म हैं ।

महर्षि नारद युधिष्ठिर को धर्म के तीस लक्षण बताते हैं । सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचित का विचार, मन का संयम, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, सेवा, भोगों से निवृत्ति, अभिमानपूर्ण प्रयत्नों के विपरीत फल का ज्ञान, मौन, आत्मचिन्तन, अन्न का विभाजन, इष्टदेव का भाव, भगवान् के नाम, गुणलीला आदि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण सेवा, पूजा, नमन, दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण यह सब मनुष्य धर्म है और इसके पालन से परमात्मा प्रसन्न होते हैं ।[2]

भारतीय संस्कृति में धर्म के प्रति अगाध विश्वास रहा है, सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का मूलाधार धर्म माना गया है । भारतीय चिरन्तन धारा में धर्म को मानवीय गुणों की दीप्ति प्रदान करनेवाला माना गया है । "हिन्दी विश्वकोश" द्वारा प्रतिपादित धर्म वह आचरण है, जिस से जाति या समाज की रक्षा और सुखशांति की वृद्धि होती है तथा परलोक में अच्छी गति मिलती है । धर्म की मीमांसा दर्शन का मूल तत्व है ।

---

1. एनसाइक्लोपीडिया इन्डिया भाग 10, पृ. 100
2. श्रीमद् भागवत, सप्तम स्कन्ध, अध्याय 11, श्लोक स 8-12

मनुष्य के मंगल के लिए जो कार्य होते हैं, वे धर्म हैं । जिस से भूत, भविष्यत, वर्तमान तथा सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्ट अर्थ का परिज्ञान होता है, उसको धर्म कहते हैं ।[1] धर्म से मानव के विभिन्न वर्गों, जातियों के भिन्न-भिन्न कर्तव्य या स्वधर्म का बोध होता है ।

धर्म संबंधी पाश्चात्य विचार :-

पाश्चात्य दार्शनिक धर्म को नैतिकता, कर्तव्य पालन या सच्चरित्र के रूप में मानते हैं । विदेशी विद्वानों ने धर्म को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि धर्म जीवन का अर्पण है, जीने की और करने की इच्छाशक्ति का उत्तेजन है ।[2] धर्म आध्यात्मिक तेज है ।[3] मोनियर विलियमस धर्म को जनता का कर्तव्य मानते हैं ।[4] शर्मा का कहना है कि धर्म परमात्मा के प्रति श्रद्धात्मक भावना है ।[5] फ्लिन्ट के अनुसार धर्म परमात्मा और आत्मा का समागम है ।[6] फिलिप ह्यूग की राय में धर्म सर्वोत्तम मित्र है ।[7] लानडोर धर्म को दर्शन की ज्येष्ठा भगिनी समझता है ।[8]

---

1. एनसाइक्लोपीडिया इन्डिया {विश्वकोश} भाग 10, पृ. 100.
2. Encyclopaedia Britanica, Vol. 19, P.16.
3. Vol. XIX "
4. Religion, the duties of the masses of people (Hinduism, Monier Williams, P.54.
5. D.S.Sharma, A Primers of Hinduism, P.29.
6. Theism, general idea of Religion, Flint, P.32.
7. J.Montogomery, The pillow quoted from dictionary of quotations by Philip Hugh, P.32.
8. W.s.Landour, Imaginary Conversation, Ibid, P.21.

धर्म अनेकार्थी व्यापक शब्द है, जिसका वास्तविक अर्थ होगा वह नियम जिसने संसार को धारण किया है । एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में धर्म की व्यापकता का उल्लेख हुआ है । मैक्समूलर ने मनुष्य के कर्तव्य-कर्म को धर्म की संज्ञा दी है । मनुष्य समाज के मंगल के लिए जो कार्य होते हैं, वे धर्म हैं ।

धर्म ईश्वरत्व की पहचान का मार्ग निर्देश करता है, आस्तिकता इसका मूल है । कुछ लेखकों ने धर्म को ही आराधना माना है । धर्म सदैव मनुष्य का वह प्रयास है जिस में वह अपने आप को सजग रूप से किसी आध्यात्मिक शक्ति से बाँधने का प्रयास करता है और यह मानता है कि वह शक्ति वस्तुओं का प्राण है अर्थात् अन्तिम परमसत्ता है ।

धर्म से मानव समाज जीवित है और इसके क्षय से समाज पतन की ओर जाता है ।

सब धर्म एक हैं - धर्म एकता का तत्व हैं:-

दुनिया के सब से बड़े बड़े धर्मों के संस्थापक और सब धर्म ग्रंथों में हमें यही उपदेश मिलते हैं कि संपूर्ण मानव समाज एक कुटुम्ब हैं और मानव समाज की इस एकता को साक्षात् करना ही मनुष्य जीवन का सब से बड़ा लक्ष्य है । "वसुधैव कुटुम्बकम्" हिन्दू धर्म का पुराना आदर्श है । बैबिल का कहना है कि ईश्वर की सन्तान हैं, एक ही ईश्वर सब मनुष्यों का सृष्टिकर्ता हैं, इसलिए मनुष्य को आपस में प्रेम करना है । इसी तरह कुरान का एक मशहूर वाक्य है - "यह इन्सान अल्लाह का कुनबा है" । इसी तरह की उक्तियाँ दुनिया के सभी धर्म ग्रंथों में पायी जाती हैं । सच्चे महात्मा, राजनीतिक, दार्शनिक, धार्मिक हमें यही बताते हैं कि सब मनुष्य भाई-भाई हैं और उन सब को एकता के सूत्र में बाँधना ही इस पृथ्वी पर हमारे जीवन का लक्ष्य है । धर्म ने विश्व-बन्धुत्व एवं

मानव मात्र की एकता का सन्देश भी दिया है । धर्म का सकारात्मक रूप समाज में सक्रिय रहे यही उचित है । इसके लिए सामाजिक चेतना की भूमिका महत्वपूर्ण है । धर्म का लक्ष्य है व्यक्ति की, समाज की धारणा और यही नैतिकता का भी चरम लक्ष्य है ।

धर्म मनुष्य की आत्मशुद्धि करता है और उसे संकुचित सांप्रदायिक भेद-भाव से ऊपर उठाकर मनुष्य मात्र में एकता स्थापित करता है । वह मनुष्य को विश्व के रचयिता ईश्वर की खोज करने और उसके साथ एकाकार हो जाने के लिए प्रेरित करता है । व्यापक धर्म सभी धर्मों में अन्तिम एकता स्थापित करता है । धर्म पूर्णतः व्यक्तिगत है । अपने अपने सिद्धांतों के अनुसार आचरण करते हुए हमें एक दूसरे के उत्तम सिद्धांतों को स्वीकार करना चाहिए और इस प्रकार ईश्वर तक पहुँचाने के मानव के प्रयास में अपना योगदान देना चाहिए ।

धर्म सत्य का, चिरन्तनता का प्रतीक हैं । धर्म नैतिकता है, मानवता है । नैतिक नियम समाज व्यवस्था से उत्पन्न विधान है, जिनके निर्वाह द्वारा ही व्यक्ति स्वर्गिक सुख-भोग सकता है । धर्म मनुष्य को अनुशासित करनेवाली शक्ति है । वह हम से यह माँग करता है कि घृणा और हिंसा का मुकाबला शान्ति और सम्मान के साथ करें ।

मनुष्य इस रास्ते को भी समझे, परखें और उस पर चलें । धर्म का रास्ता सुख शान्ति का रास्ता है, दुःख, मौत और डर से छुटकारे का रास्ता है । वैदिक या हिन्दू धर्म में इन्हें "ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग और कर्म मार्ग कहा गया है । इसलाम में इन्हीं को "मारफत", "तरीकत" और "शरीअत" कहा जाता है, यही सब रास्ते बैबिल में मिलते हैं । ये ही तीन पहलू दुनिया की हर सभ्यता के मूल में होते हैं ।

समाज और धर्म :-

व्यक्ति को उचित-अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध कराने के लिए समाज में कुछ विधि-विधान होते हैं, ये नियम ही धर्म और आचरण के सामाजिक रूप कहलाते हैं । सोच समझकर बनाये गये नियमों के अनुसार संगठित रूप से चलनेवाला मानव समूह ही समाज कहलाता है । पतनोन्मुखी समाज को व्यक्ति का धर्मनिष्ठ नैतिक आचरण ही बचा सकता है । धर्म और आचरण का सामाजिक रूप ही धर्म का विकसित रूप है । मनुष्य जीवन की अनेक सम और विषम परिस्थितियों में धर्म उसका मार्गदर्शन करता है । व्यक्ति का धर्म उसके आचार व्यवहार से स्पष्ट हो जाता है । उसका व्यक्तिगत आचरण सामूहिक रूप में समाज का आचरण बनकर परंपरा द्वारा रूढ़ होकर संस्कृति बन जाता है । धर्म से संबंधित उसके सूक्ष्म आचरण को धर्म का व्यापक रूप कह सकते हैं और बाह्याचरण को धर्म का स्थूल एवं संकीर्ण रूप कहा जा सकता है ।[1] इन दोनों रूपों का संबंध मानव-आचरण से होता है । व्यक्ति का आचरण इकाई के रूप में किसी परिवार, जाति, समाज और राष्ट्र का विधायक होता है ।

ईश्वर से संबंध स्थापित करना मानव का परम कर्तव्य है । जन सामान्य के हित के हेतु निज स्वार्थों का त्याग करना मनुष्य का परम धर्म है । यह ईश्वर को जानने और उसकी उपासना में विश्वास रखने से होता है । यह धर्म जीवन का सर्वोत्कृष्ट उपहार है । उसके साक्षात्कार के लिए अपने जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करना चाहिए । सदा धर्मपरायण रहना और धर्म मार्ग से कभी च्युत न होना । धर्माचरण करने और धर्ममय जीवन व्यतीत करने के लिए मनुष्य का जन्म हुआ है ।[2] धर्म में सत्य प्रतिष्ठित है ।

---

1. भारतीय संस्कृति की महिमा विविध आयाम, डा. कृष्ण भावुक, पृ. १९२

2. हरिभाऊ उपाध्याय, भागवत धर्म [दूसरा भाग], पृ. 204.

संगठित मानव समूह या व्यक्ति-विशेष की आवश्यकताओं की पूर्ति धर्ममय आचरण द्वारा होती है । धर्म मानव के कल्याण का मार्ग दिखाता है । धर्म कर्म से आपूरित है । धर्म साहित्य का प्रेरणा स्रोत रहा है । किसी भी देश का साहित्य इसका प्रमाण है । धर्म व्यक्ति-व्यक्ति के परस्पर संपर्क का साधन है । विषम परिस्थितियों में धर्म जनता में विश्वास एवं श्रद्धा उत्पन्न कर सामाजिक विघटन को रोकता है । धर्म व्यक्ति को व्यवस्थित जीवन जीना सिखाता है । उसे उसके अधिकार एवं कर्तव्यों का परिचय देता है । धर्म सुकृत्य अर्थात् सुन्दर और उचित कर्म को कहते हैं ।

धर्म हमारी आध्यात्मिक चेतना और प्रेरणाओं की ओर संकेत करता है । यह हमें अनुशासनमय जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित करता है, कुमार्ग पर अग्रसर होने से बचाता है और सन्मार्ग की ओर उन्मुख करता है । मानव से परे उस परम शक्ति से हमारा परिचय कराता है और यह स्पष्ट करता है कि ईश्वर सब कहीं विद्यमान है, ईश्वर यहीं पर विद्यमान है और मनुष्य नैतिकतामय जीवन यापन कर उस से सहज ही साक्षात्कार कर सकता है । मानवात्मा ही उस परम ज्योति का निवास स्थल है ।

धर्म संस्कृति का मध्यवर्ती एवं मूल तत्व है । वह मानव विचार, भाव और क्रिया को दिशा प्रदान करता है । मानव आदर्शों, मूल्यों, प्रेरणाओं को स्थिरता प्रदान करता है । इस में सर्वत्र विश्वास, आस्था और सत्य है । सभी का एक दूसरे पर अटूट विश्वास है और इस अखंड आस्था पर ही धर्म का विशाल भवन स्थित है ।[1] धर्म संसार में मानवीय भावना के प्राकृतिक दोषों और त्रुटियों को दूर करते हुए मनुष्य को परम शक्ति के संसर्ग में पहुँचा देता है । धर्म सार्वकालिक और सार्वभौमिक वास्तविकता है । धर्म का आस्थामय और भक्तिपूर्ण रूप हमें सांसारिक कष्टों के प्रति सहिष्णु बना देता है

---

1. The Sociology & Religion, By Thomas F.O.Dea, P. 116.

धर्म भारतीय एवं पाश्चात्य विचार में एक ही अर्थ प्रस्तुत करता है । मानस में धर्म का वही रूप माना गया है, जो सामान्य रूप से भारतीय परंपरा में स्वीकृत है तथा विशेष रूप से जिसका प्रतिपादन धर्मशास्त्रों में किया गया है । जैसे धर्म में कर्तव्य का भाव प्रधान बन गया है, धर्म जीवात्मा और परमात्मा का समागम है, धर्म मनुष्य को ईश्वर के संग समीपता प्राप्त करने के समस्त मार्ग प्रदर्शित करता है आदि । बैबिल में भी वही सामान्य धर्म है, जो एकता और शान्ति का कारण बनता है वही धर्म मानवीय कल्याण के कल्पवृक्ष का बीज है । मानस और बैबिल इसके प्रतिनिधि बनकर धर्म के व्यापक अर्थ का प्रयोग करते हैं ।

मानस में धर्म :-

मानस एक धर्मशास्त्र है । उसमें धर्मशास्त्र के समस्त तत्व, विशेषताएँ एवं लक्षण मिलते हैं । धर्म तुलसी का वही पुरातन धर्म था, जिसने आज तक की संपूर्ण संस्कृति को अपने अन्दर समेट लिया था । जिसका अपना साहित्य था, इतिहास था, दर्शन था । इन सभी से प्राप्त ज्ञान के भण्डार में से अच्छे अच्छे रत्न निकालकर तुलसी ने अपने ग्रंथों में भर दिये हैं । तुलसी के धर्म में ईश्वर, जीव, प्रकृति, माया और गुरु का ज्ञान आता है, पिता, पुत्र, स्त्री, भाई के संबंध, प्रेम, कर्तव्य, विचार और भावनाएँ आती हैं । राजा-प्रजा, उनके पारस्परिक संबंध भी आते है,इस प्रकार तुलसी के धर्म में धार्मिक विचार, दार्शनिक विचार, सामाजिक विचार तथा राजनैतिक विचारों का हमें समन्वय मिलता है । तुलसी वैदिक धर्म पुर्नस्थापना का प्रयत्न करते हैं, लेकिन वह परंपरागत धर्म का बखान मात्र नहीं है, मध्यकालीन, सामाजिक, धार्मिक, परिवेश में वे अपनी एक आचारसंहिता प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं और इसके लिए राम को मुख्य चरित्र बनाते हैं । उसके राम जीवन की प्रत्येक स्थिति में खेलने-कूदने में, हँसने-रोने में, लड़ने-भिड़ने में, नाचने-गाने में, बालकों की क्रीडा में, दाम्पत्य प्रेम में, राज्यसंचालन में, आज्ञापालन में आनन्दोत्सव में, शोक-समाज में, सुख-दुःख में, घर में, संपत्ति में, विपत्ति में -

उसे दिखाई पडते हैं ।[1] निश्चय ही यह तुलसीकालीन सामन्ती भोगवादी मूल्यों के विरोध में एक नये मानव धर्म की कल्पना है ।

मानस के पर्यालोचन से स्पष्ट है कि तुलसी ने धर्म शब्द का व्यवहार विशिष्ट सांप्रदायिक अर्थों में नहीं किया है । तुलसीदास द्वारा प्रतिपादित धर्म का संबंध मानवोचित कर्तव्यों और आचारों के प्रति गहरी आस्था से हैं । उन्होंने धर्म को उस में व्यापक अर्थों में ग्रहण किया है । उनकी दृष्टि में धर्म आचार संहिता के साथ ही जीवन दर्शन के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष का भी निर्देशक है । लौकिक एवं पारलौकिक जीवन के अभ्युदय में योग देनेवाले सभी विधि-विधान इसकी परिधि में आ जाते हैं । मानस में कहा गया है -
धर्म नीति उपदेसिअ ताही । कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ॥[2]

मानस में निरूपित धर्म का अर्थ आचार-संहिता में निरूपित कर्तव्य का पालन है । मानस का धर्म हृदय की आँखों से समाज को देखने की शिक्षा देता है । मानस के राम लौकिक और पारलौकिक सभी दृष्टियों से शील, विनय, सद्भाव, सहिष्णुता, उदारता, प्रेम आदि उदात्त वृत्तियों के सजीव रूप और साक्षात् अवतार हैं । राम की उपासना और मानवोचित गुणों का निर्वाह एक ही बात है । मानस में धर्म आत्म-विजय की भाव-भूमि पर ही भारतीय धर्मसाधना का विधान हुआ है । इसका संबंध केवल मानवोचित कर्तव्य के प्रति आस्था एवं निष्ठा से हैं । वह प्रत्येक व्यक्ति को गौरव प्रदान करनेवाला धर्म है ।

बैबिल में धर्म :-

बैबिल एक धर्मग्रंथ है । इसमें धर्म के सभी विशेषताएँ, तत्व

---

1. गोस्वामी तुलसीदास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 31.
2. मानस अयो 71:4

आदि चित्रित मिलता है । येशु की दृष्टि में धर्म का स्थान मनुष्य हृदय में है । धर्म करुणा और दया में व्यक्त होता है जो नियम से परे और उच्च हैं । उनकी दृष्टि में शुद्ध हृदय और प्रेममय जीवन ही धर्म है । बैबिल में यहूदी शास्त्रियों और फरीसियों को दृष्टि में कुछ बाहरी नियमों, उपनियमों और रीतियों को मानना धर्म था । जीवन के प्रति बाह्य विधिक मान्यता का पालन ही उनके लिए धर्म था । शास्त्रियों और फरीसियों की दृष्टि में अनुष्ठान {कर्मकाण्ड} और धर्मक्रियाओं का पालन मात्र धर्म और आराधना थी । यही शास्त्रियों और येशु के बीच टक्कर थी । ईसा ने फरीसियों तथा शास्त्रियों के धर्म की जडता को तोडकर मनुष्य के सच्चे मूल्यों की प्रतिष्ठा की है और ईश्वरीय मार्ग का निर्देश किया है ।

बैबिल साहित्य के विवेचन से स्पष्ट है कि धर्म और धार्मिकता शब्द विशिष्ट और व्यापक अर्थ में प्रतिपादित किये गये हैं । सुसमाचारों में धर्म शब्द का अर्थ ईश्वर की दृष्टि में नैतिक आचरण है । उदाहरण देखिए - "धन्य हो । जो धार्मिकता के भूखे और प्यासे हैं - वे तृप्त किये जायेंगे ।"[1] तुम सब से पहले ईश्वर के राज्य और उसकी धार्मिकता की खोज में लगे रहो, ये सब चीज़ें तुम्हें यों ही मिल जायेंगी ।"[2] शतपति ने यह सब देखकर ईश्वर की स्तुति करते हुए कहा -"निश्चय ही यह मनुष्य धर्मात्मा था ।"[3] दूसरा अर्थ है औचित्य और न्याय । पापमुक्ति धार्मिकता का नकारात्मक पहलू है । धर्म आध्यात्मिक नवजीवन है जो हमें ईश्वरीय स्वभाव का सहभागी बना देता है । धार्मिकता शान्ति के क्षेत्र में बोयी जाती है और शांति स्थापित करनेवाले उसका फल प्राप्त करते हैं ।"[4] बैबिल में धार्मिकता, शिष्टाचार, सदाचरण, नीति, व्यावहारिकता

---

1. बैबिल मात्यु 5:6
2. वही, 6:33
3. बैबिल लूक 23:47
4. बैबिल याको 3:18

आदि पर विशेष बल दिया गया है । ऐसा लगता है कि लोकाचरण, लोकज्ञान, तथा लोक-विवेक संबंधी प्रचलित सूक्तियों को बैबिल के लेखकों ने संकलित कर दिया है, जो संसार को समझने के लिए अन्तर्दृष्टि देती है और सफल जीवन-यापन का मार्ग बतलाती है । उन्हें जैसे ईश्वरीय प्रकाश मिल गया, वैसे-वैसे उनका दृष्टिकोण सांसारिक की अपेक्षा आध्यात्मिक होता गया और उन्होंने सांसारिकता के बदले ईश्वरीय प्रज्ञा का अवलम्ब लिया । इस प्रकार उन्होंने लोक-जीवन की बातों में भी धार्मिकता का समावेश किया । प्रज्ञा-ग्रंथों के लेखकों के लिए सिद्धांत की अपेक्षा व्यवहार का महत्व कहीं अधिक है । उनका कहना है कि सच्ची प्रज्ञा केवल ईश्वर प्रदत्त विधि निषेधों के गहन अध्ययन और धार्मिक शिक्षा-दीक्षा द्वारा उपलब्ध हो सकती है । इन लेखकों के मतानुसार सच्ची प्रज्ञा का उद्देश्य है । ईश्वर द्वारा अनुमोदित जीवन-यापन में लगना । धर्म या धार्मिकता मनुष्यों से ईश्वर की माँग है ।

धार्मिक पक्ष का वर्णन करते हुए संत पोल ने मनुष्यत्व के नये होने, मनुष्य के नई सृष्टि बनने पर ज़ोर दिया है । इस नई सृष्टि का चमत्कारिक कार्य यह है कि मनुष्य का आचरण बदल जाता है । बैबिल में यह भी कहा गया कि मनुष्य शरीर के अनुसार नहीं, वरन् पवित्र आत्मा से संचालित होता है । संत पोल के पत्रों में अनेक उच्च सिद्धांत तथा सलाह पाई जाती हैं जिनके द्वारा हम अ..ने आचरण को जाँच सकते हैं ।

अंग्रेज़ी शब्द थियॉलोजी (Theology) का अर्थ है "ईश्वर संबंधी विज्ञान" । ख्रिस्तीय साहित्य में इसकी परिभाषा इस प्रकार की जाती है "ईश्वर की ओर से प्रकाशित सत्यों का विज्ञान धर्म विज्ञान कहलाता है । उसके वर्ण विषय के अन्तर्गत ईश्वर की सत्ता एवं स्वरूप, उसकी रचना, मनुष्य की सृष्टि, मनुष्य के पाप में गिरने के पश्चात् येशु तक उद्धार की प्रक्रिया का प्रकाशन, येशु में उद्धार की योजना, कलीसिया के माध्यम से संसार के सब लोगों को उद्धार की

ाजना का सन्देश, दर्शन शास्त्र, नीतिशास्त्र आदि हैं । ईश्वर सच्चिदानन्द
वरूप ही नहीं पवित्र है । इसलिए मनुष्य को भी पवित्र बनना चाहिए । आदर्श
र्मी होना चाहिए । बैबिल में येशु मनुष्य रूप में ईश्वर है । मनुष्य में आत्मा
और जब आत्मा ईश्वर से नाता जोड़ लेती है, तभी वह धर्मी बनता है । यह
क्ति से संबंधित है । वह भक्ति विश्वास और कर्म पर आधारित है ।

मानस और बैबिल की दृष्टि में जीवन का श्रेष्ठतम मूल्य है धर्म ।
स शब्द का प्रयोग दोनों में अत्यन्त व्यापक अर्थ में हुआ है और इसका किसी भी
कार की सांप्रदायिकता से कोई संबंध नहीं है । इसके अन्तर्गत समस्त शुभ
वृत्तियाँ आती हैं । वे सब धर्म-भाव से अनुशासित हैं । भक्ति भी इसी के
न्तर्गत है । बैबिल के अनुसार मनुष्य के कर्तव्य, कर्तव्य के लिए नहीं, वरन् ईश्वर
प्रति कर्तव्य है । श्रेष्ठ धार्मिकता उस समय उत्पन्न होती है जब मनुष्य ईश्वर से
ाता जोड़ लेता है । ईश्वर की इच्छा की पूर्ति करना धर्म है । बैबिल की दृष्टि
धर्म का स्थान मनुष्य हृदय है । वह प्रेम मार्ग है । ईश्वर पवित्र है, प्रेम है
ह येशु में पूर्णतया पाते हैं । येशु का अनुकरण करना ही धर्म है । मानस में तुलसी
भी साधनों की अपेक्षा भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं । भक्ति पर
न देने से वह धर्म का सुधार अवश्य ही करना चाहते हैं । ईसा और तुलसी,
ोनों ज्ञानियों को ईश प्राप्ति के लिए असमर्थ कहते हैं । तुलसी द्वारा प्रस्तुत आदर्श
ास्य-भक्ति का है । ईसा भी अपने अनुयायियों को इस तरह की चेतावनी देते
कि "सभी आज्ञाओं का पालन करने के बाद तुम को कहना चाहिए, हम अयोग्य
वक भर हैं । हम ने अपने कर्तव्य मात्र पूरा किया हैं ।"[1]

प्रस्तुत अध्याय में धर्म के आध्यात्मिक क्षेत्र पर बल देते हुए मानस
वं बैबिल के दृष्टिकोण का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया है । मानस
था बैबिल दोनों, भक्ति ग्रंथ हैं । इसलिए इन दोनों ग्रंथों में आध्यात्मिक तत्वों

---

[1] बैबिल लूक 17:10

र कई उपदेश और उदाहरण अंकित मिलते हैं । ईश्वर का स्वरूप, भक्ति के क्षण, स्वरूप, प्रकार, भक्त के लक्षण, आध्यात्मिक विश्वास, सत्संग, पाप-पुण्य, वर्ग-नरक, पुनर्जन्म-पुनरुत्थान आदि से संबंधित कई उपदेश इन दोनों ग्रंथों में ाये जाते हैं । आगे उन्हीं पर विचार किया जायेगा ।

श्वर का स्वरूप :-

ईश्वर, प्रेम, सत्य, ज्योति, सच्चिदानन्द, परिपूर्ण, परम ान्ति, अनन्त ज्ञानी, निराकार, सर्वज्ञ, अगोचर, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, याल्, अजन्म, अनन्त, अनादि, निर्विकार, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, र्वान्मर्यामी, सर्वगुणसंपन्न, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता । "ईश ऐश्वर्य धातु से ईश्वर शब्द सिद्ध होता है जिसका अर्थ "सत्यार्थ प्रकाश" प्रथम समुल्लास में महर्षि ने कहा है - य ईष्टे सर्वैश्वर्यवान भवति स ईश्वर: जसका सत्य, विचार, शक्ति, ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्य है । इस से उस परमात्मा ा नाम ईश्वर है । ईश्वर ऐसी एक शक्ति है जो मनुष्य को कार्य करने की प्रेरणा ती रहती है ।

प्रपंच ईश्वर की सर्वज्ञता का प्रतीक है । पृथ्वी ईश्वर की र्वाधारता का प्रतीक है । जल उसकी पावनता और शुद्धता का व्यक्त रूप है । ज उसकी स्वयं प्रकाशिता का चिह्न है । वायु उसकी सर्वशक्तिमत्ता का साकार प है । आकाश उसकी व्यापकता का द्योतक है । ईश्वर मधुर पदार्थों में मनोहर धुरिमा है, वह सुन्दर वाणी की मिठास है, वह वैद्युति की शक्ति है, वह प्रकृति ा सौंदर्य है, वह सुश्राव्य संगीत की मधुर तान है, पुष्प की सुरभि है, मखमली, शमी या सूती वस्त्र के गदगदे आसन की कोमलता है, वह शरीर में प्राण और न्तकरण में चैतन्य है ।

ईश्वर के ही माध्यम से यह समूचा भौतिक विश्व संयुक्त ोकर सत्ता में आविर्भूत होता है । अपने स्थान पर कायम रहता है और

अनेक अंगों और विभागों की व्यवस्था और पारस्परिकता में आन्तरिक रूप तिमान रहता है । ईश्वर के ही द्वारा पृथ्वी अपनी वर्तमान अवस्था में, वों की आवास भूमि के रूप में विकसित हो गयी थी । उसी के द्वारा सारे जडी-बूटियाँ, फल आदि समृद्ध और संपूर्ण होते हैं और नवीन सृष्टि हो उठती

ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में मानस और बैबिल में कोई मतभेद है । दोनों में ईश्वर का अस्तित्व माना गया है । उसकी उपासना की है और उसकी ओर कई संकेत मिलते हैं । इन ग्रंथों में ईश्वर का स्वरूप, र का महत्व, ईश्वर की सक्रियता आदि के विस्तृत विवरण मिलते हैं ।

र आनन्द स्वरूप हैं :-

अनेक जगहों पर ईश्वर के स्वरूप के संबंध में बताते हुए चरितमानस का कहना है कि ईश्वर अनादि है, अरूप है, आनन्द स्वरूप है ।

अनीह अरूप अनामा ।
सच्चिदानन्द पर धामा ।।"[1]

सूर्य में आलोक, जल में शैत्य और अग्नि में ऊष्मा स्वभावसिद्ध है । उसी र ब्रह्म में आनन्द स्वरूपता स्वभाव सिद्ध है । उपनिषद् में "सत्यं ज्ञानमनन्तं तथा विज्ञानमानन्दंब्रह्म ।"[2] आदि ब्रह्म के स्वरूप प्रतिपादक लक्षण है । का अर्थ है जो सदैव से हैं, और सदैव रहेगा, वह अनिवाशी है, तीनों कालों हनेवाला है । चित् का अर्थ है चैतन्यस्वरूप अर्थात् सब का प्रेरक, सुख, दुःख, ा, द्वेष इत्यादि सब द्वन्द्वों से परे । वह सत्यासत्य का परम विवेचक है लए उसे चित् नाम से विद्वान लोग पुकारते हैं । जो सब जीवों को आनन्द करता है, इस से ईश्वर का नाम आनन्द है ।

मानस बाल 12:2

बृहदारण्यक उप: 9:28:7

तुलसी ईश्वर को आनन्द हूँ के आनन्ददाता कहते हैं क्योंकि
ा आनन्द सिन्धु के डाक सीकर से ही त्रैलोक्य तृप्त हो जाता है -
आनन्द सिंधु सुखरासी । सीकरते त्रैलोक सुपासी ।[1]
म सच्चिदानन्द स्वरूप है -
म सच्चिदानन्द दिनेसा ।[2]
दानन्द, परमानन्द आदि शब्दों द्वारा तुलसी ने ब्रह्म की आनन्द स्वरूपता की
अभिव्यक्ति की है ।[3]

बैबिल में भी ईश्वर को आनन्द स्वरूप चित्रित किया गया है ।
ल कहता है - धर्मियो । प्रभु में आनन्द मनाओ ।"[4] येशु ने अपने शिष्यों
कहा -"तुम मेरे आनन्द के भागी बनो और तुम्हारा आनन्द परिपूर्ण हो ।"[5]
तक मैं संसार में हूँ, यह सब कह रहा हूँ, जिस से उन्हें मेरा आनन्द पूर्ण रूप
प्राप्त हो जाये ।"[6] रोमियों के नाम पत्र में सेंट पोल ने लिखा है कि ईश्वर
राज्य खाने-पीने का नहीं, बल्कि वह न्याय, शान्ति और पवित्र आत्मा
रा आनन्द का विषय है ।"[7] फिलिपि के नाम पत्र में कहा है कि "प्रभु में सदा
नन्दित रहो ।"[8] ईश्वर के यशोगान संबंधी इन स्तोत्रों की रचना उपासना के

मानस बाल 196:3
वही, 115:3
व्यापक ब्रह्मु अलखु अबिनासी । चिदानन्द निरगुन गुन रासी ।
मानस बाल 340:3
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना । परमानन्द परेस पुराना । मानस:बाल: 115:4
बैबिल स्तोत्र 33:1
जोन 15:11
वही, 17:13
बैबिल रोमि 14:17
बैबिल फिलि 4:4

ाय गाये जाने के लिए की गयी थी । आनन्द ईश्वर का मुख्य चिह्न है । ा पीटर अपनी पत्री में इस अक्षय और विजयी आनन्द का वर्णन करता है । ाब तो तुम उस पर बिना देखे भी विश्वास करके ऐसे आनन्दित और मग्न होते । जो वर्णन से बाहर और महिमा से भरा हुआ है ।"[1] संत पोल कहता है ि प्रभु आनन्द स्वरूप है ।[2] प्रभु ईश्वरानन्द में भूतकाल और भविष्य की ओर ाते हैं । इस दुःखपूर्ण जगत् में बैबिल ने बड़े आनन्द के समाचार का सन्देश दिया । लोगों को इस बात का ज्ञान चाहिए कि वे इस आनन्द में भाग लें । एकमात्र ्वर दर्शन से ही जन्म-मरण के संसार चक्र का और तज्जन्य जनन, जरा, व्याधि, ख, शोक, मृत्यु आदि दुःखों का अन्त संभव है । ईश्वर में ही परमानन्द प्राप्त सकता है । इसलिए ऋषि-मुनि, सन्तजन, शास्त्र और श्रुतियाँ ईश्वर साक्षात्कार ज़ोर देती है । उनकी मुख-छवि का दर्शन करना है ।

ुण और निर्गुण ईश्वर :-

मानस के अनुसार ईश्वर के अगुण और सगुण रूप है जो अकथ, ाध,अनादि और अनूप है । उन में निर्गुण ईश्वर एक व्यापक, अविनाशी, न्तर्यामी और सच्चिदानन्द है । यही निर्गुण ईश्वर भक्तों के हित के लिए देह रण करके सगुण हो जाता है । तुलसी ने राम को निर्गुण ब्रह्म का सगुण रूप नकर विभिन्न प्रसंगों में अभेद का निरूपण किया है । तुलसीदास कहते हैं -

ुनहि सगुनहि नहिं कछु भेदा ।
वहि मुनि पुराण बुध वेदा ।।"[3]
ुण सगुन दुई ब्रह्म स्वरूपा । अकथ अगाध अनादि अनूपा ।[4]

बैबिल में भी ईश्वर के अगुण और सगुण का उल्लेख मिलता है ।

बैबिल । पीट 8-9
बैबिल फिलि 4:4
मानस बाल 115:1
वही, 22:1

निराकार ईश्वर का सगुण रूप है येशु । वह अनश्वर, अविनाशी, अमर, अविकारी, अन्तर्यामी, अपरिवर्तनशील, शाश्वत, पूर्ण, पवित्र, सर्वज्ञ और सर्वव्यापी है । एब्रायर के नाम पत्र में कहा गया है कि "ईसा मसीह एकरूप रहते हैं, कल, आज और अनन्त काल तक ।"[1] प्रकाशना ग्रंथ में कहा गया है - आल्फा और ओमेगा आदि और अन्त मैं हूँ ।"[2] ईश्वर सर्वशक्तिमान और अनादि है । जिसका कोई आदि न हो उसे अनादि कहते हैं । ईश्वर का न आदि है और न अन्त । मानस के बालकाण्ड में कहा गया कि -

आदि अन्त कोउ जासु न पावा ।[3]

वे सदैवेश्वर कहा है । ईश्वर में कोई परिवर्तन नहीं है । "सभी उत्तम दान और सभी पूर्ण वरदान ऊपर के हैं और नक्षत्रों के उस सृष्टिकर्ता के यहाँ से उतरते हैं, जिस में न तो कोई परिवर्तन है न परिक्रमा के कारण कोई अन्धकार ।"[4] येशु विगत कल और आज भी वही स्वयं है और सदा ही रहेंगे । स्वर्ग में और पृथ्वी पर शुद्ध नित्य वर्तमान है । उनकी प्रकृति, विशिष्ट गुण सर्वकाल ही रहते हैं । ईश्वर पवित्र हैं, सर्वज्ञ हैं । ईश्वर हमारे अन्तकरण से बडा है और वह सब कुछ जानता है । कितना अगाध है ईश्वर का वैभव प्रज्ञा और ज्ञान ।"[5] कोई भी प्राणी ईश्वर की अकथनीय पवित्रता तक नहीं पहुँच सकता है, लेकिन ईश्वर सभी प्राणियों तक पहुँचते हैं । उनका स्पर्श करते हैं, उनकी थाह लेते हैं, उन पर अधिकार करते हैं ।

ईश्वर सर्वान्तर्यामी है :-

ईश्वर सब प्राणि और अप्राणिरूप जगत् के अन्दर व्याप्त होकर

---

1. बैबिल एब्रा 13:8
2. बैबिल प्रकाश 21:6
3. मानस बाल: 118
4. बैबिल । याको 1:17
5. बैबिल रोम 11:33

सब का नियमन करता है । परम पिता परमात्मा समस्त संसार में व्याप्त होकर सब को अपने नियंत्रण में रखते हैं । अत: उन्हें सर्वान्तर्यामी कहा जाता है । लोक भाषा में घट-घट व्यापक अन्तर्यामी अनेक कवियों द्वारा सुनायाजाता है । वेद, मानस, बैबिल का आदेश भी ऐसे रूपवाले प्रभु का ही मानना है । मनुष्य के मन जो अति सूक्ष्म, सुकोमल, और भंगुर भाव उनकी दृष्टि में सर्वथा ओझल रह जाते हैं । शाश्वत, निगूढ ईश्वर अन्तरीक्ष की गहराइयों में लीन रहते हैं । ईश्वर इस विश्व का अगोचर स्वामी है । वह स्वयं सब पदार्थों के पीछे छिपा हुआ है । वह इन सब के अन्दर है । वह इस विश्व का अन्तर्वासी है, अन्तरात्मा है, अन्तस्तत्वया अन्तसार है । वही ज्ञान है और वही सर्व सृष्टा है ।
श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है -
एको देव: सर्व भूतेषु गूढ: सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा
कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास: साक्षी चेता: केवलो निर्गुणश्च ।
अर्थात् सर्वभूतों में छिपे हुए वे एक देव है परमात्मा, सब में व्यापक, सब जीवों के वे अन्तर्यामी आत्मा, कर्मों के अधिपति, फलदाता, सब के ही आश्रय, आवास साक्ष है, केवल निर्गुण है - चैतन्य प्रकाश । बैबिल में कहा गया कि प्रभु की आत्मा संसार में व्याप्त है ।[1]

जिस प्रकार तिल में तेल है, दूध में घी है, सागर में लहर हैं, मस्तिष्क में मन है, मेघों के पीछे सूर्य है, लकडी में आग है, जल में चीनी या नमक है, पुष्प में सुगन्धि है, ग्रामफोन के रिकार्ड में ध्वनि है, रक्त में श्वेतकण है, उसी प्रकार इन सब प्राणियों और पदार्थों में ईश्वर निहित है । ईशावास्योपनिषद् का प्रथम मन्त्र यही है -
ईशावस्यमिदं सर्वम् - इन सब चराचर पदार्थों में ईश्वर का आवास है । कठोपनि में लिखा है - एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते - परमात्मा संपूर्ण भूतों में छिपा

---

1. बैबिल प्रज्ञा 1:7

हुआ है । श्रुति से सिद्ध है कि आकाश के समान विभु होने के कारण ईश्वर इस नाम-रूप तथा क्रियात्मक संपूर्ण जगत् के बाहर तथा सूक्ष्म रूप होने से सब के भीतर भी है ।

ईश्वर सर्वव्यापी हैं :-

जो सब स्थानों पर तथा सब पदार्थों में ओतप्रोत हो उसे सर्वव्यापक कहते हैं । मानस के उत्तरकाण्ड में देखिए -

व्यापक व्याप्य अखंड अनंता । अखिल अमोघ शक्ति भगवंता ।[1]

सुन्दरकाण्ड में कहा गया है कि

व्यापक अजित अनादि अनंता ।[2]

फिर बालकाण्ड में लिखा है कि

व्यापक अकलअनीह अज निर्गुण नाम न रूप ।[3]

तुलसी के राम भी अपनी माया शक्ति सीता सहित संपूर्ण जगत में व्याप्त है । इसी भाव में तुलसी पूर्ण आस्थावान है और कहते हैं -

सीय राम मय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ।[4]

बैबिल के प्रज्ञा ग्रंथ में कहा गया कि प्रभु की आत्मा संसार में व्याप्त है ।[5]

ईश्वर के स्वरूप की असीमता का आभास अखिल विश्वस्थिति में मिलता है ।

---

1. मानस उत्त 71:22
2. मानस सुन्द 29
3. मानस बाल 205
4. वही, 8:2
5. बैबिल प्रज्ञा 1:7

ईश्वर सृष्टिकर्ता हैं :-

मनुष्य की धारणा के अनुसार ईश्वर सृष्टिकर्ता, सर्वशक्तिमान और अद्वितीय अगोचर शक्ति है । उसने कई रूपों में ईश्वर को देखा और प्रकृति में भी ईश्वरीय चेतना की कल्पना की । मानस और बैबिल में मानव की इस धारणा का सहज प्रतिफलन देखा जा सकता है । तुलसी के अनुसार यह संसार भी ईश्वराधीन है - व्यापक विश्वरूप भगवाना । तेहि धरि देह चरित कृत नाना ।[1] बैबिल के प्रेरित चरित ग्रंथ से यह सिद्ध है कि "प्रभु ने स्वर्ग और पृथ्वी बनायी, समुद्र भी, और कुछ उन में है ।"[2] रोमियो के नाम पत्र में लिखा है कि "ईश्वर सब कुछ का मूल कारण, प्रेरणा स्रोत तथा लक्ष्य है, उसी को अनन्त काल तक महिमा । आमेन ।"[3] ईसा-मसीह मुक्ति विधान का वह रहस्यपूर्ण रूप है, जिसे समस्त विश्व के सृष्टिकर्ता ने अब तक गुप्त रखा था ।"[4] उत्पत्ति ग्रंथ में प्रथम वचन है प्रारंभ में ईश्वर ने स्वर्ग और पृथ्वी की सृष्टि की ।"[5] ईश्वर निखिल सृष्टि का प्राण है, सर्व स्रष्टा हैं । सर्वत्र उनका अस्तित्व है । सृष्टि के कण-कण में उस चैतन्य का आविर्भाव है । सारा संयोजन चैतन्यमय विधाता की कृति है । वेद भी इस विचार का समर्थन करते हैं । वह पूरे बल के साथ घोषित करते हैं कि सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, आकाश, मनुष्य आदि सब कुछ ईश्वर निर्मित है । ईश्वर सभी जीवों पर स्वच्छन्द अधिकार प्रकट करता है और बड़ा सर्वज्ञ भी है । ईश्वर को ज्ञान लेने पर यह संसार संबंध भ्रम स्वप्न की तरह समाप्त हो जाता है । इस संसार का निर्माता ईश्वर् हैं । वही ईश्वर इस संसार का सृजन रक्षण भी करता है और जगत के सब प्राणियों से प्रेम करता है । ईश्वर भले और बुरे दोनों को सूर्योदय से प्रकाशित करता है, और धर्मियों और अधर्मियों दोनों पर मेघ बरसता है ।

---

1. मानस बाल: 12:2
2. बैबिल प्रेरित 4:24
3. रोमि 11:36
4. एफे 3:9
5. उत्पत्ति 1:1
6. मात्यू 5:45

वह पक्षियों को खिलाता है और मैदान की घास को..... वस्त्र पहनाता है ।[1] प्रेरितों के काम नामक पुस्तक में संत पोल कहता है हम उसी में जीवित रहते, और चलते-फिरते और स्थिर रहते हैं । ईसा ने ईश्वर को पिता कहने से संसार के प्रति पिता तुल्य प्रेम पर बल दिया और यह संकेत किया कि प्रेम के कारण ईश्वर ने जगत की सृष्टि की और उसका पालन करता है । सुप्रसिद्ध नबी इसया के ग्रंथ में ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानते हुए कहते हैं " मैं ने ही तो उन आत्माओं की सृष्टि की है ।"[2] प्रकाशना ग्रंथ में कहा गया है हमारे प्रभु ईश्वर तू महिमा, सम्मान और सामर्थ्य का अधिकारी है । क्योंकि तू ने विश्व की सृष्टि की । तेरी ही इच्छा से वह अस्तित्व में आया और उसकी सृष्टि हुई ।"[3] बैबिल और मानस में ईश्वर की परम सत्ता और अधिकार के संबंध में कोई सन्देह नहीं है । वह सब कुछ जो ईश्वर के अनुरूप है, अच्छा है । कोरिंथियों के नाम पत्र में लिखा है कि सब वस्तुएँ ईश्वर से मिलता हैं ।"[4] ईश्वर में सारी वस्तुओं की सृष्टि हुई, स्वर्ग की हो अथवा पृथ्वी की देखी हो या अनदेखी, क्या सिंहासन, क्या प्रभुताएँ, क्या प्रधानताएँ, क्या अधिकार, सारी वस्तुएँ उसी के द्वारा और उसी के लिए सृजी गई हैं ।

सृष्टि ईश्वर की रचना है । ईश्वर के अदृश्य गुण अर्थात् उसका सनातन सामर्थ्य और ईश्वरत्व, सृष्टि के आरंभ से ही उनकी रचना से स्पष्ट है । वह समस्त विश्व को संभालनेवाला तथा उसका संपोषक भी है । ईश्वर विश्व की सृष्टि कर उसे भूल नहीं बैठा वरन् उसके कल्याण के लिए क्रियाशील रहता है । रोमियों के नाम पत्र के पाँचवाँ अध्याय में मनुष्यों को ईश्वर के अनुग्रह पूर्ण वरदान का वर्णन है । पोल के पात्रों में इस तथ्य के अन्य बहुत उदाहरण है कि उनके विचार और उनके अनुभव से सृष्टिकर्ता ईश्वर मनुष्यों के शारीरिक तथा आत्मिक कल्याण

---

1. बैबिल मात्यु 6:16
2. इसया 57:16
3. प्रकाश 4:11
4. I कोरि 11:3

के लिए सब कुछ प्रदान करता है । ईश्वर सर्वशक्तिमान है, अतः विश्वासी मनुष्य को समस्त विश्व में किसी से डरने की आवश्यकता नहीं है । रोमियो के नाम पत्र में बताया गया है कि सब ही मानव अधिकारियों का अधिकार ईश्वर की ओर से मिलता है । अतः ईश्वर का उन सब पर अधिकार है ।

ईश्वर प्रकाश स्वरूप हैं :-

ईश्वर स्वयं ज्योति है । ईश्वर ने मनुष्यों के बीच उजाला फैलाया उस से अन्धकार जाता रहा । अतः ईश्वर वह ज्योति है जो जीवन को अव्यवस्था से बचा सकता है । मानस और बैबिल दोनों एक साथ इसका समर्थन करते हैं । मानस में तुलसी ने ईश्वर को परम प्रकाशक अन्तर्यामी माना है -

"जगत प्रकास्य प्रकासक रामू
मायाधीन ग्यान गुन धामू ।"[1]

तुलसी मानस के बालकाण्ड में शंकर पार्वती से राम के स्वरूप को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं - "सब कर परम प्रकाशक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ।"[2]
राम समस्त जगत् को प्रकाशित करनेवाले हैं । ब्रह्म स्वयं प्रकाशित होनेवाला और स्वयं सिद्ध है । जगत् प्रकाश्य है और राम प्रकाश रूप हैं -
सहज प्रकाश रूप भगवाना ।[3]

बैबिल में ईश्वर के अवर्णनीय सौन्दर्य एवं महिमा का प्रतीक है ज्योति । तिमथी के नाम पहला पत्र में ईश्वर रूपी ज्योति के संबंध में ऐसी घोषणा की कि जो अमरता का एकमात्र स्रोत है, जो अगम्य ज्योति में निवास

---

1. मानस बाल 116:3
2. वही, 116:4
3. वही, 115:3

करता है, जिसे न तो किसी मनुष्य ने कभी देखा है और न कोई देख सकता है । उसे सम्मान तथा अनन्तकाल तक बना रहनेवाला सामर्थ्य । आमेन ।"[1] ईश्वर ज्योति आध्यात्मिक ज्ञान, जीवन, सुख, शान्ति और आनन्द का प्रतीक है । बैबिल में कहा गया है "प्रभु ! तू ही मेरा दीपक है जैसे दीप अन्धेरी रात में चमकता है, उसी प्रकार मनुष्य ईश्वर की चमक पा सकता है । "ज्योति में विश्वास करो । जिस से तुम ज्योति की सन्तति बन जाओ ।"[2] ईसा संसार की ज्योति है, दो बार येशु स्वयं को जगत् की ज्योति कहते हैं "मैं जगत् की ज्योति होकर आया हूँ । संसार की ज्योति मैं हूँ ।"[3] येशु संसार में ज्योति लाया । उत्पत्ति ग्रंथ में कहा गया कि ईश्वर ने कहा "उजियाला हो, तो उजियाला हो गया ।"[4] जो ज्योति येशु लाता है उस से अन्धकार दूर होता है । येशु ने कहा "तुम संसार की ज्योति हो ।" प्रकाश- भलाई और बुराई को उजागर करने में सक्षम होता है । ज्योति को ग्रहण करने में वही समर्थ होता है जो सत्य का वरण कर सकता है ।

ईश्वर प्रेम स्वरूप हैं :-

ईश्वर प्रेम है, प्रेमस्वरूप है । ईश्वर के व्यक्तित्व का प्रमुख तत्व प्रेम है । ईश्वर प्रेम करूणार्द्र स्नेह है, वह क्षमाशील स्नेह है, पवित्र है । वह आकाश की तरह अनन्त विशाल है, सागर समान अगाध गहराई है । ईश्वर का प्रेम बहुत व्यापक है । वह प्रेम सहनशील और दयालू है । मनुष्यों के प्रति ईश्वर का मूल स्वभाव प्रेम है अर्थात् ईश्वर मनुष्यों की भलाई और कल्याण चाहता है । ईश्वर का प्रेम उदार है ।

प्रेम सब से महान है । ईश्वर ने सारे जगत् से प्रेम किया ।

---

1. बैबिल तिम 6:16
2. जोन 12:36
3. जोन 8:12
4. उत्पत्ति 1:8

मानस और बैबिल इसका समर्थन करता है । लोक कल्याण एवं साधना मानस का मूल मंत्र है । प्रेम से वे प्रकट हो जाते हैं -

"अग जगमय सब रहित बिरागी । प्रेम तो प्रभु प्रगटई जिमि आगी ।"[1]

ईश्वर सर्व चराचर में व्याप्त होते हुए भी सब से विरक्त होता है जैसे अग्नि । तुलसी के अनुसार श्रीरामजी के चरणों में अत्यन्त प्रेम है -

"रघुपति चरन प्रीति अति जा ही ।"[2]

जिसका रघुनाथजी के चरणों में अत्यन्त प्रेम है, उसको कालधर्म नहीं व्यापते -

काल धर्म नहि व्यापहि ताही । रघुपति चरन प्रीति अति जाही ।"[3]

बैबिल में ईश्वर प्रेम है । प्रेम ईश्वर से उत्पन्न होता है । "प्रिय भाइयो ! हम एक दूसरे को प्यार करें, क्योंकि प्रेम ईश्वर से उत्पन्न होता है ।"[4] जो प्यार करता है, वह ईश्वर की सन्तान है और ईश्वर को जानता है । जो प्यार नहीं करता, वह ईश्वर को नहीं जानता, क्योंकि ईश्वर प्रेम है । ईश्वर हम को प्यार करता है । "ईश्वर ने संसार को इतना प्यार किया कि उसने उसके लिए अपने इकलौते पुत्र को अर्पित कर दिया ।"[5] येशु का प्रेम ईश्वर प्रेम का साकार रूप है । पापियों के लिए येशु के हृदय में अनन्त अगाध प्रेम था, अनन्त प्रेम स्वरूप न होते तो क्या यहाँ कैदी होकर, तिरस्कार, अगौरव और अपमान झेलकर एक घडी भी ठहर सकते थे ? ईश्वर इतनी गहराई और ऊँचाई तक प्रेममय है, जो मेरी हर पहुँच और मेरे हर माप से परे हैं । येशु ने प्रेम के कारण स्वेच्छा से अपने प्राण मनुष्यों के लिए दिए । क्रूस पर उसने प्राण दिये और सब के लिए क्षमा प्रार्थना की । "हे पिता, उन्हें क्षमा कर, क्योंकि

---

1. मानस बाल 184:4
2. वही
3. मानस उत्तर: 10:34
4. बैबिल । जोन 4:7
5. बैबिल जोन 3:16

ये नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं ।"[1] ईश्वर प्रेम है और प्रेम में बना रहता है । वह ईश्वर में और ईश्वर उसमें निवास करता है । इसया की पुस्तक में लिखा है कि मैं तुम्हें प्यार करता हूँ ।" ईश्वर की दृष्टि में हर एक मनुष्य मूल्यवान् है । बैबिल में दो बडी आज्ञाएँ हैं । पहली बडी आज्ञा है कि "तू अपने ईश्वर को अपने संपूर्ण मन, संपूर्ण जीवन और संपूर्ण बुद्धि से प्रेम कर । इसी के समान दूसरी यह है कि अपने पडोसी को अपने समान प्रेम करें ।"[2] ईश्वर का प्रेम ईसा में प्रकट हुआ है । वह सबों को मुक्ति प्रदान करता है और उन्हें शान्ति प्रदान करता है । यही प्रेम का महत्व है ।

ईश्वर दयालु और करूणासागर है :-

ईश्वर परम दयालु पिता एवं पूर्ण शान्ति के दाता है, जो कष्टों में मनुष्य को शान्ति देता है । मानस कहता है -

"अति कृपालु रघुनायक सदा दीन पर नेह ।"[3]

राम दीन दयालु है -

"जेहि उपाय पुनि पाय जनु देखे दीनदयाल ।
सो सिख देइअ अवधि लगि कोसलपाल कृपाल ॥"[4]

बैबिल में भी ईश्वर की करूणा, दया, आदि का विशेष रूप से उल्लेख मिलता है । ईश्वर करूणामय, दयालु, अत्यन्त सहनशील और स्नेह संपन्न है ।"[5] सब के सुखी होने तथा दुःखों से छूटने की आन्तरिक इच्छा तथा क्रिया दया है । ईश्वर न्याय तथा दया से एक ही प्रयोजन की सिद्धि मानते हैं और वह है सब को दुःख से छुडाकर सुखी करना । पोल के पत्रों में ईश्वर की दया,

---

1. बैबिल लूक 23:34
2. बैबिल मात्यु 22:37-39
3. मानस अर दो:1:1
4. मानस अयो 313

या करुणा की स्मृति है । कुरिन्थियों के नाम पत्र में उन्होंने लिखा है कि ईश्वर दीन-हीन लोगों को सान्त्वना देनेवाला है । ईश्वर की दया की कुछ अन्य सूक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं । हमारे ईश्वर की प्रेमपूर्ण दया से हमें स्वर्ग से प्रकाश प्राप्त हुआ है ।"[1] ईश्वरीय दया के दृष्टांत भटकी हुई भेड़, दाखबारी के मज़दूर, खोया हुआ सिक्का, खोया हुआ लड़का आदि में स्पष्ट रूप में वर्णन किया गया है । मरियम के भजन में ईश्वर की चिरस्थायी दया का स्मरण मिलता है । ईश्वर की दया सभी मनुष्यों की मुक्ति के लिए प्रकट है ।[2]

ईश्वर सत्यस्वरूप है :-

ईश्वर सत्य है । ईश्वर सत्यवादी है, सत्य प्रतिज्ञ है । मानस में राम सत्यवादी हैं -"सुन मम वचन सत्य अब भाई ।"[3] लेकिन लोग सत्यवचन पर विश्वास नहीं करते - "सत्य वचन विश्वास न करही ।"[4]

बैबिल में येशु सत्य का सकार रूप है । कोरिन्थियों के नाम पत्र में बताया गया कि "ईश्वर सत्य प्रतिज्ञ हैं ।"[5] तिमथी के पत्र में ऐसा लिखा है "यदि हम मुकर जायेंगे, तो भी वह सत्यप्रतिज्ञ बना रहता है क्योंकि वह अपने स्वभाव के विरुद्ध नहीं जा सकता ।"[6] वह इन दो अपरिवर्तनीय कार्यों अर्थात् प्रतिज्ञा [illegible] शपथ में, झूठा प्रमाणित नहीं हो सकता ।"[7]

---

1. बैबिल लूक 1:78
2. [illegible]तु 2:11
3. मानस उत्त 108:6
4. वही, 111:7
5. बैबिल कोरि 1:9
6. तिम 2:13
7. एब्रा 6:18

ईश्वर एक है :-

मानस और बैबिल के अनुसार ईश्वर एक है । मानस में ईश्वर सृजन, पालन और संहारशक्ति से संपन्न है । वह ब्रह्म, विष्णु, और महेश रूप है, वही राम है ।

ईसाई एकेश्वरवादी हैं । किन्तु वे ईश्वर को त्रियेक मानते हैं ।[1] बैबिल में इसका संकेत मिलता है । ईसा ने इस रहस्य का उद्‌घाटन किया है । एक ही ईश्वर में तीन व्यक्ति है पिता, पुत्र और पवित्रात्मा । ये तीनों समान रूप से अनादि, अनन्त और सर्वशक्तिमान हैं क्योंकि वे तत्वतः एक हैं ।

ईश्वर भक्ति :-

ईश्वर प्रेम स्वरूप हैं । निस्संदेह भक्ति भी प्रेमस्वरूपा है -
"सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा ।"[2]
भक्ति ईश्वर के प्रति पूर्ण प्रेम का नाम है । व्यक्ति का संपूर्ण समर्पण ही भक्ति है । भक्ति शब्द की सिद्धि 'भज्' सेवायाम् धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर की जाती है, जिसका अर्थ है भगवान् का सेवा-प्रकार, अर्थात् श्रद्धा पूर्वक ईश्वर का भजन करना । ईश्वर के प्रति गहरी श्रद्धा और परम आसक्ति का नाम भक्ति है । भक्ति ईश्वर के चरण-कमलों से भक्तों के हृदय को बाँधनेवाली सूक्ष्म-प्रेम-रज्जु है । वह प्रियतम के प्रति सहज उमडनेवाली प्रेम-भावना है । वह शुद्ध, निस्वार्थ दिव्य प्रेम या **शुद्ध प्रेम है** । उसमें लेशमात्र भी कामना या प्रतिफल की भावना नहीं है । उस ईश्वरानुभव का शब्दों में वर्णन करना संभव नहीं है । भक्ति उत्कृष्ट, भावनापूर्ण, पवित्र, उच्चतर तरंग है जो भक्त को ईश्वर से मिलाती है ।

---

1. बैबिल जोन 14, 16-17 25-26, प्रेरित 2:33 कोरि :13:13, पीटर 1:2
2. नारद भक्तिसूत्र सं : 2

ईश्वर की आज्ञा पर क्रियात्मक रूप में आचरण करना, प्रभु का
म स्मरण करना, उनका धन्यवाद करना, उनकी स्तुति करना, उनके गुणगान
ना, उपासना करना और उन से प्रार्थना करना यह सब भक्ति है । महर्षि
ण्डिल्य ने पराभक्ति का अर्थ बताया है -"सा परानुरक्तिः ईश्वरे"[1] अर्थात्
वर विषयक परानुरक्ति ही भक्ति है । महर्षि नारद ने भक्ति को कर्म, ज्ञान
र योग तीनों में श्रेष्ठ माना है । अपने समस्त कर्मों को ईश्वर के प्रति समर्पित
ना, प्रत्येक काम करने के लिए उससे उपदेश पूछना और उनका थोडा सा भी
स्मरण होने पर परम व्याकुल होना ही भक्ति है । भक्ति एक ऐसी भावना है
स में प्रेम और श्रद्धा का सहज सम्मिश्रण होता है । महर्षि व्यास की दृष्टि में
न और भक्ति का विलोम विलीन हो गया । भक्ति के विभिन्न संप्रदायों ने
वर के प्रति अनन्य प्रेम और संसार से सहज वैराग्य को भक्ति-साधना का मूल
र घोषित किया है । भक्ति का एक बडा लाभ यह है कि वह ईश्वर प्राप्ति
सब से सरल और स्वाभाविक मार्ग है । ज्ञानी की दृष्टि में भक्ति मुक्ति का
साधन मात्र है, पर भक्त के लिए साधन भी है और साध्य भी ।

सच्चे और निष्कपट भाव से ईश्वर की खोज को भक्तियोग
ते हैं । इस खोज का आरंभ, मध्य और अन्त प्रेम से होता है । ईश्वर के प्रति
न्मत्तता का एक क्षण भी हमारे लिए शाश्वत भक्ति देनेवाला होता है ।
क्त का स्थान मानव हृदय है - वही श्रद्धा और प्रेम के सहयोग से उसका प्रादुर्भाव
ता है । भक्ति का आरंभ साधारण पूजन से होकर उसकी पूर्ति ईश्वर में
न्त गंभीर प्रेम से होती है, इसकी प्राप्ति में पवित्र भोजन, जितेन्द्रियता, पूजन,
न, दान, दया, अहिंसा, सत्य, नैतिकता आदि सहायक सिद्ध होते हैं ।

धर्म की आनन्दात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है । भक्तों का
न करके पुनः भक्ति के भेद करें तो वह भागवत के अनुसार इस प्रकार कही जा

शाण्डिल्य भक्ति सूत्र 1,1,1

सकती हैं -
श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।"[1]

प्रेम भक्ति का बीज-मंत्र है । प्रेम में अनन्यता की आवश्यकता रहती है । मानस में तुलसी के व्यक्तित्व का भक्त रूप सर्वाधिक मुखरित है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उन्हें अपने समय का सब से बड़ा भक्त और धर्मात्मा मानते हैं ।"[2] तुलसी का भक्त व्यक्तित्व उनके राम के प्रति समर्पित है । वे अपने समस्त कार्यों को राम के प्रति अर्पित कर देते हैं, इसलिए पापों में समृद्ध, कुत्सित, दरिद्र और भिखारी तुलसी को राम ने अपने स्पर्श मात्र से पवित्र कर दिया है -
"घर घर माँगे टूक पुनि, भूपति पूजे पाय ।
जे तुलसी तब राम बिनु ते अब राम सहाय ।"[3]
तुलसी अनन्य भाव के भक्त हैं । आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "अत्यन्त विनम्र भाव, सच्ची अनुभूति के साथ अपने आराध्य पर अटूट विश्वास उनके व्यक्तित्व के प्रधान तत्व है ।"[4] उनके भक्ति में आत्मकल्याण के साथ लोक-कल्याण भी निहित है । वे सरल चित्त और जगतहितकारी भक्त हैं । तुलसी ने अपने काव्य को राम-नाम एवं भक्ति से जोड दिया ।"[5]

---

1. भागवत पुराण, सप्तम स्कन्ध, 29 अध्याय, श्लोक 7:14
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 128
3. दोहावली, दो: 109
4. हिन्दी साहित्य, पृ. 226.
5. एहि महँ रघुपति नाम उदारा । अति पावन पुरान स्रुति सारा ।
मंगल भवन अमंगल हारी । उमा सहित जेहि जपत पुरारी ।
भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ । राम नाम बिनु सोह न सोऊ ।
मानस, 1, 9, 1-2

मानस में तुलसी की भक्ति समाज को भक्ति आदर्श आचरण का उपदेश एवं सन्देश देती है । वह भक्ति उसे सतत कर्मयोगी एवं तन-मन-वचन से लोकमंगल साधना के निमित्त निरंतर जागरूक रहने की प्रबल प्रेरणा प्रदान करती है । उनकी भक्मि में सांसारिक समस्त मर्यादाओं के लिए आदर्श आचरण है ।

भक्ति व्यक्ति का मानसिक परिष्कार है और मानसिक रूप से परिष्कृत व्यक्ति ही समाज को उन्नति की ओर अग्रसर करता है । भक्ति के लिए भगवान की कृपा परम आवश्यक है । भक्ति के लिए कामादि दोष रहित होना भी परमावश्यक है । इस तरह भक्त के सदाचार और सच्चरित्र पर भी तुलसी बल देते हैं । इसी काम, क्रोधादि रहित निर्मल भक्ति की तुलसी याचना करते हैं ।[1] जहाँ भक्ति और ज्ञान में प्रमुखता का प्रश्न खड़ा होता है, वहाँ तुलसी भक्ति को ज्ञान से बड़ा मानते हैं । मानस के उत्तर काण्ड में ज्ञान-दीपक से भक्ति-चिन्तामणि को बढ़कर बताते हैं । मानस के बालकाण्ड में जनक ज्ञान भक्ति के साथ ही ईश्वर के दर्शन भी कर पाये हैं ।

निर्गुण उपासना ज्ञानमय और सगुण उपासना प्रेममय है । तुलसी सगुण उपासक है । उनके जीवन में ईश्वर प्रेम प्रधान है । भरत के माध्यम से तुलसी के जीवन-दर्शन का पता चल जाता है । शरीर से दूर रहकर भी मन से भरत राम के पास रहे । तुलसी इस माध्यम से यह बताना चाहते हैं कि राम भक्ति राम के परोक्ष में भी हो सकती है । भक्त को मन से अपने ईश्वर का होकर रहना चाहिए । भरत अयोध्या में कर्म करते रहे । किन्तु वे मन से राममय थे । अयोध्या भरत के लिए राममय थी । इसलिए वे अयोध्या की सेवा में रत थे । अयोध्या का सारा समाज भरत के लिए सेव्य और प्रणम्य था । तुलसी के लिए

---

1. नान्यास्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
   सत्यंवदामि च भवानखिलान्तरात्मा ।
   भक्ति प्रयच्छ रघुपुंड्गव निर्भरा में,
   कामादि दोषरहितं कुरू मानसं च । मानस सुन्दर श्लोक :2

भी सारा जगत् प्रणम्य है क्योंकि वह सीताराममय है । इसलिए तुलसी कहते हैं - "सीताराममय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ।"[1]

मानस में श्रुति-सम्मत हरि भक्त पथ में विरति-विवेक का समन्वय कर तुलसी ने भक्ति को व्यापकता प्रदान कर दी है । आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी के शब्दों में गोस्वामीजी की भक्ति पद्धति की सब से बडी विशेषता है - उसकी सर्वांग पूर्णता । तुलसी की रामभक्ति को धैर्य और ज्ञान दोनों की रसानुभूति कह सकते हैं । योग का भी उसमें समन्वय है पर उतने ही का, जितने ध्यान के लिए, चित्त को एकाग्र करने के लिए आवश्यक है । तुलसी भक्ति को धर्म के पर्याय के रूप में ही ग्रहण करते हैं ।

बैबिल के प्रवक्ता ग्रंथ में भक्ति के बारे में ऐसा लिखा है कि "प्रभु पर श्रद्धा से बढकर कोई बात नहीं और उसकी आज्ञाओं के पालन से अधिक मधुर कुछ नहीं ।"[2] पुराना और नया नियम में बार बार भक्त की महिमा का उल्लेख किया गया है । मानस और बैबिल में आदि से अन्त तक भक्ति उपासना का संकेत ही स्थान स्थान पर मिलता है । दोनों ग्रंथों में कई स्थानों पर भक्ति का माहात्म्य बताया गया है । बैबिल में भक्ति का व्यापक अर्थ मिलता है । ईश्वर के प्रति प्रेम ही नहीं, मनुष्य के प्रति कर्तव्य-निर्वहण भी भक्ति है । ईश्वर की करूणा, प्रेम, दया, वात्सल्य आदि के बदले उस से पुत्र समान घनिष्ठ संपर्क जैसे विश्वस्तता, विश्वास, स्नेहपूर्वक आराधना को भी भक्ति का नाम दिया गया है । सच्चे भक्त आपस में प्रेम करते हैं । बैबिल के दोनों भागों में पुराना और नया नियम में यह विचार पाया जाता है ।

मानस और बैबिल की भक्तिपरक शिक्षाओं के अन्तर्गत नाम

---

1. मानस बाल 8:2

2. बैबिल प्रवक्ता 23:37

नाम की स्तुति हो ।"[1] "प्रभु का नाम ही हमारा सहारा है ।"[2] समस्त संसार में ईसा के नाम के सिवा मनुष्यों को दूसरा नाम नहीं दिया गया है । जिसके द्वारा मुक्ति मिल सकती है ।[3] इसी प्रकार के भाव अन्य अनेक स्थानों पर बैबिल ने अभिव्यक्त किए हैं । ईश्वर के नाम से रोगशान्ति और मन की शान्ति प्राप्त होती है ।

ईश्वर के नाम की महिमा के प्रतिपादन में मानस और बैबिल में कोई विशेष उल्लेखनीय अन्तर नहीं दिखाई देता । ईश्वर के नाम का जप करनेवाला व्यक्ति पापों से छुटकारा पाकर नित्यमुक्ति सहज ही में प्राप्त करता है । ईश्वर का नाम शांति संवर्धक, परमानन्द प्रदायक, विरक्ति वर्धक, आश्वासदायक, जीवन-दायक, पापोद्धारक और अनुग्रहदायक है । ईश्वर कानाम कठिन पापियों को भी मुक्ति देता है । वह नाम परम शक्तिशाली और सकल सुखदायक है । इस प्रकार दोनों ग्रंथों में ईश्वर को विशिष्ट स्थान दिया है । ईश्वर सर्वगुणसंपन्न है । बैबिल में पुराना और नया नियम में आदि से अन्त तक कई स्थानों में ईश्वर के गुणों की महिमा ही मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । बैबिल के अनुसार ईश्वर के गुणों का विवरण देने के लिए संसार की सभी पुस्तकें भी पर्याप्त नहीं है ।

ईश्वर भजन

भजन ईश्वर प्राप्ति के लिए अनिवार्य माना गया है । भजन भक्ति को सुदृढ बनाने का एक साधन है । मानव के भजन से ईश्वर का महत्व नहीं बढता । ईश्वर की महानताओं की याद में उनकी स्तुति करने पर मनुष्य का विकास ईश्वर-प्रेम में होता है । उनकी महानताओं को धन्यवाद देकर आनन्द मनाते समय उनकी आत्मा व्यक्ति में भर जाती है । मानस एवं बैबिल में भजन

---

1. बैबिल स्तोत्र 113:2-3
2. वही, 124:8
3. बैबिल प्रेरित 4:12

महिमा, गुण महिमा, भक्ति के आवश्यक उपादान, ईश्वर भजन, भक्त-लक्षण आदि पर विचार किया गया है ।

ईश्वर नाम-महिमा

मानस में ईश्वर को अनेक नामों से अभिहित किया गया है । लेकिन तुलसी को उनका "राम" नाम ही विशेष प्रिय है । उन्होंने जिस राम नाम की वन्दना की है वह इन रूपाकृतियों पर किये जानेवाले राम नाम की नहीं, किन्तु उस राम की जो सृजन, पालन और संहार शक्ति से संपन्न है । वह ब्रह्म, विष्णु और महेश रूप है । वह नाम वेदों का प्राण है और निर्गुण है । उन्होंने इस नाम पर इतना गहरा चिन्तन मनन किया है कि वह एक व्यक्तिवाचक नाम ही न रहकर परम आराध्य, परम साध्य, परब्रह्मा का प्रतिरूप ही हो गया "राम न सकहि नाम गुण गाई ।" तुलसी के राम नाम में न केवल कृष्ण का या शिव का ही किन्तु अल्लाह का और "ओलमाइटी गोड" का भी अर्थ समाया हुआ है ।

बैबिल में आराध्य के लिए ईश्वर, पिता, सर्वशक्तिमान, सृष्टिकर्ता, इम्मानुवल, यहोवा, ईसामसीह, येशु, करूणामय, आनन्दस्वरूप, प्रभु, प्रेमस्वरूप, स्वयंज्योति आदि अनेक नाम है । इससे ईसा नाम निर्गुण ईश्वर का सगुण रूप है । बैबिल में ईसा पवित्र त्रित्व के दूसरे व्यक्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है । बैबिल में ईसा को प्रतिज्ञात मसीह माना गया है । मुक्तिदाता, मानव पुत्र, दाऊदका पुत्र, नबी, राजा, मेमना, जीवन का स्रोत, पुनरुत्थान और जीवन, मार्ग, सत्य और जीवन, रब्बी, रब्बोनी, प्रभु, गुरू, आचार्य धर्मात्मा, ईश्वर-पुत्र, ईश्वर आदि अनेक नाम ईसा के लिए बैबिल प्रयुक्त करता है । ईसा मसीह ईश्वर का प्रतिरूप है । बैबिल में स्थान स्थान पर ईश्वर नाम की गरिमा एवं उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन दिखलाई पडता है । "जो प्रभु के नाम की दुहाई देगा, वही बचेगा ।"[1] ईश्वर नाम का जप करनेवाला व्यक्ति बच जाता है । धन्य है प्रभु का नाम अभी और अनन्त काल तक । सूर्योदय से सूर्यास्त तक प्रभु के

---

1. बैबिल प्रेरित 2:21

के महत्व को प्रतिपादित करनेवाली अनेक सूक्तियाँ प्राप्त होती हैं । भजन का स्वाभाविक परिणाम यह है कि उस से मन का मालिन्य दूर हो जाता है और भजन करनेवाला इस बात का अनुभव कर सकता है कि उसका अन्तःकरण अपने आप विशुद्ध होता जा रहा है । भजन करते समय ईश्वर के निकट आने का अनुभव होता है । भक्त का मन आनन्द से भर जाता है । भजन बली है ।

मानस में तुलसी ने भजन के बिना मोक्ष की आकांक्षा रखनेवाले ज्ञानी को भी बिना पूँछ और सींग का पशु ठहराया है -

रामचन्द्र के भजन बिनु जो यह पद निर्वान ।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ विषान ।।[1]

जिस प्रकार समस्त तारागणों के साथ चन्द्रमा के उदय होने पर या पर्वत पर दावाग्नि लगने पर कितना ही प्रकाश क्यों न हो जाए लेकिन अन्धकार तभी हटता है जब सूर्योदय हो, उसी प्रकार ईश्वर भजन के बिना मनुष्यों का क्लेश नहीं मिटता -

"राकापति षोडस उअहि तारा गन समुदाई ।
सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रवि राति न जाई ।"[2]
ऐसेहि हरि भजन खगेसा । मिटइ न जीवन्ह कर कलेसा ।[3]
"बिनु हरि भजन न जाहि कलेसा ।
राम भजन बिनु मिटहि कि कामा ।"[4]

श्रीराम जी के भजन के बिना कामनाएँ नहीं मिट सकती ।

"कवनिउ सिद्धि कि बिनु विश्वासा । बिनु हरि भजन न भव भय नासा ।"[5]

विश्वास के बिना कोई भी सिद्धि नहीं । इसी प्रकार हरि भजन के बिना जन्म-मृत्यु के भय का नाश नहीं होता ।

---

1. मानस उत्त 78 क
2. वही, 78 ख.
3. वही, 79:1
4. वही, 89:3
5. वही, 89:1

बैबिल में भी मानस की तरह ईश्वर भजन की महिमा कई स्थानों पर प्राप्त होती है । शरीर, मन और आत्मा से युक्त है मनुष्य । तीनों तलों में वह रोगी होता है । भजन से इन सब से मुक्ति प्राप्त होती है । भजन से पाप, दुःख, भय, आकुलता, निराशा आदि मिट जाते हैं । पश्चात्ताप का अनुभव करनेवाला हर एक व्यक्ति सानन्द ईश्वर की स्तुति कर सकता है । उस से शांति के मार्ग पर आगे बढाने की प्रेरणा मिलती है और अनन्त आलोक से आलोकित करने का अनुभव भी होता है । बैबिल में कई बार दोहराकर यह बताया कि तुम ईश्वर का भजन करो । ईश्वर स्तुति में आनन्द मनाओ । वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन में मानसिक शांति और प्रेमपूर्ण एकता प्राप्त करने के लिए ईश्वर भजन आसान मार्ग है । जो भी हो, उसे खुलकर ईश्वर के सामने प्रस्तुत करने के लिए तैयार हो जाओ । ईश्वर के महान कार्यों के कारण और उसके परम प्रताप के कारण उसकी स्तुति करो । "आओ । हम आनन्द मनाते हुए प्रभु की स्तुति करें, अपने शक्तिशाली त्राणकर्ता का गुनगान करें । हम धन्यवाद करते हुए उसके पास जायें, भजन गाते हुए उसे धन्य कहें ।"[1] मनुष्य को सदा भजन करना चाहिए । "मैं हर समय प्रभु को धन्य कहूँगा, मेरा कंठ निरंतर उसकी स्तुति करेगा ।"[2] बैबिल के फिलिप्पि नाम के पत्र में लोगों को उपदेश देते हैं कि आप लोग प्रभु में हर समय प्रसन्न रहें अर्थात् सदा ईश्वर भजन करते हुए आनन्द मनाना चाहिए । प्रभु निकट ही है । किसी बात की चिन्ता न करें । हर ज़रूरत में प्रार्थना करें और विनय तथा धन्यवाद के साथ ईश्वर के सामने अपना निवेदन प्रस्तुत करें और ईश्वर की शान्ति जो हमारी समझ से परे हैं, को प्राप्त करें ।"[3] बैबिल में "हल्लेलूया" शब्द से श्रेष्ठ भजन और ईश्वर स्तुति की सर्वोच्चता दिखाई है । "हल्लेलूया । हमारे सर्वशक्तिमान प्रभु ईश्वर ने राज्याधिकार ग्रहण किया है । हम उल्लसित होकर आनन्द मनायें और ईश्वर की महिमा गायें ।"[4] चित्त को एकाग्र बनाकर ईश्वर के चिन्तन में लगा देना चाहिए ।

---

1. बैबिल स्तोत्र 95:1-2
2. वही, 34:2
3. बैबिल फिलि 4:4-7
4. प्रकाश 22:6-7

भजन से मन, बुद्धि, अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है । भजन की अवस्था में जब आत्मा-परमात्मा से मिलती है तो ईश्वर की ज्योति उसे आभायुक्त कर देती है । उनकी किरणें आत्मा पर पडती हैं तो मन की सभी चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं । अशान्ति दूर हो जाती हैं, उलझनें दूर हो जाती हैं ।

भक्त जितनी सच्ची और पवित्र श्रद्धा से ईश्वर की सेवा करता है । ईश्वर उनके लिए उतने ही सरल हो जाते हैं । भक्त वही है जो ईश्वर की इच्छा पूरी करता है । उनका तन, मन, धन, समय सब अपने स्वामी के लिए ही है । मानस और बैबिल की सूक्तियों में भक्त और भक्त लक्षण समान रूप से बताये गये हैं । मानस में भक्त का अनन्य प्रेम इस प्रकार मिलता है -

"कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ।"[1]

ईश्वर निरंतर भक्त को प्रिय लगता है । उसी प्रकार बैबिल कहता है "जो प्रभु में भक्ति रखते हैं वे सियोन पर्वत के सदृश हैं जो अटल है और सदा बना रहता है ।"[2] प्रभु भक्तों की भलाई करते हैं, निष्कपट मनुष्यों की भलाई करते हैं । प्रज्ञा का मूल स्रोत प्रभु पर भक्ति है वह भक्तों को जन्म से प्राप्त होती है ।"[3] सच्चे भक्त प्रभु का वचन सुनते हैं और उसका पालन करते हैं । ईश्वर के वचन सुनकर उसका पालन करनेवालों को ईश्वर की कृपा मिलती है ।

मानस के अनुसार भक्त सब कुछ त्यागकर राम भक्ति में लीन रहता है । वह सब कर्म करते हुए भी अनासक्त भाव से प्रभु चरणों में आसक्ति का स्रोत बहाता है । अपने इन्हीं गुणों के कारण भक्त को अधिक महत्ता दी गयी है । भक्त अलग से ही पहचाने जा सकते हैं । इनके हृदय में सीता-राम का निवास

---

1. मानस उत्त 130 ख
2. बैबिल प्रवक्ता 125:1
3. वही, 1:16

रहता है । प्रभु-प्रेम से इनका हृदय उठता है । उनका कंठ प्रभु-नाम का जाप करता है तथा नेत्रों में प्रेमाश्रु छलछलाने लगते हैं । काम, क्रोधादि से पृथक रहकर भक्त समस्त संसार को ईश्वरमय अनुभव करते हैं । उनका कहना है कि जब यह जगत् तथा उत्पन्न समस्त जीव सभी उन्हीं के हैं तब वैर-विरोध भी किया जाए तो किस से -

उमा जे राम चरन रत विगत काम मद मोह
निज प्रभु मय देखहि जगत केहि सन करहि विरोध ।[1]

बैबिल कहता है कि आज एक दूसरे को सहन करें और यदि किसी को किसी से कोई शिकायत हो तो, एक दूसरे को क्षमा करें । प्रभु अपने भक्तों की रक्षा करता है । भक्त ईश्वर की पवित्र एवं परम प्रिय बनी हुई प्रजा । इसलिए आज लोगों को दया, सहानुभूति, विनम्रता, कोमलता और सहनशीलता धारण करनी चाहिए ।[2] शरीर के व्यायाम से कुछ लाभ तो होता है । किन्तु भक्ति से जो लाभ मिलता है वह असीम है, क्योंकि वह जीवन को आश्वासन देती - इहलोक में भी और परलोक में भी ।[3] भक्त अपना मन और वचन एकमात्र ईश्वर में केन्द्रित करता है, अन्य मनुष्य और चीज़ों के प्रति राग और द्वेष को अपने मन से दूर करता है । क्योंकि ईश्वर मनुष्यों के रिक्त मनों को अपने वरदानों से भरते हैं ।

ईश्वर में विश्वास

भक्ति के आवश्यक उपादानों में विश्वास सर्वप्रथम है । विश्वास उन बातों की स्थिर प्रतीक्षा है, जिनकी हम आशा करते हैं और उन वस्तुओं के अस्तित्व के विषय में दृढ़ धारणा है जिन्हें हम नहीं देखते । सुनने से और अनुभव ज्ञान से विश्वास उत्पन्न होता है । मानस और बैबिल में विश्वास को बहुत

मानस अयो ।12 ख

बैबिल स्तोत्र : 125:1-4

बैबिल कोलो 3:2

महत्वपूर्ण स्थान दिया है । मानस में तुलसी कहते हैं कि विश्वास के बिना भक्ति नहीं होती - "बिनुविश्वास भगति नहीं ।"[1] परिचय के बिना स्नेह नहीं पनपता । प्रेम के बिना भक्ति व्यर्थ है - "प्रीति बिना नहीं भगति दृढाई ।"[2] जब पूर्ण प्रेम का अभाव होगा तो भक्ति नहीं हो सकती -
"जाने बिना नहिं होइ परतीति । बिनु परतीति न होइहि प्रीति ।"[3]

बैबिल कहता है कि "आप को विश्वास में दृढ और अटल बना रहना चाहिए । आप प्रभु ईसा में विश्वास कीजिए तो आप को और आप के परिवार को मुक्ति प्राप्त होगी ।"[4] विश्वास के अभाव में कोई ईश्वर का कृपा पात्र नहीं बन सकता जो ईश्वर के निकट पहुँचना चाहता है, उसे विश्वास करना है कि ईश्वर है वह उन लोगों का कल्याण करता है, जो उसकी खोज में लगे रहते हैं । "जो उन में विश्वास करता है उसे वह पूर्ण पाप-मुक्ति प्राप्त होगी ।"[5] विश्वास के कारण मसीह संहिता को परिपूर्णता तक पहुँचाते हैं और प्रत्येक विश्वास करनेवाले को धार्मिकता प्रदान करते हैं ।[6] कर्मों के अभाव में विश्वास निर्जीव है । यदि कोई यह कहता है कि मैं विश्वास करता हूँ किन्तु उनके अनुसार आचरण नहीं करता तो इससे कोई लाभ नहीं । विश्वास धार्मिकता और जीवन का स्रोत है । इस पर पौलोस ने विशेष रूप से बल दिया है । अतः वह मुक्ति का स्रोत है । "जो प्रभु की नाम की दुहाई देगा, उसे मुक्ति प्राप्त होगी ।"[7] विश्वास भक्ति का सार है । "यदि आप लोग मुख से स्वीकार करते हैं कि ईसा प्रभु है और

---

1. मानस उत्त 90
2. वही, 89:4
3. वही, 89:1
4. बैबिल कोलो 1:23
5. बैबिल प्रेरित 13:39
6. बैबिल रोमि 10:4
7. वही, 10:13

हृदय से विश्वास करते हैं कि ईश्वर ने उन्हें मृतकों में से जिलाया तो आपको मुक्ति प्राप्त होगी ।"[1] हृदय से विश्वास करने पर मनुष्य धर्मी बनता है और मुख से स्वीकार करने पर उसे मुक्ति प्राप्त होती है । धर्मग्रंथ कहता है "जो उस पर विश्वास करता है, उसे लज्जित नहीं होना पडेगा ।"[2] विश्वास की परिणति अनन्त जीवन है । "जो ईसा में विश्वास करते हुए मरे, ईश्वर उन्हें उसी तरह ईसा के साथ पुनर्जीवित कर देगा ।"[3] विश्वास पर चलना चाहिए । "हम आँखों-देखी बातों पर नहीं, बल्कि विश्वास पर चलते हैं ।"[4] हमें तो ईश्वर पर पूरा भरोसा रखना चाहिए । विश्वास ईश्वर का बहुमूल्य वरदान है । हमारा विश्वास ही संसार पर विजय है । विश्वास के लिए निरंतर संघर्ष करते रहना चाहिए । विश्वास मुक्ति के लिए अनिवार्य है ।

बैबिल में संत याकोब विश्वास और कर्म को जोडने का एक भरसक प्रयास करता हुआ लिखता है । जैसे आत्मा के बिना शरीर निर्जीव है वैसे ही कर्म के बिना विश्वास निर्जीव है । देख लो, मनुष्य कर्म से धार्मिक ठहराया जाता है, केवल विश्वास से नहीं । याकोब यह सिद्ध करना चाहता है कि अब्राहम कर्म के द्वारा धर्मी ठहरा और फिर संत पोल इस उदाहरण को लेकर हमें यह बताता है कि अब्राहम विश्वास के द्वारा धर्मी ठहरा । वह कहता है कि विश्वास प्रेम द्वारा सक्रिय हो जाता है । विश्वास हमें आध्यात्मिक दृष्टि प्रदान करता है जिसके द्वारा हम ईश्वर को जो ज्ञानेन्द्रियों से अदृश्य है, प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं । विश्वास हर प्रकार के सन्देह से मुक्त है । विश्वास में किसी प्रकार की अनिश्चयता पैदा नहीं होती । वह किसी परिस्थिति में जीवन अथवा कार्य को व्यर्थ नहीं कहता । जैसा कि येशु ने कहा, यदि तुम्हारा विश्वास राई के दाने के बराबर भी हो तो इस पहाड से कह सकोगे कि यहाँ से सरक कर वहाँ

---

1. बैबिल रोमि 10:9
2. प्रेरित 13:39
3. थेस 4:14
4. बैबिल कोरी 5:7

चला जा, तो वह चला जाएगा और कोई बात तुम्हारे लिए अनहोनी न होगी ।[1] पहाड़ से अभिप्राय यहाँ कठिनाइयों से हैं, अर्थात् विश्वासमय जीवन व्यर्थ के समुद्र में गोते नहीं खाता वरन् वह एक मज़बूत चट्टान पर खड़ा है ।

पर्वोत्सव, त्योहार तथा मेले:-

समाज में पर्व एवं त्योहारों का बड़ा महत्व रहा है । प्राचीन काल से ही इन्हें बड़े हर्षोल्लास के साथ मनाया जा रहा है । भारत में वर्ष-पर्यन्त समाज द्वारा सामूहिक रूप से विभिन्न त्योहार एवं उत्सव मनाये जाते हैं । भारतीय जीवन में जहाँ व्यक्ति की व्यक्तिगत उन्नति, उसको सफल नागरिक बनाने के लिए विभिन्न संस्कारों का आयोजन किया गया है ; वहाँ उस में समाजगत एकता की भावना तथा सांस्कृतिक जागरूकता को बनाए रखने के लिए विभिन्न त्योहारों का आयोजन बहुत प्राचीन काल से होता आया है । इन त्योहारों में वसन्त पंचमी, शिवरात्री, होली, रामनवमी, रक्षाबन्धन, विजयदशमी, दशहरा, दीपावली आदि मुख्य हैं । तुलसी ने मानस में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से त्योहारों का उल्लेख किया है ।

तुलसी ने मानस में श्रीराम के युवराज होने एवे लंका से लौटने के अवसरों को पर्वोत्सव के रूप में चित्रित किया गया है । उत्सव के अवसर पर कई मंडप बनाये जाते थे । राम को युवराज बनाते समय तथा राज्याभिषेक इन दोनों अवसरों पर जो उत्सव हुआ उसमें भी कवि ने प्रायः उन सभी बातों का समावेश किया है जो अन्य उत्सवों के अवसर पर होता है । राम के वन से लौटने पर जो स्वागतोत्सव हुआ उसमें विभिन्न मांगलिक पदार्थों को एकत्रित करने की बात कही गयी है -

---

1. बैबिल मात्यु 17:20

दधि दुर्बा रोचन फल फूला । नव तुलसीदास मंगल मूला ।
भरि भरि हेम थार भामिनी । गावत चलि सिंधुर गमिनी ।।[1]

तुलसी की दृष्टि में यह अवसर एक सार्वजनिक पर्व का ही अवसर है । चौदह वर्ष के बाद अवधवासियों के सर्वस्व राम घर लौट रहे हैं । अतः अयोध्या में सभी का उल्लास दर्शनीय है ।[2] आनन्द उल्लास के अवसरों पर जो गीत गाये जाते हैं उन में एक विशिष्ट लोकगीत गाने जाने का उल्लेख तुलसी ने राम जन्म, विवाह तथा विवाह करके अयोध्या लौटने के अवसर पर किया है ।[3]

तुलसी ने उत्सवों का विस्तृत वर्णन कर तत्कालीन समाज की उत्सव प्रियता व्यक्त की है ।

जरूसलेम में यहूदियों का तीन प्राचीन मुख्य पर्व मनाये जाते थे, पास्का, पेन्तकोस्त, शिविर पर्व । पास्का पर्व मिस्र देश की गुलामी में उनकी मुक्ति का सात दिनों का स्मरणोत्सव है । यह वसन्त की पूर्णिमा की रात को पास्का के भोज से प्रारंभ होता था । वे सात दिनों तक बेखमीर रोटियाँ खाते थे । इसलिए पास्का बेखमीर रोटियों का पर्व भी कहलाता था । येशु इस पर्व के लिए जरूसलेम जाया करते थे ।[4] मूशा ने पास्का मनाया । इसी पर्व के अवसर पर

---

1. मानस 7:3:5-6
2. कंचन कलस विचित्र संवारे । सबहि धेरे सजि निज निज द्वारे ।
   बदनबार पताका केतू । सबन्हि बनाये मंगल हेतू ।
   बीथी सकल सुगंध सिंचाई । गजमनि रचि बहु चौक पुराई ।
   नाना भाँति सुमंगल साजे । हरषि नगर निसान बहु बाजे ।
   जहँ तहँ नारि निछावरि करही । दहि असीस हरष उर भरही
   कंचन थार आरती नाना । जुबती सजे करहि सुभ गाना ।। मानस 7:9:1-6
3. मानस 1:296:2
4. बैबिल लूक 2:41

येशु क्रूस पर चढाये गये । उसके बाद ईसाई शुद्धता और सच्चाई की बेखमीर रोटी से पर्व मनाते हैं ।

पेन्तकोस्त पर्व फसल की समाप्ति का पर्व है, जो पास्का के पचास दिन बाद मनाया जाता था । इसका अर्थ पचासवाँ है । यह सीना पर्वत पर मूसासंहिता की घोषणा का स्मरणोत्सव भी था । फिर ईसा के स्वर्गारोहण से दस दिन बाद इसी पर्व के दिन पवित्र आत्मा प्रेरितों पर उतरा था । उसके बाद ईसाई भी यह पर्व मनाते हैं ।

शिविर पर्व के अवसर पर लोग खेतों में पर्णशालाओं में रहते थे । यह आठ दिन का पर्व अक्टूबर के प्रारंभ में पडता था । यह मुख्य रूप से मरूभूमि में यहूदियों के चालीस वर्षों के निवास का स्मरणोत्सव था । फसल के लिए ईश्वर को धन्यवाद देना इसका दूसरा उद्देश्य था । इसके अलावा प्रायश्चित्त दिवस, प्रतिष्ठान पर्व, पुरिम, अमावस और विश्राम के दिन आदि मन्दिर में मनाये जाते थे ।

प्रायश्चित्त दिवस अक्तूबर में शिविर पर्व के पाँच दिन पहले मना मनाया जाता था । उस दिन काम न करने का तथा उपवास का आदेश था ।

सत्संग :-

भक्ति यदि ईश्वर के प्रति प्रीति है तो यह प्रीति तभी संभव है, जब ईश्वर स्वरूप का ज्ञान, ईश्वर के गुणों का वर्णन, ईश्वर की अपार दया के संबंध में भक्तों के अनुभव आदि दूसरे भक्त जान जायें । यह केवल सत्संग से ही संभव है । ईश्वर की ओर आसक्ति अथवा ईश्वर भक्ति की प्राप्ति उसी को सुलभ हो सकती है जिसे सत्संग प्राप्त हो । अतएव सत्संग भक्ति मार्ग की आरंभिक सीढी कहा जा सकता है । सत्संगति से भलाई, गुरूता आदि गुणों एवं कुसंगति

से बुराई, लघुता आदि अवगुणों की प्राप्ति होती है । सुसंग कल्याणप्रद और कुसंग हानिकर है । भवसागर से पार जाने के लिए संतों और असंतों के गुण को समझकर सत्संगति करनी चाहिए । सत्संग मोक्ष का मार्ग है । संतलोग भक्ति के अन्यतम साधन हैं । पारमार्थिक ही नहीं, व्यावहारिक दृष्टि से भी सत्संग का महत्व है । इस सत्संग द्वारा ईश्वर की प्राप्ति के संबंध में मानस में तथा बैबिल में कई घटनाएँ प्रस्तुत की गई हैं ।

मानस के उत्तरकाण्ड में बताया गया कि नित्य ईश्वर कथा सुनते ही ईश्वर के प्रति अत्यन्त प्रेम उत्पन्न होगा ।[1] सत्संग के बिना हरिकथा सुनने को नहीं मिलती, उसके बिना मोह नहीं भागता ।[2] सत्संग से सन्मार्ग की प्राप्ति होती है ।[3] दुष्ट भी सत्संगति पाकर सुधर जाते हैं । सत्संगति पारस है, लोहे को भी स्वर्ण बना देती है । यदि सज्जन कहीं कुसंगति में पड जाते हैं तो वे वहाँ भी साँप के मणि के समान अपने गुणों का ही अनुकरण करते हैं ।[4] बुरे संग, से हानि तथा अच्छे संग से लाभ ही होता है । पवन के संग से धूल आकाश तक पहूँच जाती है, लेकिन वही धूल जल के कुसंग में फँसकर कीचड में धँस जाती है ।[5]

---

1. नित हरिकथा होत जहँ भाई । पठवउँ तहाँ सुनहु तुम्ह जाई ॥
   जाइहि सुनत सकल सन्दोहा । रामचरण होइहि अति नेहा ॥ मानस:उत्त:60:4
2. बिनु सत्संग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
   मोह गए बिनु राम पद होइ न दृढ अनुराग ॥ मानस उत्त: 65
3. सत्संग अपवर्ग कर कामी भवकर पंथ ।
   कटहि संत कवि को विद श्रुति पुरान सद्ग्रंथ ॥ मानस उत्त: 33
4. सठ सुधरहि सत्संगति पाई । पारस परस कुधात सुहाई ।
   विधि बस सुजन कुसंगत पर ही । फनि मनि सम निजगुण अनुसरही ॥
   मानस बाल 2:5
5. हानि कुसंग सुसंगति लाहू । लोकहूँ बेद बिदित सब काहू ।
   गगन चढइ रज पवन प्रसंगा । कीचहि मिलइ नीच जल संगा ॥
   मानस बाल 6:4-5

कुसंग के कारण धुआँ कालिख कहलाता है, वही पवन के संग से बादल होकर जगत् को जीवन देनेवाला बन जाता है ।[1] सत्संग के बिना विवेक जाग्रत नहीं होता यह तभी संभव है जब ईश्वर की कृपा हो । सत्संगति आनन्द और कल्याण की जड है । सत्संग की सिद्धि ही फल है, और सब साधन तो फूल है ।[2] दुष्टों के साथ किसी को भी हितकर नहीं होता । सभी दुष्ट, प्रवृत्ति से घबराते हैं । दुष्ट लोग हमेशा कार्य में बाधक बनते हैं । तुलसी ने इन्हीं भावों को यों प्रकट किया है ।

को न कुसंगति पाहि न साही । रहे न नीच मत चतुराई ।[3]

तुलसी को दुष्टों का संग असह्य है । संत मिलन के समान संसार में कोई सुख नहीं है । सत्संग के अभाव में मानव की चित्त वृत्तियाँ कलुषित हो जाती है । इसलिए तुलसी का उपदेश है कि सत्संगति करो, असंतों का साथ छोड दो । महापुरुषों में भी न्यूनताएँ हो सकती हैं, पर गुणों की उन में अधिकता रहती है । सन्तों के स्वभाव में गुणों का ग्रहण तथा विकारों का परित्याग भी रहता है ।

सत्संग निस्संदेह सत्संगति को महिमान्वित करता है । बडों के साथ बैठनेवाले बडप्पन पा ही जाते हैं । तुलसी भी राम का यश गाकर बडे हो गये । सत्संग सच्चरित्र ज्ञानी पुरुष का होना चाहिए । मानस जब तक प्रभु से पराड्मुख रहता है तब तक आनन्द का भागी नहीं बन पाता । प्रभु की ओर झुकने के लिए तुलसी की सम्मति में सब से सुगम साधन सत्संग है । झूठ और सत्य

---

1. धूम कुसंगति कारिख होई । लिखिअ पुरान मंजु मसि सोई ।
   सोइ जल अनल अनिल संघाता । होइ जलद जग जीवन दाता ॥ मानस:बाल:6:6
2. बिनु सत्संग विवेक न होइ । राम कृपा बिनु सुलग न सोई ।
   संत संगत मुद मंगल मूला । सोइ फल सिधि सब साधन फूला ।
   मानस बाल 2:47
3. मानस अयो 23:4

का विवेक सत्संग से होगा । सत्संग का फल आनन्द है । मानस में ऐसा कहा गया है -

सुजन समाज सकल गुन खानी । करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी ।[1]

साधुओं का चरित्र कपास की तरह शुभ होता है । वे कष्ट सहकर भी दूसरों का उपकार करते हैं । तुलसी ने संतों को जंगम तीर्थ राजू कहा है - चलता प्रयाग "मुदमंगलमय संत समाजू । जो जग जंगम तीरथ राजू ।"[2]

सत्संग के विषय में भी बैबिल की मान्यता मानस के मत से भिन्न नहीं है । बैबिल ने समझदार लोगों के साथ व्यवहार करने और कुसंगति से दूर रहने की चेतावनी दी है । बैबिल के प्रवक्ता ग्रंथ में कहा गया कि "समझदार लोगों के साथ संगति करो और सर्वोच्च प्रभु की आज्ञाओं की ही चर्चा करो ।"[3] "सच्चरित्र को देखो निष्कपट पर ध्यान दो ।"[4] नीति वचन जाननेवाला अपनी प्रज्ञा का प्रमाण देता है उसकी संगति से ज्ञान प्राप्त होता है । बैबिल के तोबित की पुस्तक में तोबित सत्संग के लिए अपने पुत्र को उपदेश देता है -"जो समझदार है, उस से सलाह लोगे और किसी भी सत्परामर्श की उपेक्षा नहीं करोगे ।"[5] ईमानदार व्यक्ति के साथ व्यवहार करना अधिक उचित है । धर्मशील व्यक्ति से व्यवहार करने पर धर्मशील बन जाने की प्रेरणा मिलती है ।

वस्तुतः सत्संग की महिमा निराली है । व्यक्ति को कुसंग त्याग कर सत्संग करना चाहिए । यदि दुर्भाग्यवश कुसंग में पड भी जाए तो अलिप्त भावना से जल में कमलवत् या सर्पमणि की भाँति रहना चाहिए । संगति प्रभाव की झाँकी दर्शाते हुए मानस और बैबिल ने सत्संग की महिमा मंडित की है,

---

1. मानस बाल दो:1:2
2. मानस बाल 1:4
3. बैबिल प्रवक्ता 9:22
4. स्तोत्र 37:37
5. तोबित :4:18

तथा कुसंग से बचने के लिए सजग किया है । पापी के लिए ईसा के प्यार ने मरियम मग्दलेना नामक स्त्री को दुरवस्था की नीचतम कोटि से धार्मिकता की पवित्रता के सर्वोच्च शिखर पर ला दिया । प्रभु येशु की कृपा से प्रभावित होकर सकेवुस ने उनके पवित्र संपर्क में आकर अपने हृदय को शुद्ध पाया । उसने धन के प्रति अपनी आसक्ति को इस प्रकार त्याग दिया जैसे साँप केंचुल छोड देता है । येशु के सत्संग और प्रभाव से लोगों की कलंकित आत्मा बर्फ जैसे उज्ज्वल हो जाती थी ।

सत्संग द्वारा सामाजिक सुधार की समस्या सुलझ जाती है । लोगों में सद्बुद्धि जागरित होती है तथा उनका जीवन आदर्श बन जाता है । सत्संग से मानसिक वृत्तियाँ आदर्शोन्मुख हो जाती हैं । सत्संगति से ही विवेक की प्राप्ति संभव है । जब मानव, ज्ञानी गुरू के संपर्क में जाता है तो उसे आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति होती है । सत्संगति विवेक की जननी है । विवेक से तत्वज्ञान और मोक्ष की सिद्धि होती है । सत्संगति मानव मूल्यों को स्थापित करने का केन्द्र बिन्दु है, क्योंकि सत्पुरूष पृथ्वी की भाँति क्षमाशील और धैर्यशील आकाश की तरह विशाल और निर्विकार, पवन और सूर्य की भाँति उदारशील और समाचरणशील एवं अग्नि के समान परोपकारी होता है । सत्संगति में विकारों का नाश होता है । सत्संग आध्यात्मिक उन्नति में सहायक होता है । जिसके फलस्वरूप समाज परम पावन होता है और मानव अपने सुन्दर विचारों के अनुरूप आचरण करता है तथा समाज को उन्नति की ओर ले जाता है ।

ईसा ने समाज में कई लोगों को रूपक-कथाओं तथा दृष्टान्तों से पवित्र जीवन का उपदेश दिया और मार्ग निर्दिष्ट किया दूसरी ओर उन्होंने अपने शिष्यों को अपने मार्ग के गहन संदर्भों को व्यंजित किया है । संसार में अच्छाई और बुराई विद्यमान है । परन्तु अन्तत: अच्छाई की विजय निश्चित है । इसलिए अच्छे मूल्यों की उपलब्धि के लिए सत्संग अनिवार्य हैं ।

सत्संगति के विस्तृत विवेचन से मानसकार और बैबिलकार उच्चतर मूल्यों की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं, जो उनके मानव धर्म को परिभाषित करते हैं और उनके लिए राम का चरित्र निर्मित हुआ और येशु अवतरित हुआ ।

कर्म का स्वरूप और कर्मफल :-

कर्म ही जीवन है । जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त जीवन की साधनात्मक विविध रूप से चेतना की परिणति अवस्थिति, व्यावहारिक क्रिया-कलाप, शारीरिक स्पन्दन और बौद्धिक चिन्तन सभी कर्म की अवस्थायें हैं जो काल, स्थान और परिस्थिति-भेद से विभिन्न रूप धारण करती हैं । कर्म शब्द "कृ" धातु से निकला है, "कृ" धातु का अर्थ है करना । जो कुछ किया जाता है वही कर्म है । इस शब्द का पारिभाषिक अर्थ कर्मफल भी होता है । कामना-प्रेरित इन्द्रियों की सापेक्षता भी कर्म है । कर्म मानव जीवन का एक विशिष्ट अंग है । स्वामी विवेकानन्द ने "कर्मयोग" शीर्षक पुस्तक में लिखा है "कर्म ही इच्छाओं तथा स्वयं जागतिक कार्य-कलापों का मूल है और इसलिए अपनी प्रत्येक प्रकार की परिस्थिति के हम उत्तरदायी अथवा कारण तथा परिणाम दोनों ही हैं ।"[1] कर्म करना अत्यन्त आवश्यक है । व्यक्ति को आत्मदर्शन के लिए और अपनी शारीरिक, मानसिक विकास के लिए भी कर्म आवश्यक है । कर्म ही पूजा है । ज्ञानी व्यक्ति कर्म करते हैं, फल की इच्छा नहीं रखते । कर्म करते रहो फल की इच्छा मत करो । इस मार्ग का बड़े विस्तार से उल्लेख करते हुए गीता का कथन है -

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।"[2]

निष्काम कर्म आकांक्षा रहित है । इसलिए जो फल मिल जाय बहुत है, मन उद्वेलित नहीं होता, प्रसन्न रहता है । सकाम कर्म में आकांक्षाओं का अम्बार लगा होता है।

---

1. स्वामी विवेकानन्द "कर्मयोग" शीर्षक कर्म का चरित्र पर प्रभाव, पृ. 6, तृतीय संस्करण 1954.

2. गीता 2:47

इसलिए जो भी फल मिलता है क्षुद्र प्रतीत होता है, इसलिए मन उद्वेलित रहता है, खिन्न रहता है । निष्काम कर्म बाधा रहित है । निष्काम कर्म दुःख रहित है । चित्त-शुद्धि के लिए 'कर्म' करना चाहिए, आसक्ति रहित होकर सभी कर्म करना चाहिए । कर्म शब्द का पारिभाषिक अर्थ कर्मफल भी होता है । कर्मयोग से हमारा अभिप्राय उन कर्मों से हैं जो हम ईश्वर प्राप्ति के निमित्त करते हैं । कर्मयोग निस्वार्थपरता और सत्कर्म द्वारा मुक्तिलाभ करने का एक धर्म और नीतिशास्त्र है । उसका ध्येय है निष्कामता और निस्वार्थता की प्राप्ति और इसी निमित्त वह साधना करता है । वह अपनी समस्या, भगवत्कृपा प्राप्ति का समाधान केवल कर्म द्वारा ही करता है ।

मनुष्य यावज्जीवन कर्म करता है, क्योंकि इस लोक में कर्म ही प्रधान है । उसका समस्त भविष्य कर्म पर आधारित है, कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनकी प्रतिक्रिया तुरन्त होती है, कुछ की देर में और कुछ जीवनोपरान्त फल देते हैं । कर्मयोगी अपना कर्म औरों की अपेक्षा उत्कृष्ट रीति से करेगा, क्योंकि उसके लिए कर्म ही उपासना है, कर्म ही पूजा-विधान है । निष्कामता मन का धर्म है ।

कर्म का बोध ज्ञान के प्रकाश से ही होता है । ज्ञान के अनुकूल ही कर्म होना चाहिए । आपके पास ज्ञान है, पर कर्म नहीं है तो भी जीवन सार्थक नहीं होगा । ज्ञान की सार्थकता कर्म करने में हैं । विश्व में कर्म की प्रधानता है । जो व्यक्ति जैसा काम करता है, उसी के अनुसार कर्मशील बनता है और उसी के गुणों के अनुकूल संस्कार बनते हैं । इसलिए तुलसी ने लिखा है-[1] "कर्म प्रधान विश्व करि राखा । जो जस करे सो तस फल चाखा ।"

मानस कहता है कि मनुष्य को सदैव कर्म में तत्पर रहना चाहिए ।

---

1. मानस अयो 220.

हाथ पर हाथ रखे भाग्य के भरोसे बैठना कायरता है ।[1] कर्मसाधन मानव जीवन का विशिष्ट अंग है । कर्मरत मानव सहज ही विकास पथ पर अग्रसर होता है । जो जैसा करता है वैसे ही फल का भागी है । लक्ष्मण की दृष्टि में कोई भी व्यक्ति किसी भी व्यक्ति के सुख दुःख का उत्तरदायी नहीं होता । प्रत्येक व्यक्ति अपने ही कर्मों का फल भोगता है ।[2]

ईश्वर ने विश्व में कर्म को ही प्रधान कर रखा है और मानव अपने कर्म के अनुसार फल भोगता है । राम के वनवास के संदर्भ में दशरथ के मन में यह प्रश्न उठता है कि राम कहीं उनके अपराध का प्रायश्चित्त तो नहीं कर रहे हैं । शुभ और अशुभ कर्म के अनुसार ईश्वर हृदय में विचारकर फल देता है । ऐसी वेद की नीति है, यह सब कोई कहते हैं । दशरथ की चिन्ता इसी परिप्रेक्ष्य में हैं -

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी । ईस देइ फलु हृदयँ बिचारी ।
करई जो करम पाव फल सोई । निगम नीति असि कह सबु कोई ।।[3]

कर्म करना तो मनुष्य के हाथ में है लेकिन फल ईश्वराधीन हैं -

सुभ और असुभ करम फल दाता ।[4]

कौसल्या ने कहा, कर्म की गति कठिन है, उसे विधाता ही जानता है, जो शुभ और अशुभ सभी फलों को देनेवाला हैं ।[5]

---

1. कादर मन कहुँ एक अधारा । दैव-दैव आलसी पुकारा - सुन्दर 50:2
2. काहु न कोउ सुख दुःख कर दाता
   निज कृत करम भोग-सबु भ्राता
3. मानस अयो 76:4
4. मानस उत्त 40:3
5. कठिन करम गति जान विधाता । जो शुभ असुभ सकल फल दाता ।
   मानस अयो 281:2

मानस में लक्ष्मण कर्म और पुरुषार्थ के प्रतीक हैं । राम जब समुद्र का मार्ग देने के लिए प्रार्थना करने लगे तो लक्ष्मण को अच्छा नहीं लगा । परन्तु जब राम ने समुद्र को सुख देने के लिए धनुष पर बाण को चढ़ाया तो लक्ष्मण प्रसन्न हो उठे ।

मानस का निर्माण मानव को कर्तव्य परायण बनाने के लिए हुआ है । कर्म के साथ ज्ञान और भक्ति भी होनी चाहिए । ज्ञान के अनुकूल कर्म जब ईश्वर को समर्पित कर दिया जाता है तभी वह आत्म ज्ञान प्रदान करता है । आत्मज्ञान होने पर आसक्तिपूर्ण कर्म नहीं हो सकते -

कर्म कि होहि स्वरूपहि चीन्हे ।[1]

मानस को गंभीरता से देखा जाए तो श्रीराम की प्रतिज्ञा कर्म की वरेण्य दिशा है । कर्म की सात्विकता की उदात्त प्रस्तावना है । राम के कर्म साधन से ध्वनित होता है कि लोक मंगल के लिए काम करना चाहिए । राम, लक्ष्मण या शत्रुघ्न निष्काम कर्म के केवल उपदेशक ही नहीं है, उन्होंने अपने व्यावहारिक जीवन में भी निष्काम कर्म की साधना की थी । राम का समग्र जीवन निष्काम कर्म-साधन का प्रेरक मूल्य रहा है । वे प्रवृत्ति मार्गी होकर भी निवृत्ति मार्ग में लीन परिलक्षित होते हैं ।

कर्म का अर्थ है धार्मिक कृत्य ।[2] धर्म का स्थूल रूप कर्मकाण्ड है । धर्म- कर्म वे कार्य हैं जो धर्म ग्रंथों में मनुष्य मात्र के कर्तव्य कहे गए हैं । धर्म और कर्म का निकट संबंध है । परन्तु जब समाज में कर्म को धर्म से पृथक करके देखा जाता है और धर्म की अपेक्षा कर्मकाण्ड की प्रधानता हो जाती है, तब धर्म विकृत होकर समाज के लिए घातक सिद्ध होता है । जब समाज में कर्म का महत्व ज्ञान-भक्ति की अपेक्षा बढ़ जाता है, तब समाज भौतिकवादी हो जाता है और नैतिक अधःपतन की ओर उन्मुख होता है ।

---

1. मानस उत्त 111:2

2. प्रामाणिक हिन्दी कोश पृ. 227

बैबिल में भी कर्म का महत्व स्थान स्थान पर चित्रित है । ईश्वरीय विधान स्वरूप कर्म को पूरा करने के लिए ईसा का जन्म हुआ था । मनुष्य रूप में वे साधारण मनुष्य के जीवन का वरण करके अपने परिवार का काम, सफलता पूर्वक करके ईश्वर और मनुष्य के अनुग्रह में बढते जा रहे थे । उनके साधारण जीवन और काम में गरिमा तथा महिमा अन्तर्निहित थी, जो एक ओर उनके ईश्वर पुत्र होने की व्यंजना थी दूसरी ओर महामानव का संकेत भी । वे अपने घर में कर्तव्यों को पूरा कर रहे थे । येशु तीस वर्ष तक ऐसे मनुष्य के आदर्श हैं जिसने घर के साधारण कर्तव्यों को पूरा किया । येशु यह भी सीख रहे थे कि श्रमिक या मज़दूर होने का अनुभव क्या है ? नाज़रेत में येशु अपने माता-पिता के अधीन रहकर काम में ज्यों ज्यों बढ रहे थे, त्यों त्यों अपने हृदय की संपन्नता से आस-पास के लोगों को आकर्षित कर रहे थे । लगातार वे उन से प्यार और प्रशंसा प्राप्त कर रहे थे ।

येशु इस संसार में संसार के उद्धार के लिए आये । अपने परम पिता की आज्ञा का पालन करने के अर्थ में वे अनेक नैतिक गुणों को अभिव्यक्त करनेवाले काम कर रहे थे । वे अपनी कोमलता, अपने शील, सौजन्य तथा विनम्रता से सभी को अपने काम से प्रसन्न कर लेते थे ।

येशु की माता, मेरी अपने परिवार के काम में मग्न रहती थी और तकली पर ऊन, रूई तथा रेशम कातती और वस्त्र बुनती रहती थी । यहूदियों में स्वतंत्र काम करनेवालों में एक परिवार था येशु का परिवार । जोसफ के कारखाने में लकडी की छिलाई, चिराई और कटाई से लेकर दरवाज़े, पल्ले, खिडकी, छतें आदि सब कुछ बनाया जाता था और बेचा जाता था । वे श्रम से ईमानदारी के साथ जीविकोपार्जन करने का आदर्श थे ।

संत पोल अपने हाथों से काम करके कमाता था । यहूदी लोगों में काम-धन्धा श्रेयस्कर माना जाता था । वे कहते थे यदि "कोई पिता अपने बच्चे को धन्धा नहीं सिखाता तो वह उसे चोरी करना सिखाता है । संत पोल प्रशिक्षित रब्बी था । यहूदी व्यवस्था का नियम था कि धर्म की शिक्षा देने के लिए रब्बी वेतन न ले । उसके पास एक धन्धा होना चाहिए जिस से वह कमाकर अपनी आवश्यकताओं को पूरा करे । पोल तंबू बनाने का धंधा करता था । थेसलोनियों के नाम पत्र में पोल एक कहावत उद्धृत करता है, "जो काम न करे वह खाना भी न खाए ।"[1] इस में काम न करनेवालों को रोटी खाना मना है । यह सूक्ति श्रम का सुनहला नियम है । येशु ने भी हमारे सामने यह नमूना रखा । वह नसरत में पिता के साथ बढ़ई का काम करते थे । पोल की प्रभु येशु के नाम में यह आज्ञा है कि काम न करनेवाले अर्थात् कर्तव्य का पालन न करनेवाले भाई के प्रति कार्यवाही की जाए ।"[2]

बैबिल के तिमथियों के नाम पत्र में लिखा है कि "कर्तव्यों का ध्यान रखो और इन में पूर्ण रूप से लीन रहो जिस से सब लोग तुम्हारी उन्नति देख सकें ।"[3] व्यक्ति को हमेशा ईमानदार होना चाहिए । "जो छोटी सी छोटी बातों में ईमानदार है, वह बडी बातों में भी ईमानदार है ।"[4] उपदेशक ग्रंथ में लिखा है कि तुम प्रातः अपने खेत में बीज बोओ और सन्ध्या तक, काम करते रहो, क्योंकि तुम नहीं जानते कि तुम्हें किस काम में सफलता मिलेगी । मनुष्य को दूसरों की भलाई के लिए काम करना चाहिए । "जब तक तुम्हें अवसर मिल रहा है, सबों की भलाई करते रहो ।"[5] यदि आप भलाई करने में लगे रहेंगे तो

---

1. बैबिल 2 थेस 3:10
2. वही, 6:14-15
3. बैबिल तिमथी 4:15
4. लूक 6:10
5. गला 6:10

कौन आप के साथ बुराई करेगा । अपनी सारी विफलताओं में भाग्य को ही दोषी बताकर आलसी बनकर बैठना ठीक नहीं है । कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपना कार्य अनुचित रूप से करके अनुचित फल प्राप्ति में भाग्य को दोषी ठहराते हैं ऐसे व्यक्तियों से चेतावनी के रूप में बैबिल यों कहता है - "जो काम करना नहीं चाहता, उसे भोजन नहीं दिया जाये ।"[1] आप इन भाइयों से अलग रहें, जो काम नहीं करते ।"[2]

बैबिल में भी कर्म और कर्मफल पर बल दिया गया है । "जो अन्याय करता है, उसे अन्याय का बदला मिलेगा, किसी के साथ पक्षपात नहीं होगा ।"[3] ईश्वर हर कार्य का न्याय करेगा - चाहे वह गुप्त क्यों न हो और वह उसे भला या बुरा सिद्ध करेगा ।"[4] कर्म-विहीन जीवन निष्क्रिय हो जाता है । कर्म का व्यक्ति के जीवन पर व्यापक प्रभाव है । मनुष्य की विवेकशीलता और ज्ञान उसको अच्छे काम करने की प्रेरणा देता है । "क्या लोग कँटीली झाड़ियों से अंगूर या ऊँटकटारों से अंजीर तोड़ते हैं ? इस तरह हर अच्छा पेड़ अच्छे फल देता है और बुरा पेड़ बुरे फल देता है ।"[5] मनुष्य अपने कर्मों के आधार पर अपने भावी जीवन का निर्माण करता है । उसका भावी जीवन उसके वर्तमान कर्मों के आधार पर प्राप्त होता है । आध्यात्मिक कर्मों का संस्कार पुष्ट होने पर मनुष्य निष्काम कर्म करना आरंभ करता है । इस संसार में कर्म ही प्रधान है जो जैसा करता है वैसे ही फल का भागी है । बैबिल के प्रकाशना ग्रंथ में इस प्रकार कहा गया है "देखो मैं शीघ्र ही आऊँगा । मेरा पुरस्कार मेरे पास हैं और मैं प्रत्येक मनुष्य को उसके कर्मों का प्रतिफल दूँगा ।"[6] किसी काम में हाथ लगाओ उस पर

---

1. बैबिल 2 थेस 3:10
2. वही, 3:6
3. बैबिल 1 कोलो 3:23
4. उपदेश 11:14
5. मात्यु 7:16-17
6. प्रकाश 22:12

पूरा अधिकार प्राप्त कर, मन लगाकर काम करना और उस में निष्णात हो जाना अच्छा है । नया नियम के कोलोसि नाम पत्र में लिखा है कि "आप लोग जो भी काम करे, मन लगाकर करें, मानो मनुष्य के लिए नहीं बल्कि प्रभु के लिए काम कर रहे हो ।"[1]

येशु स्वयं कहते हैं कि "जो जो पेड अच्छा फल नहीं लाता, वह काटा और आग में डाला जाता है । इसलिए उनके फलों से तुम उन्हें पहचान लोगे ।"[2] इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि येशु ने कर्मफल पर बहुत ज़ोर दिया है । "मनुष्य जो बोता है, वही लुनता है।"[3] हम भलाई करते-करते हिम्मत न हार बैठे, क्योंकि यदि हम दृढ बने रहेंगे तो समय आने पर अवश्य फसल लुनेंगे । इसलिए जब तक हमें अवसर मिल रहा है, हम सबों की भलाई करते रहे ।

स्वर्ग और नरक संबंधी धारणा :-

भारतीय विचार के अनुसार स्वर्ग नाम दुःख रहित सुख को सूचित करनेवाला है ।"[4] वह देवों का वास स्थान है । स्वर्ग में नन्दन वन जैसे भिन्न प्रकार के रम्य उद्यान रहते हैं । वह स्थान सभी इच्छाओं की पूर्ति करनेवाला होता है । वहाँ सब प्रकार के रस वर्तमान रहते हैं । वहाँ का वातावरण सब प्रकार से विचित्र होता है ।"[5] यहूदी परंपरा में ईश्वर का राज्य और स्वर्ग का राज्य समानार्थी अभिव्यक्तियाँ है । ईश्वर का नाम स्वर्ग भी था हीब्रु, ग्रीक तथा लाटिन में इस शब्द का तीन अर्थों में प्रयोग होता था । ईश्वर की सर्वोपरि सत्ता के लिए, इस सत्ता xxxxxxxxxxxxxx

---

1. बैबिल कोलो 3:23
2. मात्यु 7:19-20
3. गला 6:7
4. वाचस्पत्यं भाग 6
5. शब्दकल्पद्रुमं भाग 7

के प्रयोग के लिए और जिस प्रदेश में इसका शासन हो, उसके लिए ।"[1] बैबिल के अनुसार स्वर्ग शब्द की व्युत्पत्ति इब्रानी भाषा से हुई है, जिसका मुख्य अर्थ है वह स्थान जहाँ ईश्वर अपने दूतों और मुक्ति प्राप्त लोगों के साथ रहते हैं । स्वर्ग इब्रानी शब्द बहुवचन में प्रयुक्त होता है । इस कारण स्वर्ग के कई स्तर माने गये । तीसरे स्वर्ग में ईश्वर का निवास है । स्वर्ग शब्द का दूसरा अर्थ आकाश है । बैबिल के प्रकाशना ग्रंथ में स्वर्ग का चित्रण है । वहाँ ईश्वर के सिंहासन से स्फटिक-जैसे संजीवन जल की नदी बह रही है । नगर के चौक के बीचोंबीच बहती हुई नदी के तट पर, दोनों ओर एक जीवन-वृक्ष है । वहाँ ईश्वर के सेवक उसकी उपासना करते हैं । वे उसे आमने-सामने देखेंगे और उसका नाम उनके माथे पर अंकित होता है । वहाँ कभी रात न होगी । उन्हें सूर्य या दीपक के प्रकाश की ज़रूरत नहीं, क्योंकि प्रभु ईश्वर उन्हें आलोकित करेगा और युग-युगों तक राज्य करेंगे ।[2] यहूदियों को ईश्वर के नाम उच्चारण करने में संकोच था, अतः अन्य शब्दों द्वारा ईश्वर की ओर संकेत करते थे । इन में एक है स्वर्ग ।

तुलसी के अनुसार पुण्य कर्म करनेवालों को स्वर्ग मिलता है । मानस के बालकाण्ड में स्वर्ग और नरक की सूचना मिलती है । स्वर्ग पुण्य स्थान है । भले-बुरे सभी ब्रह्मा के पैदा किये हुए हैं । लेकिन गुण और दोष को विचार कर वेदों ने उनको अलग-अलग कर दिया है ।[3] बैबिल में स्वर्ग का महत्वपूर्ण स्थान है । ईसा ने स्वर्ग को मेरा राज्य, पिता का राज्य और अनन्त जीवन भी कहा । ईसा स्वर्ग से आये ।[4] ईसा ने स्वर्गारोहण किया । स्वर्ग में वह पिता के दाहिने भाग में विराजमान हैं और अन्त में स्वर्ग से आयेंगे ।

मनुष्य को अपने कर्मफल के अनुसार स्वर्ग और नरक मिल जायेगा ।

---

1. मानव पुत्र ईसा - जीवन दर्शन, रघुवंश, पृ. 70
2. बैबिल प्रका 22:1-5
3. सरक नरक अनुराग बिरागा
   निगमागम गुन दोष विभागा ।। - मानस बाल 5:4

बैबिल योहन 3:13

मानस और बैबिल में नरक का भी निरूपण किया गया है ।
मनुष्य शरीर नरक, स्वर्ग और मोक्ष की सीढी है -

नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी । ग्यान विग्यान भगति सुभ देनी ।[1]

अपने व्यवहार के अनुसार मनुष्य को स्वर्ग और नरक मिलता है -

धरनि धामु धनु पुर परिवारू ।
स्वर्ग नरक जहँ लगि व्यवहारू ।[2]

बैबिल में नरक का चित्रण है । पृथ्वी के अगाध गर्त में नरक है ।[3] "Beneath the earth was the great deep, a mighty ocean where all earthly waters had their source. The earth rested secure on great pillars sunk deep in the subterranean waters. Within this lower region was sheol, the gloomy abode of the dead."[4] ईसाई विश्वास के अनुसार नरकदूत तथा अपश्चातापी पापी ईश्वर के दर्शनों से वंचित होकर नरक में अनन्त काल तक दुःख भोगेंगे । इस संबंध में बैबिल की शिक्षा स्पष्ट है - सभी मनुष्य स्वर्ग में प्रवेश नहीं करेंगे । "तब मैं उन्हें साफ साफ बता दूँगा, मैं ने तुम लोगों को कभी नहीं जाना, कुकर्मियों । मुझसे हटो ।"[5] कुछ लोगों का सर्वनाश होगा । जो अपने शरीर की भूमि में बोता है, वह अपने शरीर की भूमि में विनाश की फसल लुनेगा ।"[6] वे दुःखपूर्ण अन्धकार में रहेंगे ।[7]

---

1. मानस उत्त 120:5
2. मानस अयो : 94:3
3. बैबिल उत्प 7:11
4. The people of the covenant, An Introduction to the Old Testament, Ronald, P.69.
5. बैबिल मात्यु 7:23
6. गला.: 6:8
7. मात्यु 13:49-50

यही अन्धकार नरक है । नरक में यंत्रणा और आग का दण्ड भी भोगने की सूचना मिलती है । संसार के अंत में ऐसा ही होगा । "स्वर्गदूत जाकर धर्मियों में से दुष्टों को अलग करेंगे और उन्हें आग के कुण्ड में झोंक देंगे । वहाँ वे लोग रोयेंगे और दाँत पीसते रहेंगे । वे हमें चेतावनी देने के लिए आग का अनन्त दण्ड भोग रहे हैं ।"[1] कुकर्मी पवित्र स्वर्ग दूतों और मेमने के सामने आग और गन्धक की यंत्रणा भोगेगा ।"[2]

मानस और बैबिल में समान रूप से स्वर्ग और नरक का चित्रण मिलता है । दोनों ग्रंथों के अनुसार पुण्य कर्म करनेवालों को स्वर्ग मिलते हैं । अपश्चातापी पापी को नरक मिलते हैं । बैबिल में स्वर्ग का विस्तृत वर्णन चित्रित मिलता है लेकिन मानस में संकेत मात्र मिलता है । बैबिल के अनुसार स्वर्ग राज्य का आरंभ यहाँ से होता है, जो प्रेम, शान्ति और नैतिकतापूर्ण जीवन है । मृत्यु के बाद इसकी पूर्णता होती है । मानस में कहा गया है कि सुकृतियों की आत्मा स्वर्गराज्य में प्रवेश करेगी । बैबिल में भी धर्मियों की आत्मा ईश्वर के साथ स्वर्गराज्य में आनन्द मनायेगी ।

पाप-पुण्य संबंधी विश्वास :-

कर्म के फल के रूप में संसार में पाप और पुण्य की उत्पत्ति होती है । पाप व्यक्ति को ईश्वर से दूर रखता है क्योंकि वह बुरे कर्मों का फल है । पुण्य व्यक्ति के सत्कर्मों का फल है जो उसे ईश्वर का दर्जा देता है । पापी ईश्वर की इच्छा के प्रतिकूल अपनी इच्छा को मनमाना महत्व देता है । पाप से निरंतर और दुराग्रहपूर्ण संबंध बनाये रखने से मनुष्य ईश्वर के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता । ईश्वर के नियम का जान बूझकर और हठ करके उल्लंघन करना पाप है, जिसे मनुष्य उसकी शिक्षा और विवेक द्वारा जानता है । पाप ही एकमात्र सच्ची

---

1. बैबिल यूदा 1:7
2. प्रका 14:10

बुराई है, वह शारीरिक रोग से कहीं अधिक गंभीर है क्योंकि वह मनुष्य के शरीर को नहीं आत्मा को क्षति पहुँचाता है । मनुष्य के कई मानसिक और शारीरिक रोगों का कारण पाप कर्म और तज्जन्य ग्लानि है । सुसमाचार में ईसा ने इसको प्रमाणित किया है । अन्तः चेतना सब से अच्छा तकिया है । { A good Conscience is the best pillow } पापी की ग्लानि उनको बेचैन बनाकर निद्राविहीन कर देती है । पाप का वेतन मृत्यु है ।"[1] आत्मा, मन और शरीर की थकान और मृत्यु लानेवाली भारी टूटन पाप द्वारा हो जाती है ।

"पाप" शब्द यूनानी { Greek } शब्द "हमार्तिया" का अनुवाद है । "हमार्तिया" का शाब्दिक अर्थ "निशाने को लगने में असफल होना है । मूल रूप में उसका लाक्षणिक अर्थ है, मनुष्य के लिए जो ईश्वर की इच्छा और उद्देश्य है उसके अनुरूप बनने में असफल होना । अतः पाप मूल रूप से अवज्ञा है ।

मानस में पाप पुण्य की कोई निश्चित परिभाषा प्रत्यक्ष रूप में नहीं हो पाई है । लेकिन परोक्ष रूप में पाप समाज में प्रचलित कठोर नियम का उल्लंघन माना गया है । स्त्री जाति के प्रति अनीति, दुराचार आदि करना भी पाप है । गोस्वामी ने एक स्थल पर उक्त कथन के औचित्य की पुष्टि की है । बालि ने अपने छोटे भाई सुग्रीव की पत्नी को बलात् हड़प लिया था । सुग्रीव से मैत्री होने पर श्रीराम ने उसे दण्ड का भागी बनाकर संग्राम-स्थल पर बालि के पूछने पर श्रीराम ने उत्तर दिया -

अनुज वधू भगिनी सुत नारी । सुन सठ कन्या सम ए चारी ।"[3]
इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकहि जेई । ताहि बधे कछु पाप न होई ।

---

1. बैबिल रोमि 6:23
2. पौलोस के पत्र में धर्म वैज्ञानिक धारणाएँ मार्क्सवेल आर रोबिनसन, पृ. 81
3. मानस किष्कि: 8:4

रावण ने सीता को हरण करके पाप किया । रावण कामी है । उसके काम के पीछे जो प्रेरक शक्ति है वह ध्वंसात्मक है । वह संसार को वश में लाना चाहता है ।

"क्रोधवंत तब रावन लीन्हिसि रथ बैठाइ
चला गगनपथ आतुर भयँ रथ हाँकि न जाइ ।"[1]

छोटे भाई की पत्नी, बहिन, बेटे की पत्नी तथा कन्या, चारों समान होती हैं । इनको बुरी दृष्टि से देखना पाप है । तुलसी ने यह स्पष्ट किया है कि वाममार्गी, कामी, कंजूस, अत्यन्त मूढ, अति दरिद्री, बदनाम, बहुत बूढा, नित्य का रोगी, निरन्तर क्रोध करनेवाला, ईश्वर से विमुख, वेद और सन्तों का विरोधी, स्वार्थी, पराई, निन्दा में रत और महापापी ये चौदह प्राणी जीवित ही मरे के समान है -

"कौल काम बस कृपिन विमूढा । अति दरिद्र अजसी अति बूढा ।"
सदा रोगवस संतत क्रोधी । विष्नु विमुख श्रुति संत विरोधी ।
तनु पोषक निंदक अव खानी । जीवन शव सम चौदह प्रानी ।"[2]

तुलसी के अनुसार मनुष्य दिन-रात पाप करते रहते हैं -

"पाप करत निसि बासर जाही ।"[3]

बैबिल के प्रथम खण्ड के अनुसार ईश्वर ने मनुष्य को अपना प्रतिरूप बनाया है । उसने उसे बुद्धि और इच्छा-शक्ति दे रखी है जिस से वह अपने स्रष्टा को जान सके और उसकी ओर प्रवृत्त हो सके । उसने मनुष्य को स्वतंत्र बनाया जिस से वह अपना निर्णय स्वयं कर सके और अपने द्वारा चुना हुआ मार्ग निर्धारित कर सके । इसी आत्मनिर्णय की शक्ति में मनुष्य का महत्व छिपा

---

1. मानस अरण्य 28
2. मानस लंका 30:2
3. मानस अयो 250:3

रहता है । आदम और हौवा ने ईश्वर के आदेश के विरुद्ध फल खाकर पाप किया । बाद में काइन ने ईर्ष्यावश अपने भाई आबेल की हत्या की जिस से मानवता के इतिहास में सर्वप्रथम हत्या का प्रारंभ हुआ । मानव जाति ने पाप के पथ पर चलना शुरू कर दिया ।

पाप सार्वभौमिक है । संत पोल ने रोमियो के नाम पत्र में लिखा है कि सब ने पाप किया है और ईश्वर की महिमा से रहित है ।[1] पाप दासता है - सब पाप के अधीन है । पोल बार बार इस तथ्य पर बल देते हैं । पाप ने मृत्यु को फैलाते हुए शासन किया ।[2] जो पाप की अधीनता में हो जिसका अंत मृत्यु है जो आज्ञाकारिता चाहे करे, जिसका फल धार्मिकता है । पाप मनुष्य के अन्दर वास करता है । मनुष्य सत्कर्म करने में असमर्थ है, परंतु वह अनिच्छा से ऐसे कुकर्म करता है जो वह नहीं करना चाहता । येशु मनुष्य को इस दुर्दशा से मुक्त करता है ।

येशु ने यह शिक्षा भी दी है - ईश्वर के लिए और पडोसी के लिए प्रेम का अभाव पाप है । प्रेम का भाव असंख्य धार्मिक, सामाजिक, रूढियों के भार से चूर-चूर हो जानेवाला था । ईसा ने जो सुसमाचार सुनाया है वह प्रेम का है । शोषण, दमन और लूट-मार स्नेह हीनता का प्रकट रूप है । स्नेह-हीनता का उद्भव स्वार्थता से होता है । अतः स्नेह हीनता पाप है ।

ईसा ने पापियों को रोगी के रूप में देखा है । नीरोगों को नहीं, रोगियों को वैद्य की ज़रूरत होती है । मैं धर्मियों को नहीं, पापियों को बुलाने आया हूँ ।[3] रोगियों के समान पापियों से भी ईसा ने सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार किया है । उन्होंने पाप से घृणा की और पापियों से प्रेम किया ।

---

1. बैबिल रोमि 3:23
2. वही, 5:21
3. बैबिल मार 2:17

ईसा ने सभी मनुष्यों को पापी कहा है । यह सत्य है कि पाप के दण्ड के रूप में संसार में मृत्यु आयी है और मृत्यु के साथ दुःख भी । लेकिन शारीरिक रोग और पापी जीवन का कोई निश्चित संबंध नहीं है । जब तक पापी अपने पाप से लगा रहता है तब तक वह खोया रहता है । जैसे ही वह अपना पापपूर्ण जीवन छोड देता है, उसके लिए पछतावा करता है, उस में सुधार करता है । उसी क्षण उसकी रक्षा हो जाती है और वह सफल जीवन तथा प्रभु की मित्रता पा जाता है ।

येशु ने अपने धन पर भरोसा रखनेवाले धनिकों, लोभियों, अहंकारियों, जो विधवाओं और अनाथों को सताते हैं, जो पवित्रता का दंभ करते हैं, जो विषयी और आत्मसंतुष्ट है, उन सबों पर शोक प्रकट किया । योहन बपतिस्मा को प्राण-दण्ड देनेवाले अपने भाई की पत्नी को अपनानेवाले राजा हेरोद को येशु ने वह लोमडी कहा है, धोखा देनेवाले शिष्य यूदास को यहाँ तक कह दिया है कि यदि उसने जन्म न लिया होता तो अच्छा होता । जो व्यक्ति बच्चों को पाप सिखा कर बुरा बनाते हैं, उनके बारे में वे कहते हैं कि यदि उनके गले में चक्की बाँध कर उन्हें समुद्र में फेंक दिया जाता तो बडा अच्छा रहता ।

येशु यह अच्छी तरह जानते थे कि पाप से मनुष्य की क्या क्षति होती है, इसी से उन्होंने यह उपदेश दिया है कि उस से बचने के लिए मनुष्य को हर तरह का बलिदान देने के लिए तैयार रहना चाहिए । येशु ने ज़ोरदार शब्दों से स्पष्ट किया है कि कोई भी पीडा सहन करना और अंगहीन होकर रहना पाप करने की अपेक्षा कहीं अच्छा है । येशु अपने श्रोताओं को पछतावा करने के लिए कहते हैं ताकि वे मृत्यु का शिकार न बनें । येशु से मिलने पर बहुतों को अपने पापों पर लज्जा आती थी ।

पापी होने की गहरी अनुभूति और पाप के प्रति भारी घृणा, ईश्वर और धार्मिक जीवन की ओर झुकने की सब से पहली अवस्था है । पापी के

लिए येशु के प्यार और येशु के लिए पापी के प्यार ने अनेक पापी को नैतिक दुरवस्था की नीचतम कोटि से पवित्रता के सर्वोच्च शिखर पर ला दिया । येशु ने पाप की निन्दा की तो उन्होंने पछतावा करनेवाले पापी पर दया भी दिखायी । येशु के संपर्क और प्रभाव से उन लोगों की कलंकित आत्मा बर्फ जैसे उज्ज्वल हो जाती थी । जिस प्रकार उन्होंने उन कोढियों के चमडे को जो उन में विश्वास रखते थे, बालकों के शरीर के चमडे की भाँति स्वस्थ और ताज़ा बना दिया उसी तरह उन्होंने विश्वासपूर्वक अपने निकट आनेवाले पापियों की आत्मा को बालकों की आत्मा के समान निर्दोष और शुद्ध कर दिया ।

पापी ईश्वर का खोया हुआ बालक है, उसे किसी भी मूल्य पर प्राप्त करना है और जब वह मिल जाता है तब कितनी अधिक प्रसन्नता होती है । येशु, फरीसियों और शास्त्रियों को, जो पापियों से उनके निकट संपर्क के विरोधी थे , यह शिक्षा देना चाहते थे कि ईश्वर उन पापियों को सन्मार्ग पर लाने के लिए कितना चिंतित हैं । उन्होंने कई दृष्टान्त दिये । एक दृष्टान्त है - एक गृहिणी का उदाहरण देते हुए येशु ने कहा "या कौन ऐसी स्त्री है जो दस सिक्कों में से एक खो देने पर बत्ती जलाकर और घर बुहराकर तब तक जी लगाकर खोजती रहे जब तक उसे न पाये और पा लेने पर वह अपनी सखियों और पडोसियों को इकट्ठा करके कहे - मेरे साथ आनन्द मनाओ क्योंकि मैं ने खोया हुआ सिक्खा पाया है । मैं तुम से कहता हूँ उसी प्रकार स्वर्ग में एक पश्चातापी पापी के लिए दूतगण आनन्द मनायेंगे ।

ईश्वर दयालु और करूणामय है अत: वह मनुष्य को अपने आचरण सुधारने के लिए बहुत अवसर देता है । पापी को दण्ड देने के पहले वह इस आशा से देर करता है कि किसी तरह उसका हृदय पिघल जाय और बदल जाय । पापी को ईश्वर की करूणा का दुरूपयोग नहीं करना है, उसे सुधरने के लिए बराबर नये अवसर की भी आशा नहीं करनी चाहिए । बैबिल अनुशासित पुण्य है प्रेम,

परोपकार, क्षमाशीलता, आनन्द, शान्ति, सहनशीलता, मिलनसारी, दयालुता, ईमानदारी, सौम्यता, सेवा-भाव, शत्रुओं से प्रेम, एकता, न्याय, दृढता, धर्मोत्सा कृतज्ञता, विनम्रता, सादगी, संयम आदि । पाप या दुर्गुण है - अन्याय, प्रतिकार, पाखण्ड, व्यभिचार, असंयम, लोभ,घमण्ड, क्रोध, झगडा, चुगलखोरी, झूठ, ढिठाई, कृतघ्नता, मुकदमेबाजी, अश्लील बातचीत, अशुद्धता, लम्पटता, मूर्तिपूजा, जादू-टोन बैर, फूट, ईर्ष्या, स्वार्थपरता, मनमुटाव, दलबन्दी, मतवालापन, रंगरलियाँ, और इस प्रकार की और बातें ।[1] जो हृदय में भरा है, वही तो मुँह में आता है । अच्छा मनुष्य अपने अच्छे भण्डार से अच्छी बातें निकलता है और बुरा मनुष्य अपने बुरे भण्डार से बुरी चीज़ें ।

मनुष्यों को पाप से मुक्त करना ईसा का मुख्य उद्देश्य था । वे ईश्वर का मेमना है, जो संसार का पाप हर लेते हैं । वे पापियों से सहानुभूति रखते हैं - पापिनी स्त्री, पश्चातापी डाकू, समारी स्त्री, व्यभिचारिणी का बचाव आदि । फरीसी लोग न केवल मूसा-संहिता के नियमों का, बल्कि भोजन, विश्राम-दिवस आदि से संबंधित परंपरागत रिवाज़ों का उल्लंघन भी पाप समझते थे और ऐसा करनेवालों को 'पापी' मानते थे । इस कारण वे ईसा को नाकेदारों और पापियों का दोस्त मानते थे । ईसा ने उस कर्मकाण्डी मनोभाव का कडा विरोध किया । ईसा को पाप क्षमा करने का अधिकार था और उन्होंने वह अधिकार अपने शिष्यों को भी दिया । किन्तु वह पश्चाताप आवश्यक समझते थे । पश्चाताप के अभाव में नरक मिलेगा ।

पापी ईश्वर की पवित्र इच्छा के विरुद्ध पाप करता है, उनकी आज्ञा का उल्लंघन करता है । मनुष्य का सारा जीवन, पाप के अधीन है । हमारे बार बार पाप करने से ईश्वर की दया पर कोई प्रभाव नहीं पडता है लेकिन पापी मनुष्य से पश्चाताप चाहता है । ईश्वर कहता है "तुम्हारे पाप

---

1. बैबिल गला 5:19-23.

चाहे लाल रंग के हो, तो भी वे हिम की नाई उजले हो जायेंगे और चाहे अर्गवानी रंग के हो तो भी वे ऊन के समान श्वेत हो जायेंगे ।[1]

मानस और बैबिल में पाप और पुण्य के विवेचन में स्पष्ट हो जाता है कि पाप मनुष्य और ईश्वर से अलगाव है । मानस में पाप सामाजिक नियमों का उल्लंघन है । बैबिल में पाप और पुण्य का विवेचन विस्तार से प्रतिपादित करते हैं । बैबिल में पाप, प्रेम का अभाव है । बैबिल में पाप के लिए कई परिभाषाएँ और उदाहरण मिलते हैं । लेकिन मानस में प्रत्यक्ष रूप से कोई परिभाषा नहीं मिलती । मानस में कहा गया है कि मनुष्य दिन-रात पाप करते ही रहते हैं, ठीक उसी प्रकार बैबिल में बताया कि सब ने पाप किया है ।

पुनर्जन्म और पुनरुत्थान संबंधी धारणा :-

शरीर छूटने के पहले ही यदि मनुष्य उस प्राण तत्व ब्रह्म तत्व को जानने में समर्थ हो सका तो वह ठीक है । तब उसका मानव जीवन सफल और सार्थक हो जाता है । यहाँ यह संकेत है कि मानव जीवन का परम लक्ष्य इसी जीवन में ा साक्षात्कार करना है । यदि ईश्वरीय तत्व को जाने बिना ही यह शरीर छूट गया तो रचे गये लोकों में उसे पुनः शरीर धारण करना पडेगा । हिन्दू विश्वास के अनुसार इस संसार में चौरासी लाख योनियाँ हैं । पुनर्जन्म का सिद्धांत विज्ञान एवं अनुभवसम्मत है । जन्म मरण का चक्कर ही बन्धन है इस बन्धन से छूटने का एक ही उपाय है । वह इस शरीर में ही ईश्वरतत्व - आत्मतत्व का साक्षात्कार कर लिया जाए । ब्रह्म तत्व-आत्म तत्व के बोध से इसी जीवन में ही मुक्ति है ।

जीव अपना जीर्ण शरीर उसी प्रकार मृत्यु के समय त्याग देता है जिस प्रकार मनुष्य फटे पुराने वस्त्रों को फेंक देता है । भगवान शिव के शाप से

---

1. बैबिल इसया : 1:18

काक भुशण्डी को सहस्रों जन्म लेने पड़े । उन्हें कभी देवता, कभी मनुष्य, कभी ब्राह्मण और अन्त में काक होकर शरीर धारण करना पड़ा था -

"देव दनुज नर नाग खग प्रेत पितर गन्धर्व
बंदउँ किंनर रजनिचर कृपा करहु अब सर्व ।"[1]

चौरासी लाख योनियों में चार प्रकार के जीव, जल, पृथ्वी और आकाश में रहते हैं -

"आकार चारि लाख चौरासी । जाति जीव जल थल नभ वासी ।
सीय राममय सब जगजानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ।"[2]

ईश्वर से विमुख जीव काल, कर्म और स्वभाव के वश होकर भटकता डोलता है और अपने कर्म के अनुसार जन्म मरण के कष्ट अनेक योनियों में पाता है ।[3]

तुलसी कालीन समाज में और तुलसी भी पुनर्जन्म के प्रति पूर्ण विश्वास था ।

पुनर्जन्म का सिद्धांत येशु नहीं मानते हैं, व्यक्ति पिछले जन्म के पापों के कारण दण्डित नहीं होते उनका कोई पूर्वजन्म नहीं । इसलिए ईसाई पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता । लेकिन पुनरुत्थान में विश्वास करता है । पुराना नियम में पुनरुत्थान के दो ही वर्णन है । एक धर्मी इस्राएलियों के पुनरुत्थान का वर्णन है । इस में धर्मियों का पुनरुत्थान आनन्द और पुरस्कार के लिए होता है । "मृतक फिर जीवित होंगे, उनके शरीर फिर खड़े हो जायेंगे । तुम, जो मिट्टी में सो रहे हो, जाग कर आनन्द के गीत गाओगे ; क्योंकि तेरी ओस ज्योतिर्मय है और पृथ्वी मृतकों को पुनर्जीवित कर देगी ।"[4] दूसरा यहूदी और

---

1. मानस बाल 7 घ
2. वही, 7:1
3, जे जनमे कलिकाल कराला । करतब बायस वेष मराला ।
   चलत कुपंथ बेद मग छाँडे । कपट कल मल भाँडे । मानस बाल 11:1
4. बैबिल इसया 26:19

धर्मत्यागी दोनों के पुनरुत्थान का वर्णन, जिस में एक तो आनन्द और पुरस्कार के लिए और दूसरे दुःख और दण्ड के लिए जी उठेंगे । " जो लोग पृथ्वी की मिट्टी में सोये हुए थे, वे बड़ी संख्या में जाग जायेंगे, कुछ अनन्त जीवन के लिए और कुछ अनन्तकाल तक तिरस्कृत और कलंकित होने के लिए । धर्मी आकाश की ज्योति की तरह प्रकाशमान होंगे ।"[1] इस काल के साहित्य में धर्मियों के पुनरुत्थान की बात कही गयी थी जिस से आनन्द प्राप्त कर सके । धर्मियों की आत्माओं के पुनरुत्थान पर अधिक ज़ोर दिया गया है । "बारह पितरों की मृत्यु लेख में बताया गया है कि पूरी इस्राएल जाति और पूरी मनुष्य जाति जी उठेगी, प्रथम सदी ई.पू. के साहित्य में बताया गया है कि धर्मी नये आकाश और नयी पृथ्वी में अनन्त जीवन बिताने के लिए जी उठेंगे । उन्हें परिवर्तित देह दी जायेंगी । दुष्ट न्याय के लिए जी उठेंगे । उन्हें पीड़ा मिलेगी । येशु मृत्यु के बाद तीसरे दिन जी उठे ।"[2] "सब मनुष्य पुनर्जीवित होगा । उन सबों को अन्तिम दिन पुनर्जीवित कर दूँगा ।"[3] येशु ने मृत्यु को जीत लिया है । अपने मरने और जी उठने से येशु ने मृत्यु की शक्ति पर जय पाई । मृत्यु की दुःखान्त भावना नष्ट हो गई, क्योंकि अब हमें निश्चय है कि येशु जीवित है इसलिए हम भी जीवित रहेंगे । सुसमाचारों से स्पष्ट है कि पुनरुत्थित ख्रिस्तु एक दर्शन नहीं, दृष्टिभ्रम नहीं, प्रेतात्मा भी नहीं, वरन् एक वास्तविक व्यक्ति था । वह येशु था जिसने मृत्यु पर विजय पाई और उसमें से निकलकर जीवित होकर लौट आया था ।

मानस में पुर्नजन्म और बैबिल में पुनरुत्थान का विस्तृत वर्णन मिलता है । मानस के अनुसार पुण्यियों की आत्मा मृत्यु के बाद ईश्वर में विलीन हो जाती है और पापियों को आत्मा उनके कर्म के अनुसार पुनर्जन्म को प्राप्त होती है । लेकिन बैबिल और येशु पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता । येशु ने पुनरुत्थान

---

1. बैबिल इसया 26:20
2. मात्यु 28:6
3. योह 6:39

की शिक्षा दी । बैबिल में पुनर्जन्म का अर्थ होता है "मन परिवर्तन" । बैबिल के अनुसार अन्तिम दिन में येशु फिर आयेगा । धर्मी अधर्मी सब जी उठेगा । धर्मी येशु के साथ स्वर्ग में प्रवेश करेगा और अधर्मी तिरस्कृत हो जाएगा । उन्हें नरक दण्ड भोगना पड़ेगा ।

मानस और बैबिल में दर्शन :-

अंग्रेज़ी में दर्शन का समानार्थक शब्द Philosophy है । इसकी व्युत्पत्ति युनानी भाषा (Greek) के Philosophos से हुई है । यह दो शब्दों के मेल से बना हुआ है, फिलास = प्रेम या अनुराग तथा सोफिया= विद्या । अत: जिसका अर्थ होता है ज्ञान से प्रेम या विद्यानुराग । सत्य का दर्शन करके ही तो मनुष्य ज्ञानी कहलाता है । भारतीय दर्शन भी इस तथ्य को इन शब्दों में स्वीकार करता है -
"नहि ज्ञानेन सदृश: पवित्रमिह विद्यते ।"[1]

दर्शन शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - "दृश्यते अनेन इति दर्शनम् ।" लेकिन तत्व विचार के क्षेत्र में दर्शन का अर्थ सविकल्प इन्द्रिय-प्रत्यक्ष न होकर निर्विकल्प अतीन्द्रिय अनुभूति है । दर्शन का क्षेत्र व्यापक है । दर्शन, जो दृष्टिगोचर है उसे भी देखता है एवं जो स्थूल दृष्टि से परे हैं, उसे भी देखता है अर्थात् दर्शन के क्षेत्र में दृश्यादृश्य दोनों ही आते हैं । भारत वर्ष में दर्शन आत्मदर्शन, आध्यात्म-विद्या या ब्रह्म विद्या को समस्त ज्ञान की पराकाष्ठा माना गया है । यही आत्म-विद्या वही अमृत-विद्या है जिसे उपनिषदों में रहस्य-विद्या कहा गया है । मुण्डक ने जिसे सर्वविद्या प्रतिष्ठा और कौटिल्य ने "जिसे सर्वविद्यानामुपाय: कहा और जिसके संबंध में शंकराचार्य की उक्ति है - "दीप्यते हि इदं अतिशयेन ब्रह्म-विद्या सर्वविद्यानाम् ।" इसी की महत्ता के

---

1. गीता 4:38

प्रतिपादन के प्रसंग में आध्यात्मविद्या को अपना स्वरूप बतलाते हुए भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा - आध्यात्म विद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् । बैबिल में सोलमन ने कहा कि "प्रज्ञा सर्वोपरि है । सब से पहले प्रज्ञा करो किसी भी कीमत पर सद्बुद्धि प्राप्त करो ।"[1]

डा. राधाकृष्ण का कहना है कि दर्शन का कार्य जीवन को व्यवस्थित बनाना और कर्म को मार्ग प्रदर्शित करते रहना है । दर्शन का कर्तव्य यह है कि वह जीवन को समझने का प्रयत्न करे और आवश्यक तत्वों की जानकारी के आधार पर एक सुव्यवस्थित विवेकपूर्ण दृष्टिकोण विकसित करें । जब तक जीवन और जगत् की विभिन्न समस्यायें मानव समाज के समक्ष अवरोध के रूप में उपस्थित रहेंगी तब तक उनके निराकरण हेतु दर्शन की ही शरण लेनी होगी । जब तक दर्शन उन समस्याओं के सत्य का उद्घाटन नहीं कर देता तब तक मानव कर्म-क्षेत्र में प्रवृत्त हो ही नहीं सकता । तभी तो अरस्तू ने दर्शन को वह विज्ञान कहा है जो सत्य की विवेचना किया करता है । डा. चटर्जी का मत है कि युक्तिपूर्वक तत्वज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न को दर्शन कहते हैं ।"[2]

सत्यमात्र की विवेचना कर देने से उन सभी क्रियाओं पर प्रकाश नहीं पड जाता जो कि दर्शन के क्षेत्र में प्रमुख स्थान रखती हैं । दर्शन का संबंध बुद्धि से हैं । दर्शन सोचना सिखाता है पर दर्शन को यह बताना आवश्यक है कि इस बाह्य जगत् पर मानव का नियंत्रण किस प्रकार रखा जा सकता है ? पुनः निर्माण कैसे संभव हो सकता है और सामने लक्ष्य क्या रखना चाहिए । आज का युग निर्माण का युग है । जो इस निर्माण में पूर्ण योग दे सके, वही सच्चा ज्ञान है, वही सच्चा दर्शन है ।

---

1. बैबिल सूक्ति 4:7
2. भारतीय दर्शन, चटर्जी एवं दत्त, पृ. 1.
   भारतीय दर्शन, डा. राधाकृष्णन्, विषयप्रवेश

दर्शन-ईश्वर के अस्तित्व की खोज और उसके साक्षात् का मनुष्य का प्रयत्न है । इसी से दर्शन को "ब्रह्म विद्या" भी कहा जाता रहा है । भारतीय जीवन में धर्म और दर्शन का व्यापक प्रभाव रहा है । दर्शन के माध्यम से जीवन की विशिष्ट पद्धति और जीवन से संबंधित विश्व, मनुष्य एवं जीवसृष्टि, मनुष्य के सुख दुःख, मुक्ति, आदि के प्रति चिन्तन की दीर्घ परंपरा भारत में देखी जाती है । मनुष्य अपने चर्म-चक्षुओं के द्वारा उसके सभी ओर फैले विश्व को, मानव समाज को देखता है । जाने अनजाने में वह समाज एवं वातावरण से प्रभाव ग्रहण करता है । जीवन की ओर देखने की उसकी विशिष्ट दृष्टि बन जाती है ।

दर्शन सामाजिक चेतना का ही परिष्कृत रूप है । वह जीवन की यथार्थता को जानने अथवा समझने का साधन हैं अर्थात् सामाजिक चेतना का वैज्ञानिक विश्लेषण करने का साधन दर्शन है । दर्शन का संबंध देखने से हैं । जो व्यक्ति जीवन के गहन रहस्य बिन्दुओं को देखने में समर्थ है, वही दार्शनिक है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दर्शन का प्रभाव देखा जा सकता है क्योंकि दर्शन का संबंध मूल्यों और दृष्टिकोण से है । दर्शनशास्त्र में मूल्यों, आदर्शों और गंभीर लौकिक-अलौकिक प्रसंगों से संबंधित विषय आते हैं । आधुनिक युग में परंपरागत धर्म में मनुष्य का विश्वास कमज़ोर पड जाने से दर्शन का महत्व और भी बढ गया है । दार्शनिक चेतना युग विशेष में मानवीय चेतना को प्रभावित करती है और उसके माध्यम से सामाजिक चेतना प्रभावित होती है ।

मानस की दार्शनिक पृष्ठभूमि

तुलसी ने "आध्यात्म रामायण" सदृश ही मानस में राम को परम तत्व या परब्रह्म ही माना है । सृष्टि का नियामक, ब्रह्म ही माना गया है । उन्हें ईश्वर दैव, विधाता आदि नाम से अभिहित किया जाता है ।

---

1. साहित्य और आधुनिकता बोध, देवेन्द्र इस्सर, पृ. 84.

समन्वयवादी तुलसी ने राम के विविध स्वरूपों से समझौता करते हुए अपनी समन्वयवादिता का निर्वाह करने का ही प्रयत्न किया है । तुलसी के राम वेदपुराणोक्त परब्रह्म परमात्मा ही हैं । उपनिषद्कारों और वेदांतियों ने जिसे ब्रह्म कहा है शैवों ने जिसे परम शिव और वैष्णवों ने परम विष्णु माना है, जो सृष्टि के निर्माता एवं संहर्ता, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान हैं । हिन्दू धर्म में ईश्वर का मुख्य लक्षण सच्चिदानन्द माना गया है अर्थात् सत् चित् आनन्द । सत् का अर्थ है जो सदैव से है, और सदैव रहेगा, चित् का अर्थ है चैतन्यस्वरूप अर्थात् सुख, दुःख, ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि सब द्वन्दों से परे । वह जीव तथा प्रकृति अर्थात् माया का अधिपति हो । आत्मा जिस प्रकार शरीर का संचालन करती है उसी प्रकार वह संसार का संचालन करती है । यही जगत् का निमित्त कारण है । वह प्रकृति से सृष्टि की रचना करता है और जीवों को उनके कर्मानुसार फल देता है, पौराणिक परंपरा के अनुसार सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, विश्वपालक विष्णु और विनाशकर्ता शिव हैं, जब कि मानस के अनुसार ये सब राम के अंश हैं । वस्तुत: राम अखिल विश्व के कारण के भी कारण हैं । तुलसी के राम एक दार्शनिक अवधारणा मात्र नहीं है, बल्कि उनकी व्यावहारिक मूल्यवत्ता है ।

सच तो यह है कि तुलसी के राम और बैबिल में येशु की सच्ची सार्थकता उनके लोक-संग्रही अवतार रूप में हैं, उसी को सैद्धांतिक समर्थन देने के लिए तुलसी ने विभिन्न दर्शनों की शब्दावली का उपयोग किया है । वह बैबिल में सार्थक बन गया है ।

---

1. तुलसी साहित्य, नीति, भक्ति और दर्शन, डा. हरिश्चन्द्र वर्मा, पृ. 36

बैबिल की दार्शनिक पृष्ठभूमि :-

बैबिल के पुराना नियम का दर्शन जानने के लिए मिस्र और हीब्रू दर्शन की पृष्ठभूमि का ज्ञान आवश्यक है । क्योंकि इनका प्रभाव बैबिल के पुराने नियम में हैं । विश्व सभ्यता के आरंभ में ही मिस्री सभ्यता ने परिपक्व दर्शन का विकास किया था । मिस्र का प्राचीन दर्शन मुख्यत: नैतिक और "पाहोप" राजनीतिक है । नैतिक "दर्शन के अन्तर्गत के सिद्धांत (Instructions of Ptahhotep) का उल्लेख किया जा सकता है । बैबिल के ज्ञान साहित्य (Wisdom Literature) में इनका प्रभाव दृष्टिगत होता है । पाहोप (Ptahhotep) की शिक्षा में नैतिक गुणों के विकास का वर्णन है । उसके बाद, अमेनमोप ने अपने ग्रंथ "अमेनमोप के ज्ञान" (Wisdom of Amenemope) में विश्व बन्धुत्व और भाई चारे का सन्देश दिया था । यह एकेश्वरवादी था और ईश्वर को ही संपूर्ण सृष्टि का कर्ता मानता था ।

दर्शन के क्षेत्र में समकालीन निकट पूर्व में मिस्र को छोडकर हीब्रू सब के आगे थे । उनका दर्शन मनुष्य के जीवन और भाग्य से ही संबंधित था । उनके विचार मुख्यत: व्यक्ति से संबंधित थे । उनका दर्शन नैतिक है जिस में व्यक्ति को शान्त, बुद्धिमान और ईमानदार बनने का उपदेश दिया गया है । दार्शनिक ग्रंथों में पुराना नियम के ज्ञानसाहित्य, सभाउपदेशक, इसया की पुस्तक आदि प्रमुख हैं ।

बैबिल के नया नियम का दर्शन जानने के लिए यूनानी, यहूदी दर्शन की पृष्ठभूमि का ज्ञान आवश्यक है । क्योंकि इन दर्शनों का परोक्ष या प्रत्यक्ष प्रभाव नया नियम में दिखाई देता है । यूनानी दर्शन के क्षेत्र में सुकारात (469-399 ई.पू.) प्रथम व्यक्ति था जिसने दर्शन को भौतिकता से नैतिकता की ओर मोड दिया था । क्रियात्मक उद्देश्य के लिए ज्ञान का होना अति

आवश्यक है जिस से हम गलत मार्ग न लें । मनुष्य का आन्तरिक चरित्र उसका विवेक है । विवेक व्यक्ति को विवेकशील बनता है कि वह ठीक और नीतिपूर्ण कार्य करें । सुकारात ने न्यायाधीशों से कहा कि "मैं तुम्हारी बात से बढ़कर ईश्वर की बात मानूँगा । ज्ञान के द्वारा जब शोध कार्य ठीक होता है तो उसके परिणामस्वरूप चार गुण मिलते हैं, दूरदर्शिता, साहस, आत्मविश्वास और न्याय । इसका मसीही आध्यात्मिक ज्ञान में भी विशेष महत्व है । वह ईश्वर की आराधना हृदय की पवित्रता से करने पर बल देता था । बैबिल के पौलोस की पत्रियों में उसकी शिक्षाओं का प्रभाव दिखाई पड़ता है । अफलातून §427-347 ई.पू.§ सुकारात का शिष्य था । अफलातून ने सुकारात के विचारों को आगे बढ़ाया । नव-अफलातूनवाद नामक दर्शन का प्रभाव मसीही धर्म विज्ञान पर बहुत पड़ा । इनके अनुसार ईश्वर निराकार सिद्ध सत्य है । असीम और अगम्य है । ईश्वर ने स्वयं इस जगत को नहीं बनाया । यह ईश्वर के अधीनस्थ शक्तियों द्वारा निर्मित हुआ । मनुष्य के लिए आध्यात्मिक ज्ञान आवश्यक है । इसके द्वारा वह इस जगत् को पार करके निराकार ईश्वर में लीन हो जाता है । फिलो के दर्शन का मुख्य लक्ष्य उस पवित्र ईश्वर में एकाग्र हो जाने में हैं । फिलो के इस सिद्धांत का प्लोतीन ने विकास किया और उसने कहा मनुष्य कुछ नहीं पर ईश्वर ही सब कुछ है । ईश्वर के संबंध में "स्तोइकी शिक्षा थी कि मनुष्य विश्व आत्मा का अंश है । इसलिए उसकी आत्मा पवित्र है जो आत्माएँ उन्नति करती हैं । वे विश्वात्मा में मिल जाती हैं । आत्मा की अमरता विश्व आत्मा में मिलना है ।

जोन रचित सुसमाचार का आरंभ इतना महत्वपूर्ण और गहन है कि हमें उसके एक-एक पद का अध्ययन करना चाहिए । यह जोन का महान विचार है कि येशु ईश्वर की सृष्टि करनेवाला, जीवन देनेवाला और ज्योति देनेवाला वचन है, कि येशु ईश्वर की वह शक्ति है जिसने जगत् की सृष्टि की और विश्व की वह बुद्धि है जो जगत् को संभालती है और यह वचन, बुद्धि एवं शक्ति इस पृथ्वी पर

मानव एवं दैहिक रूप में आई है । "आल्फा और ओमेगा आदि और अन्त में हूँ ।"[1] यदि ईश्वर का वचन शाश्वत प्रबन्ध का एक अंश था, तो इसका अर्थ यह है कि ईश्वर सदा ही येशु के समान था । ईश्वर के क्रोध और विनाश और जलन के विषय जो बैबिल के पुराना नियम में मिलते हैं, हम क्या कहें ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ईश्वर नहीं बदला, मानव का ईश्वर संबंधी ज्ञान बदला है । वचन ईश्वर था ।"[2] इसका अर्थ यह हुआ कि हम कह सकते हैं कि वचन का वही चरित्र और गुण और तत्व और सत्ता थी जो ईश्वर की थी । येशु मन, हृदय, सत्ता में इतना पूर्ण रूप से ईश्वर के समान हैं, कि हम येशु में पूर्ण रूप में यह देखते हैं कि ईश्वर कैसा है । अतः जोन अपने सुसमाचार के आरंभ में ही यह कथन करता है कि येशु में ही मनुष्यों पर सिद्ध रूप में यह प्रकाशित होता है कि ईश्वर सदा कैसा था और सदा कैसा रहेगा और ईश्वर की मनुष्यों के प्रति क्या भावना है और वह मनुष्यों के लिए क्या चाहता है । "आदि में ईश्वर ने सृष्टि की ।"[3] वचन, सब वस्तुओं की सृष्टि करता है, ईसाई धर्म का सदा यह विश्वास रहा है कि ईश्वर ने शून्य में से सृष्टि की रचना की । मसीही धर्म का सदा यह विश्वास रहा है कि यह जगत् ईश्वर का है । ईश्वर संसार में घनिष्ठ रूप से उलझा हुआ है । यदि संसार में बुराई है तो वह मनुष्य के पाप के कारण है । यह ईश्वर का संसार है, इसलिए कोई भी स्थिति उनके नियंत्रण के बाहर नहीं है । उद्धार के कार्य में ईश्वर मनुष्यों को और संसार को, जो सदा उसके थे, अपने पास लौटाना चाहता है । ईश्वर अनादि सगुण और निर्गुण है "वह ईसामसीह एक रूप रहता है - कल आज और अनन्त काल तक ।"[4] ईश्वर एक है, जो विश्व का स्रष्टा और सर्व विधाता है तथा उसकी प्रज्ञा सर्वव्यापी है ।

प्रसिद्ध बैबिल पण्डित थॉमस आक्विनास के दर्शन में बुद्धिवाद प्रबल है । थॉमस का अडिग विश्वास है कि व्यक्ति बुद्धिशील है क्योंकि मनुष्य

---

1. बैबिल प्रकाश:21:6
2. जोन 1:1
3. उत्पत्ति 1:1

की सृष्टि ईश्वर के स्वरूप पर की है । थॉमस के अनुसार समस्त प्रकृति और पशु-पक्षी ईश्वर के लक्ष्य की पूर्ति करते हैं । उन में बुद्धि नहीं है इसलिए वे ऐसे बने हैं कि स्वभाववश ईश्वर के लक्ष्य की पूर्ति करें । परन्तु ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धि दी है और संकल्प की स्वतंत्रता प्रदान की, इसलिए यह ईश्वर की इच्छा है कि मनुष्य सजग एवं स्वतंत्र रूप से ईश्वर के साथ सहयोग करके अपने लक्ष्य की प्राप्ति करे । संत अगस्टिन मानता है कि ईश्वर से प्रेम ही यूनानी दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत चार सद्गुणों (प्रज्ञा, साहस, मिताचार और न्याय) की पृष्ठभूमि है । जिस व्यक्ति में ईश्वर के प्रति विश्वास है, उसी में प्रेम और आशा के सद्गुण होते हैं और उसी में चार नैतिक सद्गुण भी पाये जा सकते हैं ।

मसीही दार्शनिकों के अनुसार जीवन का परम शुभ ईश्वर से मेल और उसकी निकटता को प्राप्त करना है । मनुष्य अपने ज्ञान और विवेक से, अपने संकल्प और प्रयास से सद्गुणी नहीं हो सकता । सद्व्यवहार ईश्वर की दया और अनुग्रह का परिणाम है ।

बैबिल का संपूर्ण दर्शन गेहूँ के एक कण में श्रद्धा से सुरक्षित है । यह सुन्दर और अमूल्य प्रतीक है । "जब तक गेहूँ का दाना मिट्टी में गिरकर नष्ट नहीं होता तब तक वह अकेला ही रहता है, परन्तु यदि वह नष्ट हो जाता है तो बहुत फल देता है ।"[1] वस्तु का पहला कण बीज है, उसे अपना रूप छोडना पडता है और विश्व के रूप में विकसित होना है । बीज ब्रह्माण्ड का विकसित रूप है, फूल मनुष्यों का जीवन । मानव जीवन विश्व के विकास की सहायता के लिए आत्म समर्पण करना है । बीज से जीवविज्ञान, जैविक संबंधी विकास होता है । अब मानवीय स्वतंत्रता ने जिसके उत्तरदायित्व को ले लिया है । बीज से पूर्णतः भिन्न प्रकार की एक विकासमान शक्ति और प्रक्रिया शुरू होती है । बीज से किसी भी व्यक्ति को सूचित किया जाता है । उसे अपने को छोडना है और दूसरों के लिए

---

1. बैबिल जोन 12:24

जीना है, अहं से बाहर आकर व्यक्ति के रूप में विकास प्राप्त करना है । व्यक्ति को पूर्ण रूप से खोलकर आदर्श सामाजिक बनना है । हर व्यक्ति को आदर्श समाज के लिए भाई चारे के लिए जीना है । मृत्यु से जीवन और यातना से मुक्ति का यह तत्व सब कहीं चालू है । यह येशु के जीवन में प्रतिबिम्बित होते हैं ।

बैबिल दर्शन के अनुसार मानव का अन्तिम उत्कर्ष, प्रकृति के मालिक बनने के विज्ञान से बढकर, प्रेम है । वे तो प्रेम को शक्तिशाली बनाने के लिए सहायक है । हमारा महत्व और स्वतंत्रता बाहर की किसी वस्तु में नहीं है । वह तो हमारे अन्दर ही है, यही प्रेम है । मानव प्रेम महान है, उत्कर्ष पूर्ण है । लेकिन स्वयं श्रेष्ठ हो सकता है और उच्च तथा पूर्ण बन सकता है जो ईश्वर प्रेम में विकसित हो तो । येशु अपने आप में खुला रहता है और ईश्वरीय प्रेम के सामने आत्मसमर्पण कर देता है । वह सब की सहायता करने के लिए स्वतंत्र है । उसकी उपस्थिति इतिहास को विशिष्ट बना देती है । मनुष्य की सहायता के लिए वह हमेशा उपस्थित रहता है ।

बैबिल में दर्शन का आधार ईश्वरीय धार्मिकता एवं प्रेम है । येशु ने प्रेम को ईश्वर और मनुष्य के संबंधों का मूलसूत्र घोषित किया । ईश्वर प्रेम है और ईश्वर मनुष्य से प्रेम करता है । उत्पत्ति के पीछे ईश्वर का प्रेम है और ईश्वर मनुष्य की सहभागिता चाहता है । जब मनुष्य ने ईश्वर की इच्छा का अनादर किया और अपने संकल्प को ईश्वर की इच्छा से पृथक कर स्वतंत्र घोषित किया तो मनुष्य ईश्वर की निकटता से दूर हो गया । वह अपने संकल्प का स्वयं स्वामी बन गया । वह स्वतंत्र होकर पाप करने लगा । लेकिन ईश्वर ने अपने महान प्रेम के कारण मनुष्य की मुक्ति की पहल की । इसलिए येशु का अवतार हुआ ।

तुलसी का दार्शनिक विचार :-

देशी-विदेशी दोनों प्रकार के विद्वानों का तुलसी के दार्शनिक विचार पर मत-भेद है । पं. रामचन्द्र शुक्ल, तुलसी को अद्वैतवादी मानते हुए लिखते हैं "परमार्थ दृष्टि से, शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से तो अद्वैत मत गोस्वामी को मान्य है ।"[1] ग्रियर्सन ने गोस्वामी को रामानन्दजी का परंपरागत शिष्य माना है । फिर ग्रियर्सन[2] और कार्पेण्टर[3] की भी यह कल्पना है कि ईसाई धर्म का कुछ प्रभाव तुलसी की सगुण भक्ति और दर्शन पर अवश्य पडा था । ग्राउज़ यह तो मानते हैं कि तुलसी की सगुण पूजा में और ईसाईयों की आराधना प्रकृति में कुछ साम्य है ।"[4] डा. श्यामसुन्दरदास और डा. पीताम्बरदत्त बडथ्वाल दोनों ही तुलसी दर्शन में अद्वैतवाद का दर्शन देखते हैं ।[5] डा. बलदेव प्रसाद मिश्र के विचार से गोस्वामी ने अद्वैत सिद्धांतों को आत्मसात् कर लिया है । शंकराचार्य की भाँति वे सभी को मुक्ति के दृढीकरण के लिए प्रधान मार्ग मानते हैं ।"[6] गोस्वामीजी ने प्रत्यक्ष और अनुमान का मूल्य समझा, किन्तु शब्द को उच्चतर स्थान दिया । अद्वैत दर्शन के मूलतः चार प्रमुख पक्ष हैं - §1§ ब्रह्म §2§ जीव §3§ जगत् और मोक्ष । इन्हीं प्रमुख पक्षों को आधार बनाकर हम तुलसी के मानस और बैबिल के दार्शनिक विचारों का विवेचन करेंगे । भारतीय दर्शन में मुख्यतः दस आस्तिक दर्शन हैं किन्तु उस में भी वेदान्त दर्शन ही सर्वाधिक एवं सर्वोपरि चर्चित तथा प्रभावकारी सिद्ध हुआ है । यह सब दार्शनिकों ने स्वीकार किया है । वेदान्त दर्शन के अंतर्गत अनेक मत थे । तुलसी ने सब मतों का समन्वय किया । उन्होंने अपने दार्शनिक

---

1. तुलसी ग्रंथावली, तीसरा भाग, पृ. 142.
2. जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, 1903
3. थियोलजी ओफ तुलसीदास रेवेरेण्ड जे. एन. कार्पेण्टर कृत, पृ. 14-16
4. रामायण ओफ तुलसीदास भूमिका, एफ.एस.ग्राउज कृत, पृ. 14-16
5. गोस्वामी तुलसीदास, पृ. 184-188, श्यामसुन्दरदास और पी.द.बडथ्वाल ।
6. तुलसीदर्शन, पृ. 126.

विचारों के निर्माण में विभिन्न संप्रदायों और सिद्धांतों का सार तो ग्रहण किया किन्तु विभिन्न संप्रदायों की परस्पर विरोधी बातों को छोड दिया ।[1]

ब्रह्म :-

ब्रह्म या ईश्वर का साक्षात्कार ही साधक के जीवन का मुख्य लक्ष्य हैं । अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने इस नानारूपात्मक सतत परिवर्तनशील अनित्य जगत् के मूल में विद्यमान शाश्वत, सत्तात्मक रूप की तलाश तात्विक दृष्टि से की । यह मौलिक तत्व 'ब्रह्म' शब्द के द्वारा संकेतित किया जाता है । ब्रह्म के दो रूप हैं - सगुण और निर्गुण । भारतीय चिंतन परंपरा में ब्रह्म के तीन लक्षण उल्लेखनीय हैं §1§ ब्रह्म से सृष्टि आरंभ होती है । इस कारण जगत् के मूल कारण को ब्रह्म कहते हैं । §2§ ब्रह्म अन्तर्यामी है और सभी वस्तुओं की आधारभूत और नियामक सत्ता है । §3§ ब्रह्म में ही सृष्टि का अन्त होता है, अर्थात् ब्रह्म ही सृष्टि का साध्य भी है । इस से सिद्ध होता है कि सब कुछ ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है ।

तुलसी के अनुसार ब्रह्म एक है, ईच्छारहित है, रूप और नाम से परे भी है । तुलसी के मुख्य प्रतिपाद्य राम है ।[2] राम परब्रह्म है । अशरीरी, अगुण, अनादि, निरंजन, अविनाशी, अलक्ष्य, अनूप, अनामय, अजित है । वह भक्त रक्षार्थ अवतरित होकर नाना प्रकार की लीलाएँ करता रहता है ।[3]

---

1. रामचरितमानस विविध संदर्भ, मुकुन्दलाल मुंशी, पृ. 45.
2. प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना । मानस उत्त: 61:3
3. एक अनीह अरूप अनामा । अज सच्चिदानन्द पर धामा ।
   व्यापक बिस्वरूप भगवाना । तेहि धरि देह चरित कृत नाना ।
   सो केवल भगतन हित लागी । परम कृपाल प्रनत अनुरागी ।
   जेहि जन पर ममता अति छोहू । जेहि करूना करि कीन्ह न कोहू ।।
   मानस बाल 12:2-3

ब्रह्म राम का स्वरूप वाणी के लिए अनिवर्चनीय, दृष्टि के लिए अगोचर, बुद्धि के लिए अकल्पनीय एवं अपार है । वह ब्रह्म अकल, अरूप, अजन्मा, निर्गुण, अनाम, मोह से परे, ज्ञान, वाणी, इन्द्रियों से अतीत है । सब प्रकार से उसकी करनी अलौकिक है ।[1] वह बिना पैर चलता है, बिना कान सुनता है, बिना हाथ के ही नाना कर्म करता है, बिना मुँह के ही समस्त रसों का आस्वादन लेता है, बिना वाणी के वक्ता कहलाता है, बिना शरीर के स्पर्श करता है । नेत्रों के बिना समस्त सृष्टि को देखता है । बिना नाक के गन्ध को ग्रहण करता है । यह ब्रह्म इतना दयालु भी है कि नष्ट वस्तु को पुनः प्राप्त करा देता है - "गई बहोरि गरीब नेवाजू । सरल सबल साहिब रघुराजू ।"[2]

अविगत, अकथ होने से वेदों ने भी ब्रह्म का वर्णन "नेति-नेति" के रूप में किया है ।[3] ब्रह्म राम चिन्मय, अविनाशी, सर्वरहित होने पर भी सब के हृदय में विद्यमान हैं ।[4] तुलसी के मतानुसार राम प्राणों के प्राण, जीवों के जीव और सुखों के सुख हैं ।[5] तुलसी कहते हैं कि राम सृष्टि के कर्ता, भर्ता और संहारक है ।[6]

---

1. बिनु पद चलहि सुनहि बिनु काना । कर बिनु करम करहि विधि नाना ।
   आनन रहित सकल रस भोगी । बिनु वाणी वक्ता बड जोगी ।
   तन बिनु परस नयन बिनु देखा । ग्रहई घ्रान बिनु बास असेषा ।
   असि सब भाँति अलौकिक करनी । महिमा जासु जाई नहि करनी ।
   बाल 117:3-4
2. मानस बाल 12:4
3. अविगत अकथ नेति नेति निगम कह । मानस 2:126
4. राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी । सर्व रहित सब उरपुर बासी । मानस: 1:120/2
5. प्राण प्रान के जीव के जीव सुख के सुख राम । मानस अयो: 290
6. तासु भजन कीजिअ तहँ भरता । जो करता, पालक संहरता । मानस: 6:7:2

श्रुति ने जिस अव्यक्त ब्रह्म का वर्णन किया है, उस निर्गुण का कोई साधक ध्यान करता है, लेकिन तुलसी के समस्त भक्ति भाव कौशलाधिपति सगुण, सरूप श्रीराम के चरणों में समर्पित थे ।[1] यही तीसरा रूप ही तुलसी ने अधिक पसन्द किया । अगस्त्य के द्वारा उन्होंने इस मत का सशक्त समर्थन कराया है ।[2] तुलसी के हृदय में श्रीराम, सीताजी और लक्ष्मण सहित निवास करने के लिए वर माँगते हैं । यद्यपि श्रीराम अखण्ड और अनन्त ब्रह्म है, जो अनुभव से ही जानने में आते हैं और संत जन भजन करते हैं । यद्यपि तुलसी आज के ऐसे रूप को जानते हैं और उसका वर्णन करते हैं तो भी लौट-लौटकर तुलसी सगुण ब्रह्म में ही प्रेम मानते हैं । तुलसी के राम स्वरूपतः सगुण है । वे निराकार भी है और साकार भी ।

भक्त के प्रेमवश वे निराकार से साकार रूप में अवतीर्ण हुआ करते हैं । तत्वतः निर्गुण और सगुण में कोई रूप-भेद नहीं है -

"सगुनाहि अगुनहि नहि कछु भेदा । गावहि मुनि पुरान बुध वेदा ।
अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेम बस सगुण से होई ।।"[3]

जिस प्रकार का रूप-भेद दारूगत अव्यक्त अग्नि और दृश्यमान अग्नि में अथवा जल और हिम-जल में हैं, वैसा ही भेद निर्गुण और सगुण ब्रह्म में आभासित होता है । वस्तुतः राम का सगुण रूप निर्गुण राम का ऐश्वर्य है । कवि तुलसी ने

---

1. कोउ ब्रह्म निर्गुण ध्याव । अव्यक्त जेहि श्रुति गाव ।
   मोहि भाव कोशल भूप । श्रीराम सगुण सरूप । मानस 6:112:7
2. यह बर माँगौ कृपानिकेता । बसहु हृदय श्री अनुज समेता ।
   जदपि ब्रह्म अखंड अनंता । अनुभवगम्य भजहि जिहि संता।
   जस तव रूप बखानौ जाना । फिरि फिरि सगुण ब्रह्म रति माना ।
3. मानस बाल 115:1

पद्मपुष्पशोभित सरोवर के सादृश्य द्वारा उपपत्तिपूर्वक राम की सगुण माधुरी का चित्ताकर्षक चित्रण किया है -

फूले कमल सोह सर कैसा । निर्गुण ब्रह्म सगुण भए जैसा ।

तात्पर्य यह है कि राम एक है । वे ही निर्गुण और सगुण निराकार और साकार, अव्यक्त, अंतर्यामी और बहिर्यामी, गुणातीत, गुणाश्रय तथा विमलगुण संपन्न हैं । विरोधी गुणों का आश्रयत्व उनकी अनिर्वचनीयता का सूचक है । राम अनुभव गम्य है । ज्ञाननिष्ठ निर्गुणोपासक ज्ञानयोगी उनका अनुभव निराकार रूप में करता है और भावनिष्ठ सगुणोपासक भक्तियोगी अपनी भावना के अनुसार साकार रूप में । भक्त भगवान को ऐसे आकर्षक रूप में देखना चाहता है जिसके साथ वह रागात्मक संबंध स्थापित कर सके । अवतारवाद उसकी इस भावना का सर्वोत्तम आधार है । अतः तुलसी ने शील-शक्ति-सौन्दर्य संपन्न दशरथि राम को अपने भक्ति-प्रबन्ध रामचरितमानस का नायक बनाया ।

बैबिल के अनुसार ईश्वर एक है । पुराना नियम में उनके अगुण रूप का और नया नियम में उनके सगुण रूप के अधिक उल्लेख मिलते हैं । निराकार ईश्वर का साकार रूप येशु अनश्वर, अनादि, अपरिवर्तनशील, अमर अविकारी, अविनाशी, आदि और अन्त, सृष्टिकर्ता, सर्वज्ञ सर्वव्यापी है । उसने मनुष्यों के पाप के प्रायश्चित्त के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया । उसी के द्वारा जीवन प्रदान किया । येशु सृष्टिकर्ता है । "उसके द्वारा सब कुछ उत्पन्न हुआ और उसके बिना कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ ।"[1] ईश्वर आदि और अन्त है । आदि में शब्द था, शब्द ईश्वर के साथ था और शब्द ईश्वर था ।"[2] संत जोन ने यहाँ संक्षेप में ईसा मसीह के व्यक्तित्व के विषय में अपनी धारणा प्रस्तुत की है । ईश्वर त्रियेक है, अर्थात् एक ही ईश्वर में तीन व्यक्ति विद्यमान है जो तत्वतः

---

1. बैबिल जोन 1:3

2. वही, 1:1

एक है - पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा । शब्द पुत्र या येशु का दूसरा नाम है । शब्द मनुष्य का अन्धकार दूर करने के लिए ईसा मसीह के रूप में अवतरित होता है । वह शब्द सब वस्तुओं का सृष्टिकर्ता है, जीवन और ज्योतिरूप है । उनका नाम सब नामों से श्रेष्ठ है । वह अविकारी है - ईसा मसीह एक रूप रहते हैं - कल, आज और अनन्त काल तक ।"[1] उसमें प्रज्ञा तथा ज्ञान की संपूर्ण निधि निहित है । उनका ज्ञान अलौकिक है । वह अदृश्य रूप में संसार में विद्यमान है । "जहाँ दो या तीन मेरे नाम पर इकट्ठे होते हैं, वहाँ मैं उनके बीच उपस्थित रहता हूँ ।"[2] ईश्वर सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है । "ईश्वर के लिए सब कुछ संभव है ।"[3] ईश्वर हम में से किसी से भी दूर नहीं है, क्योंकि उसी में हमारा जीवन, हमारी गति तथा हमारा अस्तित्व निहित है ।"[4] "उसको स्वर्ग में और पृथ्वी पर पूरा अधिकार मिला है ।"[5] प्रज्ञा ग्रंथ में ईश्वर के बारे में ऐसा कहा गया है - ईश्वर पवित्र, विवेकशील, अद्वितीय, बहुविध, सूक्ष्म, पवित्र, प्रत्यक्ष, निष्कलंक, स्वच्छ, अपरिवर्तनीय, हिताकरी, तत्पर, अदम्य उपकारी, जनहितैषी, सुदृढ़, आश्वस्त, प्रशान्त, सर्वशक्तिमान और सर्वनिरीक्षक है ।"[6] वह सभी विवेकशील, शुद्ध तथा सूक्ष्मजीवात्माओं में व्याप्त है । ईश्वर सर्वज्ञानी है ।

पिता ईश्वर के साथ साथ येशु को भी सृष्टि के कार्य में भागी होने और सब वस्तुएँ उसके द्वारा होने के संबंध में दूसरा अधिक विस्तृत उद्धरण संत पोल लिखित कोलोसियों के पत्र में है । "वह तो अवश्य ईश्वर का प्रतिरूप और सारी सृष्टि में पहला है । क्योंकि उसी में सारी वस्तुओं की सृष्टि हुई,

---

1. बैबिल एब्रा: 13:8
2. मात्यु 18:20
3. 19:26
4. बैबिल प्रेरित 17:27-28
5. बैबिल मात्यु 28:18
6. प्रज्ञा 7:22-23

स्वर्ग की हो अथवा पृथ्वी की, देखी हो या अनदेखी, क्या सिंहासन क्या प्रभुताएँ, क्या प्रधानताएँ, क्या अधिकार, सारी वस्तुएँ उसी के द्वारा और उसी के लिए सृजी गई है ।"[1] इस में कहा गया है कि सब वस्तुओं की सृष्टि येशु में येशु द्वारा और येशु के लिए हुई । पोल कहता है कि येशु अदृश्य ईश्वर का प्रतिरूप है । पुराना नियम में और दोनों नियमों के मध्यंतर कालीन साहित्य में हमें 'बुद्धि' का वर्णन मिलता है । सूक्ति ग्रंथ के अध्याय एक और आठ में हमें बताया जाता है कि बुद्धि ईश्वर के साथ थी और जब ईश्वर ने जगत की सृष्टि की तो बुद्धि उसके साथ थी । सोलमन के प्रज्ञा ग्रंथ 7:23 में बुद्धि के लिए यही शब्द प्रतिरूप मिलता है । बुद्धि ईश्वर की भलाई का प्रतिरूप है । तो पोल मानो यहूदियों से यह कह रहा है देखो, तुम अपने जीवन भर बुद्धि के विषय सोचते, कल्पना करते और लिखते आ रहे हो । उस बुद्धि के विषय जो ईश्वरीय है, जिसने जगत् की सृष्टि की, जो मनुष्यों को बुद्धि प्रदान करती है । अब येशु में वह बुद्धि हमारे लिए दैहिक रूप में आ गई है । इसलिए येशु यहूदी विचारधारा के सपनों की परिपूर्ति है ।

यूनानी लोगों में लॉगोस या वचन की विचारधारा थी । वे मानते थे कि लॉगोस से जगत् की सृष्टि हुई । लॉगोस ने विश्व में बुद्धि-विवेक का संचार किया, विश्व को एक व्यवस्था प्रदान की । फिलो नामक दार्शनिक ने बार बार ईश्वर के लॉगोस या शब्द के लिए प्रतिरूप शब्द का प्रयोग किया है । अतएव पोल यूनानियों से कहता है देखो, पिछले छः सौ वर्षों से तुम ईश्वर के मन, विवेक, शब्द या लॉगोस के संबंध में चिन्तन करते आ रहे हो । तुमने उसे ईश्वर का प्रतिरूप कहा, अब येशु में वह लॉगोस हमारे समक्ष सदेह है । तुम्हारी कल्पना और दर्शन, तुम्हारा तत्वज्ञान या विचारों की उड़ान येशु में सच और साकार हो गई है । जिस से ज्ञात होता है कि ईश्वर पिता और पुत्र

---

1. बैबिल कोलो 1:15-16

सृष्टि के कार्य में एक है । ईश्वर के अदृश्य गुण अर्थात् उसका सनातन सामर्थ्य और ईश्वरत्व, सृष्टि के आरंभ से ही उनकी रचना से स्पष्ट है । ईश्वर के संबंध में ईसाईयों की धारणा का एक मूल तत्व यह है कि वह जीवन्त है, वरन् जीवन का स्रोत ही है । ईश्वर स्वयं अद्वैत है । ईश्वर न केवल सृष्टिकर्ता है, वह समस्त विश्व को संभालनेवाला तथा पोषक भी है । वह विश्व की सृष्टि कर उन्हें भूल नहीं बैठा वरन उसके कल्याण के लिए क्रियाशील रहता है ।

येशु ईश्वर स्वरूप थे, फिर भी ईश्वर के तुल्य रहने को उन्होंने अपने अधिकार में रखने की वस्तु नहीं समझा, वरन् दास का स्वरूप ग्रहण कर अपने आप को रिक्त कर दिया और मनुष्यों के सदृश्य हो गए । मनुष्य के रूप में प्रकट होकर उन्होंने अपने को विनम्र किया और यहाँ तक पिता की आज्ञाकारी रहे कि मृत्यु क्रूस की मृत्यु भी स्वीकार की । इस कारण ईश्वर ने भी उन्हें अत्यन्त उन्नत किया और सब नामों से श्रेष्ठ नाम प्रदान किया कि येशु के नाम पर प्रत्येक घुटना टिके, चाहे वह आकाश में हो या पृथ्वी पर या पृथ्वी के नीचे और प्रत्येक प्राणी अंगीकार करे कि येशु प्रभु हैं ।[1]

इस प्रकार मानस और बैबिल में ब्रह्म के साकार और निराकार दोनों रूपों की ओर संकेत मिलते हैं । निराकार ब्रह्म की साकार प्रतिष्ठा का प्रयत्न दोनों ग्रंथों में हुआ है । मानस के राम और बैबिल के येशु अपने निराकार रूप में जो अदृश्य है वे ही साकार होकर सामान्य जनता के कल्याण के लिए अवतरित हुए है ।

आत्मा या जीव :-

आत्मा वही है जो सर्वत्र व्याप्त है, जो सब को अपने में

---

1. बैबिल फिलि 2:5-11

ग्रहण कर लेती है और जिसकी सत्ता निरन्तर बनी रहती है, वह चेतन है । यही आत्मा जब शरीर से संबंधित हो जाती है, तब उसे जीव कहते हैं । ईश्वर को जाननेवाले ज्ञानी व्यक्ति उसे भली-भाँति जानते हैं । नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा न तो जन्मती है, और न मरती है । वह अजन्मा और पुरातन है । शरीर के नष्ट होने पर भी इसका नाश नहीं होता ।

तुलसी का जीव विषयक विवेचन भी सर्वथा व्यवहारिक है । वस्तुतः जीव संबंधी दृष्टिकोण भी सत्-असत् के द्वन्द्व पर आधारित है । तुलसी के विचारानुसार जीव तत्वतः ईश्वर का अंश और चेतन स्वरूप है ।[1] जीव ईश्वर के अधीन माना गया है ।[2] वह अपने कर्म के अनुसार ही सुख-दुःख का भागी बनता है ।[3] इसके निवारण हेतु उसे ईशानुरक्ति वांछनीय है । इसके बिना वह सच्चा सुख प्राप्त नहीं हो सकता ।[4] तुलसी ने जीव के छः धर्म माने हैं - हर्ष, विषाद, ज्ञान, अज्ञान, अहमिति और अभिमान ।[5]

तुलसी के मतानुसार प्रभु श्रीराम की कृपा प्राप्त होने पर जीव ज्ञानी बनता है । अगर जीव को एक रस ज्ञान रहे तो ईश्वर और जीव में कोई भेद नहीं ।[6] लेकिन जीव माया के वशीभूत है । जीव परतंत्र है, ईश्वर स्वतंत्र हैं, जीव अनेक हैं । ईश्वर एक ही हैं । यह सब माया का प्रताप है ।[7]

---

1. ईश्वर अंश जीव अविनाशी । चेतन अमल सहज सुखरासी । मानस उत्त:117:1
2. ईस अधीन जीव गति जानी । मानस अयो 263:3
3. जीव करम बस दुःख भागा । मानस उत्त 122:8
4. जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला । मानस अयो: 277:2
5. हरष विषाद ज्ञान अज्ञाना । जीव धर्म अहमिति अभिमाना । मानस:1:116:4
6. जो सब के रह ग्यान एक रस । ईश्वरजीवहि भेद कहहु कस । मानस:उत्त:78:3
7. माया वस्य जीव अभिमानी । ईस वस्य माया गुनखानी
   परबस जीवस्व बस भगवन्ता । जीव अनेक एक श्री कन्ता । मानस 78:3-4

जीव को अपने अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति [ईश्वर प्राप्ति] हेतु साधना आवश्यक है । भक्ति के अलावा ईश की कृपा भी वांछनीय है । लेकिन अन्य युक्ति भी है जिस से प्राणी बन्धन मुक्त हो सकता है । लक्ष्मण के प्रश्न के उत्तर में राम ने जीव की, इस माया ग्रस्त दशा की ओर संकेत करते हुए, इन शब्दों में व्याख्या की है -

माया ईस न आप कहुँ जान कहिअ सो जीव ।[1]

अर्थात् जो माया को, ईश्वर को और अपने स्वरूप को नहीं जानता, उसे जीव कहना चाहिए । आत्मज्ञान की विस्मृति के कारण ही ईश्वर से आत्मा का बिच्छोह हो जाता है और आत्मज्ञान की विस्मृति मायाजन्य है । माया ही आत्मा-परमात्मा के बीच बिच्छेद निर्माण करनेवाली है । आत्मानुभूति प्राप्त होने पर फिर परमात्मा का भी ज्ञान होता है । दोनों के बीच का भेद नष्ट हो जाता है । जीव स्वत: ब्रह्म हो जाता है ।[2]

जीव और कर्म के संबंध का विचार करते हुए तुलसी प्रतिपादित करते हैं कि विश्व कर्म प्रधान है अत: जो जिस प्रकार का कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है ।[3] काल, कर्म, गुण, स्वभाव ये माया के घेरे हैं, जिस में पकड़कर जीव पीडा अनुभव करता है ।[4]

जीवात्मा के शरीर-धारण करने के संबंध में तुलसी ने "गीता" की मान्यता को स्वीकार किया है - जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण और पुराने वस्त्रों को छोडकर नया वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार अनश्वर शरीरी जीव एक जीर्ण शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर को धारण करता है ।[5]

---

1. मानस उत्त: 118:2
2. जानत तुम्हहि होइ जाई । मानस बाल: 116:7
3. करम प्रधान विश्व रचि राखा । जो जस करइ सो तस फलचाखा ।मानस:2:219/
4. फिरत सदा माया कर प्रेरा । काल कर्म सुभाउ गुन घेरा । मानस: 7:44:3
5. जोइ तनु धरौ तजौ पुनि अनायास हरिजान ।
   जिमि नतन पट पहिरइ नर परिहरइ परान । मानस 7:109-ग ।

जीव के बन्धन और मुक्ति का कारण मन ही है । विषयों में आसक्त होने पर वह बन्धन का हेतु बनता है और ईश्वर में अनुरक्त होने पर वही मोक्ष का कारण बन जाता है ।

बैबिल के विचारानुसार ईश्वर ने जीव या मनुष्य को अपने स्वरूप के अनुसार उत्पन्न किया । मनुष्य शरीर और आत्मा से मिलकर बना है । दोनों एक अविभाज्य इकाई हैं । दोनों मिलकर पूर्ण व्यक्तित्व बनाते हैं । इसलिए मनुष्य में विवेक अथवा आन्तरिक प्रकाश है । मनुष्य बुराई-भलाई के बीच विवेक पूर्ण चयन से नैतिक-अनैतिक होता है । ईश्वर ने सृष्टि में मनुष्य को श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया ।[1] मनुष्य आराधना करनेवाला प्राणी है । मनुष्य को उस समय तक सन्तोष नहीं हो सकता, जब तक वह ईश्वर के साथ व्यक्तिगत संबंध स्थापित न कर ले । बैबिल के अनुसार जीव का मुख्य कार्य उद्धार का मुक्ति है । पाप से छुटकारा और ईश्वर की संगति में पुनःस्थापना उनका धर्म है ।

जीव मरता है तो कर्मफल के अनुसार धर्मशील व्यक्ति की आत्मा तो ईश्वर के पास चली जाती है ।[2] आत्मा में प्रज्ञा विद्यमान है । वह प्रज्ञा पीढी दर पीढी पवित्र जीवात्माओं में प्रवेश कर उन्हें ईश्वर के मित्र और नबी बनाती है । ईश्वर ने मनुष्य को मस्तिष्क हृदय और कई अनुपम दान दिये हैं और मनुष्य की इच्छा ईश्वर के लिए बनी है क्योंकि ईश्वर का प्रकृति पर अधिकार पूर्ण है । हम इस तम्बू{शरीर} में रहते समय भार से दबते हुए कराहते रहते हैं । क्योंकि बिना पुराना उतारे नया नहीं धारण करते । जिससे जो मरणशील है वह अमर जीवन में विलीन हो जायें ।"[3] धर्मशील व्यक्ति के मन ईश्वर में विलीन हो जायेंगे । उसकी आत्मा भी ईश्वर के हाथ में हैं ।[4] बैबिल के

---

1. बैबिल उत्पत्ति 1:26-31
2. "धर्मियों की आत्माएँ ईश्वर के हाथ में है, उन्हें शांति का निवास मिला है"
   बैबिल प्रज्ञा 3:2-3
3. बैबिल प्रज्ञा 7:27

[illegible]

रोमियों के नाम पत्र में बताया गया कि यदि वास्तव में ईश्वर की आत्मा तुम में वास करती है तो तुम शरीर में नहीं, वरन् आत्मा में हो ।[1] जीवात्मा को अपने प्रियतम के लिए अपने हृदय को तैयार करना चाहिए । अपना सब विश्वास ईश्वर पर डालना बहुत उचित है ।

शरीर आत्मा के विरोध में और आत्मा शरीर के विरोध में लालसा करती है और ये एक दूसरे के विरोधी हैं ।[2] इसलिए मनुष्य जो चाहते हैं, वह नहीं कर पाते हैं । शरीर के कुकर्म प्रत्यक्ष हैं अर्थात् व्यभिचार, अशुद्धता, लम्पटता मूर्तिपूजा, जादू-टोना, बैर, फूट, ईर्ष्या, क्रोध, स्वार्थपरता, मन-मुटाव, दलबन्दी, द्वेष, मतवालापन, रंगरलियाँ और इस प्रकार की और बातें ।[3] जो इस प्रकार का आचरण करते हैं वे ईश्वर के राज्य के अधिकारी नहीं होंगे । परन्तु आत्मा का फल है - प्रेम, आनन्द, शांति, सहनशीलता, मिलनसारी, दयालुता, ईमानदारी, सौम्यता और संयम ।[4] इनके विरुद्ध कोई विधि नहीं है जो लोग ईसा मसीह के हैं, उन्होंने वासनाओं तथा कामनाओं सहित अपने शरीर को क्रूस पर चढ़ा दिया है । यदि हमें आत्मा द्वारा जीवन प्राप्त हो गया है, तो हम आत्मा के अनुरूप जीवन बितायें । ईसा की शिक्षा आत्मा और जीवन है ।

एक बार येशु ने कहा, वह समय आ गया है, जब सच्चे आराधक आत्मा और सच्चाई से ईश्वर की आराधना करें । ईश्वर ऐसे ही आराधकों को चाहता है । ईश्वर आत्मा है और जो उसकी आराधना करें, उन्हें उसकी आराधना आत्मा और सच्चाई से करनी चाहिए ।

---

1. बैबिल रोमी 8:9
2. गला 5:17
3. वही, 5:19-21
4. वही, 5:22

यूनानी दर्शन में शरीर को बुरा अथवा घिनौना, पापी और आत्मा को शुद्ध एवं पवित्र माना गया है । इब्रानी अथवा यहूदी शरीर को बुरा नहीं मानते थे । यहूदी दर्शन के अनुसार ऐसा नहीं कि बुरी इच्छा शरीर से उत्पन्न होती है और अच्छी इच्छा का कारण आत्मा है । यहूदी दर्शन द्वैतवाद का विरोध करता है । संत पोल इब्रानी और यूनानी दर्शनों का समायोजन करने का प्रयास करता है । संत पोल लिखता है -"तुम नहीं जानते कि तुम्हारी देह पवित्र आत्मा का मन्दिर है ।"[1] फिर इसी प्रकार रोमियों की पत्री में भी कहता है - "इसलिए हे भाइयो, मैं तुम से ईश्वर की दया स्मरण दिलाकर विनती करता हूँ कि अपने शरीर को जीवित और पवित्र और ईश्वर को रुचिकर बलिदान के रूप में चढ़ाओ । यही तुम्हारी आत्मिक सेवा है ।"[2]

पृथ्वी पर मनुष्य का स्थायी निवास नहीं है, और यहाँ व्यक्ति एक परदेशी है, एक यात्री है । जब तक आत्मा, मसीह में न मिल जाए तुम्हें शान्ति कभी नहीं मिलेगी । यहाँ आत्मा का विश्राम स्थल नहीं है । उसका निवास स्वर्ग में होना चाहिए, जीव का ध्यान महान् ईश्वर पर हो, और वह दया के लिए निरंतर मसीह में प्रार्थना करते रहे । आध्यात्मिक बातों में लीन रहनेवाला जीव शीघ्र ही ध्यानमग्न हो जाता है । "आत्मा तो तत्पर है, परन्तु शरीर दुर्बल है ।"[3] मनुष्य को इस से क्या लाभ यदि वह सारा संसार प्राप्त कर लें, लेकिन अपनी आत्मा ही गँवा दे तो, अपनी आत्मा के बदले में क्या दे सकता है ?"[4] उस से डरो जो शरीर और आत्मा, दोनों का नरक में सर्वनाश कर सकता है ।"[5] जैसे आत्मा की भूमि में बोता है, वह आत्मा की भूमि में अनन्त जीवन ही फसल लुनेगा ।"[6] "जो लोग धैर्यपूर्वक भलाई करते हुए महिमा सम्मान और अमरत्व की खोज में लगे रहते हैं, ईश्वर उन्हें अनन्त जीवन प्रदान करेगा"

---

1. बैबिल । कोरि 6:19
2. बैबिल रोम 12:1
3. " मात्यु 26:41
4. वही, 16:26
5. वही, 10 28
6. बैबिल गला 6:8

मानस और बैबिल में आत्मा का ईश्वर या परमात्मा से संबंध अवश्य दिखाया गया है । मानस आत्मा को परमात्मा का अंश मानता है और बैबिल स्वयं परमात्मा । ईश्वर के अनुग्रह से मनुष्य दिव्य आत्मा का रूप ग्रहण कर लेता है । दोनों में आत्मा की अनश्वरता की ओर संकेत मिलते हैं ।

जगत् {सृष्टि}

जो गतिशील है वह जगत् है । जीव {आत्मा} जगत् में रहकर ही अपने अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति करने में समर्थ हैं । इसका नियामक ईश्वर है । यह सब कुछ ईश्वर का है । इसके प्रत्येक अणु में, परमाणु में और परमाणु के प्रत्येक खण्ड में ईश्वर विद्यमान है । प्रत्येक अपने से बडे का सहारा लेता है । मनुष्य को भी ऐसी शक्ति का सहारा चाहिए जो इस से बडी हो । मनुष्य आत्मा है, उस से बडा है परमात्मा । {ईश्वर} उसे अपना सहारा बना लिया तो अमृत मिलेगा । अपूर्ण मनुष्य को पूर्ण बनना है तो वह पूर्ण ईश्वर का सहारा ले ले । दूसरा कोई मार्ग नहीं है । उपनिषद् में कहा गया है कि ईश्वर जगत् की रचना कर उसी में अनुप्रविष्ट हो जाता है ।[1] ईश्वर से संपूर्ण पदार्थ उसी प्रकार प्रादुर्भूत होते हैं जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं ।

गोस्वामी ने ईश्वर {राम} और जगत् का एकीकरण किया है । उन्हें इन दोनों में कोई भेद ही दिखलाई देता । भेद उन्हीं को दिखलाई देता है जो प्राणी जगत् के मर्म को समझने में अनभिज्ञ और असमर्थ हैं । तुलसी ने जगत् को आत्मा का कर्तव्य क्षेत्र माना है । जीवात्मा जगत् में रहकर यदि परमात्मा को पहचान लेती है तो उसे विश्व के कण-कण में परमात्मा की अमर ज्योति जगमगाती हुई दिखलाई देती है । उसके लिए तो सारा जगत् ईश्वरमय हो जाता है ।

---

1. तैतरीय उपनिषद् 2.6.

भक्त भी जगत् में रहकर जगत् की भव्यता का अनुभव करता है । तुलसी के अनुसार ईश्वर ने माया के द्वारा इस जगत् की सृष्टि की है । उन्होंने मायात्मक रूप में विग्रहकारी सिद्ध होनेवाले इस जगत् को सीया राममय स्वरूप में वन्दनीय एवं पूजनीय माना है, जगत् की रचना करनेवाली माया ही उपादान रूप में प्रकृति कहलाती है ।

जीवों के कल्याण के लिए राम की प्रेरणा द्वारा क्षुब्ध त्रिगुणात्मिका प्रकृति से सृष्टि-प्रक्रिया का आरंभ होता है । मूलतः राम जगत् के निमित्त और उपादान कारण हैं । वे सत्य हैं इसलिए जगत् को भी सत्य होना चाहिए । परन्तु तुलसी ने उन्हें बहुत बार मिथ्या कहा है । क्योंकि माया अर्थात् जीव की भ्रान्ति के कारण वह राम से भिन्न रूप में प्रतीत होता है । उसका दृश्यमान रूप मिथ्या है, क्योंकि वह परिवर्तनशील है । माया के कारण वह आत्मस्वरूप भूलकर दुःखमय संसार चक्र में पड जाता है ।

गोस्वामी की दृष्टि में यह जगत् प्रकाश्य है जिसको प्रकाशित करनेवाले श्रीराम है ।[1] यह जगत् व्यवहार मिथ्या है, और ईश्वर के आश्रय में हैं, फिर भी जीवों को वह दुःख देता ही है ।[2] तुलसी जगत् की सत्ता को भी मानते हैं ।[3] जगत् की दृश्यमान स्थिति भ्रान्ति है, क्योंकि वह परिवर्तनशील है । इसलिए तुलसी ने कहा है[4] स्वप्न में राजा भिखारी हो जाय या कंगाल स्वर्ग का

---

1. जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । मानस 116:4
2. एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई । जदपि असत्य देव दुख अहई ।
   मानस बाल 118:1
3. गगन समीर अनल जल धरनी । इन्ह कइ नाथ सहज जड करनी ।
   तब प्रेरित माया उपजाए । सृष्टि हेतु सब ग्रंथनि गाए ।मानस:सुन्दर:59:2-3
4. अनवद्य अखंड न गोचर गो । सब रूप सदा सब होइ न गो ।
   इति वेद बदंति न दंतकथा । रवि आतप भिन्नमभिन्नजया ।।
   लंका 110:8

होते हुए ध्वनिमात्र नहीं था वरन् एक गतिशील शक्ति थी, वह ईश्वर का वचन था जिसके द्वारा ईश्वर ने सृष्टि की रचना की, जो ईश्वर की शाश्वत सृष्टि करनेवाली और प्रकाशित करनेवाली शक्ति थी । "शब्द ने शरीर धारण कर हमारे बीच निवास किया ।"[1]

इस जगत् में सब वस्तुएँ निरन्तर गति की स्थिति में हैं । प्रत्येक वस्तु दिन-प्रतिदिन क्षण-प्रतिक्षण बदलती रहती है । यह प्रवाह प्रतिक्षण एक सनातन प्रारूप के अनुरूप चलता है, और जो उसको नियंत्रित करता है वह ईश्वर का वचन-बुद्धि या ज्ञान है । यूनानी दार्शनिक हेराक्लितुस की मान्यता थी कि ईश्वर का वचन, सारी व्यवस्था का सिद्धांत है । जिसके अन्तर्गत विश्व निरंतर बना रहता है । वह बनाया ही नहीं वरन् वह उसका पालन भी करता है और जगत् के सब प्राणियों से प्रेम करता है । प्रेरित चरित में पोल कहता है "क्योंकि हम उसी में जीवित रहते, और चलते-फिरते, और स्थिर रहते हैं ।"[2] येशु ने यह संकेत किया कि प्रेम के कारण ईश्वर ने जगत् की सृष्टि की और वही उसका पालन करता है । सृष्टि का कार्य ईश्वर के प्रेम का प्रकाशन है । मनुष्य को जगत् में विशेष स्थान दिया गया । मनुष्य पर ईश्वर का जो विशेष अनुग्रह है वह नया नियम में स्पष्ट व्यक्त है ।[3]

नया नियम के सभी लेखक येशु को सृष्टि रचना से संबंधित मानते हैं । कोलोसियो की पत्री में पोल लिखता है "क्योंकि उसी में सारी वस्तुओं की सृष्टि हुई, स्वर्ग की हो अथवा पृथ्वी की देखी या अनदेखी, क्या सिंहासन, क्या प्रभुताएँ, क्या प्रधानताएँ, क्या अधिकार सारी वस्तुएँ उसी के द्वारा और उसी के लिए निर्मित हैं ।"[4]

---

1. बैबिल जोन 1:14
2. बैबिल प्रेरित 17:28
3. मात्यु 6:28- 33, 10:29-31
4. कोलो 1:16

येशु ने कहा " मैं जगत् में ज्योति होकर आया हूँ ।"[1] येशु संसार में ज्योति लाया, उस से अन्धकार या अव्यवस्था दूर होती है । अंधकार ज्योति का वैरी है । ज्योति अंधकार में चमकती है, अन्धकार उन लोगों का प्रतीक है जो भलाई से घृणा करते हैं । अंधकार अज्ञान है । येशु ने कहा जो मेरे पीछे हो लगा, वह अंधकार में न चलेगा, परन्तु जीवन की ज्योति पाएगा ।"

स्वर्गीय पिता ईश्वर भलों और बुरों, दोनों पर अपना सूर्योदय करता है, और धर्मियों और अधर्मियों दोनों पर मेघ बरसता है और मैदान की घास की भी रक्षा करता है, पक्षियों को खिलाता हैं । मनुष्य उन से भी श्रेष्ठ है। इसलिए उनके लिए जिन चीज़ों की ज़रूरत है वे सब ईश्वर देते हैं । मनुष्य जगत् में रहकर सब से पहले ईश्वर के राज्य और उसके धर्म-भाव की खोज में लगे रहो और ये सब चीज़ें तुम्हें यों ही मिल जायेंगी । जीव जगत् में रहकर ईश्वर की प्रेममय रक्षा और सब प्राणियों के पोषण का अनुभव करते हैं । प्रेरित चरित में पोल कहता है " क्योंकि हम उसी में जीवित रहते और चलते-फिरते, और स्थिर रहते हैं ।"[2] ईसा ने ईश्वर को पिता कहने से जगत् के प्रति पिता तुल्य प्रेम पर बल दिया और यह संकेत किया कि प्रेम के कारण ईश्वर ने जगत् की सृष्टि की और उसका पालन किया है । ईश्वर भौतिक जगत् का और आध्यात्मिक जगत् का भी प्रभु है ।[3] सृजन करनेवाली और उद्धार करनेवाली सृष्टि की सामर्थ्य येशु में हमेशा क्रियाशील है । जिस में ईश्वर है वह जगत् में नई सृष्टि बन जाता है और इस से नया जगत् बनने की आशा उत्पन्न होती है । तब स्वर्ग राज्य की परिपूर्ति जगत् में आरंभ होगी । इससे मनुष्य को जगत् में कार्य करने की प्रेरणा और आनन्द प्राप्त होता है ।

---

1. बैबिल जोन 12:46
2. प्रेरि 17:28
3. पोल 1:8-6

इस प्रकार मानस और बैबिल दोनों जगत् को ईश्वर की सृष्टि मानते हैं । मानस के अनुसार जगत् या सृष्टि की रचना माया के ज़रिये ही होती है । माया ईश्वर के संकेतों पर क्षण भर में सृष्टि की रचना करती है। बैबिल के अनुसार ईश्वर ने शून्य में से अपने शब्द से सृष्टि रचना की । जगत् की क्षणभंगुरता दोनों को मान्य है । बैबिल में जगत् की रचना में ईश्वर प्रेम पर बल दिया गया है । बैबिल का कथन है कि ईश्वर ने कहा और "हो गया" - "हो गया" का अर्थ है - अभाव से यह जगत् या सृष्टि पैदा हो गई, नास्ति से अस्ति हो गया । ईश्वर के कहने मात्र से जड जगत् तथा चेतन-आत्मा उत्पन्न हो गयी ।

माया :-

माया भावरूप है, वह आवरण करती है । अभाव रूप पदार्थ में आवरण का सामर्थ्य नहीं हो सकता । मानस में बताया गया है कि राम की माया बडी प्रबल है -
"सुनु प्रबल राम की माया ।"[1] गोस्वामी माया को दो भागों में विभाजित करते हैं - विद्यामाया और अविद्या माया । विद्या-माया से सृष्टि का विकास विस्तार होता है, यह ईश्वर द्वारा प्रेरित होती है और इस से उत्पन्न शक्ति भक्तों की अविद्या से रक्षा करती है । अविद्या माया से दुःख, मोह, भ्रम इत्यादि उत्पन्न होते हैं । ईश्वर की कृपा मात्र से अविद्या-माया से मुक्ति प्राप्त हो सकती है । वह बलात्कारपूर्ण ज्ञानियों के चित्र का भी अपहरण कर लेती है ।[2] ज्ञानियों के मन में जबर्दस्ती बडा भारी मोह उत्पन्न कर देती है । मन की सारी विकृतियाँ माया जन्य ही हैं । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर आदि विविध मानसिक रोगों का उल्लेख करते हुए गोस्वामी इन्हें माया के

---

1. मानस उत्त: 58:2
2. जो ग्यानिन्ह कर चित अपहरई । बरि आई विमोह मन करई ।
   जेहि बहु बार नचावा मोही । सोइ व्यापी बिहंगपति तोही ।
   मानस उत्त 58:3

परिवार में ही परिगणित कर लेते हैं ।[1] लेकिन भगवान के भक्तों और सेवकों को माया अभिभूत नहीं कर सकती ।[2]

माया राम की दासी है । राम उसके स्वामी है । इसलिए राम को मायापति, मायाधीश आदि कहा गया है।[3] माया स्वत: तो जड है । राम के आश्रय से ही उस में क्रियाशीलता आती है ।[4] तुलसी कहते है कि भगवान के अनुग्रह से ही जीव माया के पाश से मुक्त हो सकता है ।[5] राम की माया या विद्या-माया का दूसरा रूप सीता है ।[6]

अविद्या जिसे अज्ञात कहा गया है, अत्यन्त दुष्ट और दु:ख रूप है । इसके वश में आकर जीव संसार रूपी कूप में गिरता है । यह बन्धन का कारण है । विद्या संसार की रचना करती है, उसके वश में सात्विक राजसिक और तामसिक गुण हैं । लेकिन वह प्रभु की प्रेरणा से ही संसार की रचना करती है । अपना बल उसके पास कुछ नहीं ।[7]

---

1. यह सब माया कर परिवारा । प्रबल अमिति को बरनइ पारा ।
   मानस उत्त: 70:4
2. नर कृतबिकर कपर खगराया । नट सेवकाहिन व्यापइ माया ।
   मानस उत्त: 103:4
3. मायाधीश ज्ञान गुन धामू - मानस बाल: 116:4
4. जासु सत्यता ते जड माया । भास सत्य इव मोह सहाया ।मानस किष्कि:2:
5. नाथ जीव सब माया मोहा । सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा ।
   मानस अरण्य 14:1
6. श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीश माया जानकी ।
   जो सृजति पालति हरति रूख पाइ कृपा निधान की । मानस: अयो: 125
7. एक रचइ जग गुन बस जाके । प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके ।
   मानस अर 14:3

अविद्या रूप माया के प्रभाव में पड़कर जीव कभी भी हरि सेवकाई की ओर अग्रसर नहीं हो सकता । उसका शमन रामभक्ति से ही संभव है। प्रभु भक्ति की प्रेरणा माया के विद्या रूप से ही मिलती है ।[1] भ्रम राम कृपा से मिट जाता है ।

माया मोह-मूलक और मिथ्या है किन्तु इसका अभाव तभी तक है जब तक यह संसार राममय नहीं दीखता, जब तक सियाराममय जग जानी का भाव उदित नहीं होता ।[2]

माया रूप लावण्य की छटा दिखाकर वासना को उत्पन्न करती है जिसके चंगुल में भोले-भाले जीव फँसते चले जाते हैं । ऐश्वर्य भी माया का ही विकृत रूप है जो मनुष्य को वासना बना देता है । यह मनुष्यों को आकृष्ट करके उसी प्रकार नष्ट कर डालती है, जिस प्रकार दीपक शलभ समूह को । इस जंगल से वे मुक्त हो जाते हैं जो परमात्मा जीव और प्रकृति के अभेद स्वरूप को समझ पाते हैं ।

बैबिल में कहा गया कि ईश्वर के कार्य मनुष्य की समझ से परे हैं और सांसारिक सुख-संपत्ति व्यर्थ है, क्योंकि यहाँ का सब नश्वर है । मनुष्य के सुख-दु:ख तथा संपन्नता-विपन्नता की प्राप्ति का आधार निश्चित नहीं किया जा सकता । सांसारिक सुख-समृद्धि की कामना हवा को पकड़ने की चेष्टा के समान व्यर्थ हैं । बैबिल के उपदेशक ग्रंथ में बताया है कि व्यर्थ ही व्यर्थ, व्यर्थ ही व्यर्थ सब कुछ व्यर्थ है ।"[3] सांसारिक या विषयी मनुष्य अचरज उत्पन्न करनेवाली सुन्दरता की खोज करता और उनसे प्रसन्न रहता है । वह वस्तुओं का

---

1. प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि विद्या - मानस अर 78:1

2. व्यापि रहेउ संसार महुँ माया करतु प्रचण्ड
   सेनापति कामादि भट, दम्भु कपटु पाखण्ड ।।
   मानस बाल 71 क

3. बैबिल उपदेशक 1:2

आदर करता है, भौतिक उन्नति से प्रसन्न होता है । हानि से उसे दुःख होता है, और कटु वचन सुनते ही उत्तेजित हो जाता है । प्राकृतिक मनुष्य लोभी होता है । वह दूसरों को देने के बदले, लेना जानता है । निजी संपत्ति पर अधिक भरोसा रखता है, क्योंकि वह उसका स्वामी होता है । वह अपनी देह और सुन्दरता पर ध्यान देता है । वह अपना बडप्पन प्रकट करता है और वह झगडालू होता है ।

नया नियम में भौतिक जीवन की सुख-सुविधाओं में फँसे हुए लोगों की वासना-तृप्ति के बाद का जीवन धार्मिक अर्थ में दुःख, शोक और पश्चाताप का जीवन बताया गया है । लौकिक जीवन के सुख-भोग त्याग कर धर्म के विधान के लिए भूख-प्यास, दुःख-शोक और अनेक कष्ट सहन करनेवालों को येशु ने आश्वासन दिया है । लेकिन मनुष्य माया जाल में फँसकर सुख की ओर आकृष्ट होते हैं । मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी एवं ईष्यालु होते हैं । लौकिक मनुष्य दूसरों की उन्नति नहीं देख सकते । उनकी इच्छाओं आकांक्षाओं का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता है । इन अभिलाषाओं एवं इच्छाओं के पूर्ण न होने तक मनुष्य इनके संबंध में नाना कल्पनाएँ करने के साथ ही साथ उन्हें पूर्ण करने के उपाय भी खोजता है । मानव स्वभाव कुछ ऐसी सांसारिक सुविधाएँ ढूँढता है, जिससे इन्द्रिय सुख प्राप्त हो । वह सब कुछ अपने लाभ और सुविधा के लिए करता है । अपने परिश्रम को वह प्रतिफल से तौलता है । अपनी सहानुभूति और दया करने के द्वारा वह उस से भी अधिक प्रतिफल की आशा करता है । वह चाहता है लोग उसकी प्रशंसा करें और उसके कार्यों को महान समझें । वह बलवानों से मित्रता तथा धनी लोगों की चापलूसी करता है । अपने समतुल्य लोगों की प्रशंसा करता है । विषयी मनुष्य अभाव और संकट में कुडकुडाता है । बैबिल कहता है, यह सब व्यर्थ है । सब कुछ मिथ्या है । अपने मन को माया के अधीन न रखें । मनुष्य शीघ्र ही विचलित होता है और पथभ्रष्ट हो जाता है परन्तु मसीहा सर्वदा रहेगा और वह अनन्त तक दृढता से हमारे साथ रहेगा ।

माया उसके अधीन हो । सन्त पीटर नया नियम में यह आग्रह करते हैं कि व्यक्ति इस संसार में एक परदेशी और यात्री की तरह जीवन यापन करे ।

एकमात्र ईश्वर ही सच्ची प्रज्ञा से संपन्न है और मनुष्य ईश्वरीय प्रज्ञा के चमत्कार प्रकृति तथा मानव इतिहास की विभिन्न घटनाओं में देखता है । लेकिन उसे पूरी तरह समझ पाना उसके लिए संभव नहीं है । उन्हें इसका धुँधला आभास था कि ईश्वर के तत्व में एक से अधिक व्यक्तियों का अस्तित्व है, जिसका रहस्य आगे चलकर नया नियम में वर्णित पवित्र त्रित्व के रूप में प्रकट हुआ । पुराना नियम के अनुसार प्रज्ञा ईश्वर के साथ है और उसके द्वारा ईश्वर ने सृष्टि की और उसके माध्यम से अपने विधि निषेध प्रकट किये । नया नियम में भी हम देखते हैं कि ईश्वरीय प्रज्ञा या शब्द (ईसामसीह) भी आदि से ईश्वर के साथ था । उसी के द्वारा सब कुछ उत्पन्न हुआ । वह शब्द शरीर धारण कर संसार में आया और उसी के द्वारा मनुष्यों को सच्ची ज्योति प्राप्त हुई ।

प्रभु येशु ने ये वचन कहे, मेरा अनुयायी अन्धकार में विचरण नहीं करेगा । संसार की ज्योति मैं हूँ । जो मेरा अनुसरण करता है वह अंधकार में भटकता नहीं । उसे जीवन की ज्योति प्राप्त होगी।"[1] येशु का यह वचन उपदेशात्मक है, जिसका मूल अर्थ है कि नश्वर संपत्ति की उपलब्धि एवं उस पर भरोसा निरर्थक है । व्यर्थ है सांसारिक आदर, मन की खोज और व्यर्थ है उच्च पद प्राप्ति के प्रयास । व्यर्थ है इन्द्रिय सुख की कामना और व्यर्थ है भोग-विलास के पीछे दौड़ना क्योंकि अन्त: कष्टप्रद और दु:खदायी होता है । व्यर्थ है वर्तमान को सफल बनाने की सब चेष्टाएँ । क्षण भंगुर सांसारिक सुख सामग्री के प्रति अनुराग व्यर्थ है । बैबिल कहता है कि हमारा जीवन अल्पकालिक और दु:खमय है । बैबिल में संत पोल ने कहा कि हमारी

---

1. बैबिल जोन 8:12

मुक्ति या मोक्ष

ईश्वर और मनुष्य के बीच के यथार्थ संबंध का अनुभव करना है मुक्ति । वही ईश्वरीय समाज है । वह भाईचारे का अनुभव और जीवन तथा प्रेम का बंटवारा करना है । उसका आरंभ यहाँ इसी समय होता है और वह विकासमान रहता है । वह विश्व को इस प्रक्रिया की ओर आकर्षित करता है । ज्ञानियों ने मोक्ष को पुरुषार्थ में सर्वोपरि माना है । वे इसी कारण कठिन साधना में रत रहते हैं । आवागमन से छुटकारा पा जाना ही मुक्ति है, पर भक्त अपनी भक्ति में ही रमना चाहता है । भारतीय दर्शनों में जो मोक्ष की अवधारणा प्रस्तुत की है उसका लक्ष्य मनुष्य को सांसारिक विषयासक्तियों से मुक्त करके उसे उसके शुद्ध-बुद्ध चैतन्य स्वरूप में अवस्थित करना है । कठोपनिषद् में कहा गया है कि मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का हेतु है । कहा है -

"मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्ष यो: ।
बन्धाय विषयासक्ति निर्विषयं मोक्ष इति स्मृत ।।"[1]

विषयासक्ति से बन्धन है और मन के निर्विषय होने से मोक्ष है, आत्मलाभ है । मन दर्पण के समान है यदि इस पर विषयासक्ति का मैल जमा है तो आत्मदर्शन नहीं हो सकता । मन से जब विषय की आसक्ति छूट जाये तो वह स्फटिक मणि के समान निर्मल हो जाता है । निर्मल मन रूपी दर्पण में आत्मस्वरूप स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है । निर्मल मन से ही आत्मोपलब्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्ति है । सहज और सरल मन सहज ही शुद्ध निर्दोष और पवित्र हो जाता है । वह स्वर्गराज्य में प्रवेश करेगा ।

मुक्ति अर्थात् दु:ख की आत्यंतिक निवृत्ति, वैयक्तिक होती है, सामाजिक नहीं । लेकिन मनुष्य सामाजिक प्राणी है । प्रतिकूल समाज में

---

1. कठोपनिषद्, पृ. 129.

व्यक्तिगत साधना भी दुष्कर है । अतएव व्यक्ति के मोक्ष के लिए अनुकूल समाज-व्यवस्था अपेक्षित है । इसलिए मानस और बैबिल ने नैतिक-धार्मिक आचरण पर विशेष बल दिया है । भारतीय चिन्तकों ने दार्शनिक सिद्धांतों को जीवन में उतारने का प्रयास किया है । सैद्धान्तिक दर्शन का व्यावहारिक पक्ष धर्म है । इसलिए धार्मिक सम्प्रदायों का आधार कोई न कोई दर्शन है और महान दार्शनिक, धर्मस्थापक भी है । सभी ने सदाचार पालन को दार्शनिक उपलब्धि का सोपान माना है । तुलसी इसी विचारधारा के पोषक है । उन्होंने अपने धर्म-दर्शन में पारमार्थिक ज्ञान और व्यावहारिक जीवन का सामंजस्य स्थापित किया है । बैबिल के अनुसार मानव और दूसरी वस्तुओं के हृदय में मुक्ति के लिए एक पुकार है, अपने से ऊँचे की खोज है और उत्कर्ष की प्रवृत्ति है । मुक्ति के लिए बीज के मूल में पुकार रहती है और इसके लिए बीज स्वयं पुकार उठता है । सारा द्वन्द्व स्वतंत्रता एवं जीवन की पूर्णता के लिए हैं । गेहूँ का फूल गेहूँ की झुरमुटों में से मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है और झुरमुट फूल को मुक्ति देने के लिए परिश्रम करता है । फूल तो पौधे के विरुद्ध संघर्ष नहीं करता, लेकिन उनके लिए भी करता है । समष्टि की मुक्ति के लिए ही वह लालायित होता है ।

मुक्ति पूर्ण सुरक्षा है, परिपूर्ण स्वातन्त्र्य है, संपन्न जीवन एवं मानव से प्रेम करनेवाले ईश्वर का सामीप्य है ।

तुलसी ने मोक्ष या मुक्ति को कैवल्य, सुगति, परम गति, निर्वाण आदि नाम दिये हैं । उनके अनुसार माया के कारण जड और चेतन में जो माया की ग्रंथि पडी हुई है उसका छूट जाना मोक्ष है ।[1] तुलसी के अनुसार मोक्ष सब सुखों की खान है । मोक्ष या मुक्ति जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है ।

---

1. जड चेतनहि ग्रंथि परि गई । जदपि मृषा छूटत कठिनाई ।
   तब ते जीव भयउ संसारी । छूटन ग्रंथि न होइ सुखारी ।
   मानस उत्त 117:4-5

मानस में धर्म, वैराग्य, योग आदि का भी मोक्ष साधना के रूप में बहुधा उल्लेख हुआ है । धर्म के आचरण से साधक का चित्त निर्मल हो जाता है । चित्त शुद्धि से सांसारिक विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है । आत्म प्राप्ति की दशा में समस्त सांसारिक बन्धनों का केन्द्र ईश्वर हो जाता है । माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री, तन, धन, घर, मित्र इन सभी संबंधों के ममत्वरूपी धागों को एकत्र कर, उनकी एक डोरी बनाकर मानव को अपना मन, ईश्वर के चरणों में बाँधना पडता है, तब वह आत्मप्राप्ति करता है, समदर्शी बनता है, ईश्वर को प्राप्त करता है ।"[1] मानव शरीर प्राप्त कर जीव को परमार्थ के रूप में जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वर और आत्मप्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए । जो मनुष्य ऐसा नहीं करता है और काल, कर्म और ईश्वर को मिथ्या दोष लगाता रहता है ।[2]

मानव के जीवन का लक्ष्य विषय भोग नहीं, आत्म प्राप्ति हैं । अत: विषयवासनारत मनुष्य अमृत छोडकर विष ले लेते हैं ।[3] मनुष्य को वैर-विग्रह, आस-त्रास से दूर रहना चाहिए । वह समस्त अवस्थाओं में सुख का ही अनुभव करता है । जो व्यक्ति स्वेच्छा से कोई कार्य आरंभ ही नहीं करता है, जो ममत्वहीन होकर अनिकेत है, जो मानहीन, पापहीन और क्रोधहीन है, जो भक्ति करने में निपुण और विज्ञानवान् है, सत्संग प्रेमी है, जो विषयों को तृणवत् समझता है, जो भक्ति के पक्ष का समर्थन करता है, जो केवल ईश्वर के गुणगान का परायण

---

1. मानस सुन्द 47:2-4
2. बडे भाग मानुष तनु पावा । सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ।
   साधन धाम मोच्छ कर द्वारा ।पाइ न जेहि परलोक सँवारा ।
   मानस उत्त 42:4
3. एहि तन कर फल विषय न भाई । स्वर्गउ स्वरूप अंत दु:खदाई ।
   नर तनु पाइ विषय मन देही । पलटि सुधा ते सठ विष लेही ।
   मानस उत्त 43:1

करता है, उसका सुख वही जानता है, जो परमानन्द स्वरूप आनन्द को प्राप्त कर लेता है ।[1]

येशु कहता है कि धार्मिक और नैतिक आचरण एवं सेवा से ही महानता मिलती है । ऐसे ही लोग पापों से छुटकारा पाते हैं । पापों से छुटकारा पाकर परलोक या स्वर्गराज्य में ईश्वर का परमानन्द का भागी होना मुक्ति या मोक्ष प्राप्ति है । वह आध्यात्मिक नवजीवन है । "पापमुक्ति के फलस्वरूप आत्मा को नया जीवन प्राप्त है ।"[2] जो हमें ईश्वरीय स्वभाव का सहभागी बना देता है । स्वर्ग-राज्य आध्यात्मिक है । ईसा ने पीलातोस से कहा कि मेरा राज्य इस संसार का नहीं है ।'ईसा' नाम का अर्थ है मुक्तिदाता। वह सब मनुष्यों को पाप से मुक्त करके मुक्ति देने के लिए आए हैं । ईसा ने मानव समाज को मूल्यों से संपन्न जीवन का मार्ग दिखलाकर स्वर्ग राज्य दे दिया । पृथ्वी और स्वर्ग को जोडने या मिलाने का काम उनका था । मूल्यों का जीवन, प्रेम, भक्ति, आश्रय और विश्वास पर आश्रित होता है ।

स्वर्ग राज्य में प्रवेश करने के लिए कई शर्तों का पालन करना आवश्यक है । आध्यात्मिक पुनर्जन्म, आज्ञाओं का पालन, हर कीमत पर पाप से अलगाव, गहरी धार्मिकता, पश्चाताप, उत्साह, दृढता, क्षमादान आदि । स्वर्ग राज्य के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है - ईश्वर के प्रति स्वीकार किया गया दारिद्र्य, विनम्र, बालकों जैसे हृदय से शुद्ध लोग, धार्मिकता के कारण अत्याचार सहन करनेवाले लोग । यही नैतिक आचरण हमें ईश्वर के राज्य के सदस्य बनाता है, जिस राज्य की घोषणा मसीह ने की और जिस में प्रवेश करने के लिए वह

---

1. मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह
   ताकर सुख सोई जनई, परमानंद सन्दोह ।
   मानस उत्त 46
2. बैबिल रोमि 8:10

प्रत्येक मनुष्य को निमंत्रित करता है । बैबिल के अनुसार स्वर्ग राज्य में प्रवेश करने की तीन बड़ी शर्तें हैं - अपने गुनाहों का पश्चाताप करना, ईश्वर की दया पर आश्रित होकर येशु पर विश्वास करना, ईश्वर के आज्ञाकारी होना । जो ईश्वर की इच्छा पर चलता है, वह ईश्वर के राज्य में प्रवेश करेगा । ईश्वर के आज्ञाकारी होने से अभिप्राय यह है कि जिस तरह ईश्वर पवित्र है, हम भी पवित्र हों । हर एक आदमी योग्यता के अनुरूप उसका फल प्राप्त करता है ।

स्वर्ग राज्य का महत्व छिपा हुआ खजाना और बहुमूल्य मोती की तरह है । मनुष्य को सब से पहले उसकी खोज में लगा रहना चाहिए । बैबिल में येशु सभी मनुष्यों को आह्वान देते हैं कि तुम सब से पहले ईश्वर के राज्य और उसकी धार्मिकता की खोज में लगे रहो, और ये सब चीज़ें तुम्हें यों ही मिल जायेंगी ।[1] स्वर्ग राज्य सार्व-भौम है । यह मुक्ति मनुष्यों को ईसा के द्वारा प्राप्त होगी ।[2] मुक्ति के लिए विश्वास और धैर्य की भी आवश्यकता है । ईसा ने क्रूस पर अपना बलिदान देकर मनुष्य का रास्ता मौत की ओर से मुक्ति की ओर मोड दिया । मुक्ति आनन्द जीवन और आनन्द है । नया नियम में येशु स्पष्ट घोषणा करते हैं कि मैं आया हूँ कि तुम अनन्द जीवन या आनन्द पाओ । सब शरीर-धारी ईश्वर के मुक्ति विधान के दर्शन करेंगे ।[3] क्योंकि वे मानव जाति को पाप के भार से मुक्त करने आये हैं । मोक्ष प्राप्ति के लिए समाज सत्य को जाने, केवल सत्य ही उन्हें स्वतंत्र करा सकता है । जो येशु के साथ उसके पीछे चलेगा वह मोक्ष प्राप्त करेगा । इसलिए हमें वह ज़मीन तैयार करनी है जिस पर प्यार और भाईचारे की फसल उगाने से मोक्ष प्राप्ति होती है । बैबिल के अनुसार मोक्ष या मुक्ति का प्रारंभ इस संसार से प्रारंभ होता है, जिन में भक्ति, प्रेम, शान्ति और ईश्वर हित निर्वहण करने की इच्छा हो । मृत्यु के बाद इनकी पूर्णता होती है ।

---

1. बैबिल मात्यु 6:33
2. बैबिल लूक 3:6
3. वही, 3:6

भारतीय चिन्तन में मोक्ष को पुरुषार्थों में सर्वोपरि माना गया है । यही व्यक्ति के जीवन का चरम लक्ष्य है । बैबिल का स्वर्गराज्य भी इसी मोक्ष की ओर संकेत करता है । तुलसी केवल भक्ति द्वारा प्राप्त मोक्ष का प्रतिपादन करते हैं । तुलसी के अनुसार भक्त मोक्ष न चाहते हुए भगवान की सेवा को सर्वोपरि मानते हैं । उनके विचारानुसार कर्म, वचन, मन से प्रभु राम की भक्ति ही मोक्ष की साधना है । बैबिल के अनुसार मनुष्य के पवित्र हृदय से ईश्वर और अपने पडोसी को समान रूप से प्यार करने के मोक्ष प्राप्त होते हैं । मोक्ष का आरंभ इस संसार से होता है और पूर्ति मृत्यु से होती है ।

निष्कर्ष :-

आध्यात्मिक धर्म के विश्लेषण में मानस और बैबिल आत्म प्राप्ति की दशा में समस्त सांसारिक संबंधों का केन्द्र ईश्वर को मानते हैं । मानव को जीवन में ईश्वर और आत्म प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए, मानव के जीवन का लक्ष्य विषय भोग नहीं, आत्म प्राप्ति है, ईश्वर प्राप्ति के लिए भक्ति की अपेक्षा रहती है । भक्त को ईश्वर के स्तर तक उठाने की योजना से युक्त होने के कारण दोनों ग्रंथों की भक्ति मानव-महिमा के सिद्धांत की स्थापना करती प्रतीत होती है । ईश्वर भक्ति का उद्देश्य ईश्वर की उपलब्धि के रूप में सच्चे मानवत्व का साक्षात्कार है । भक्ति का लक्ष्य ईश्वर रूपी महत् तत्व का अनुसंधान है जिस से तादात्म्य स्थापित करके मनुष्य अपनी अर्न्तनिहित महिमा का साक्षात्कार करता है । भक्ति समन्वित ज्ञान और ज्ञान समन्वित भक्ति के मार्ग का अनुकरण करते हुए व्यक्ति को काल, कर्म और स्वभाव के दोषों से मुक्त होकर अपनी शुद्ध चैतन्य-स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार करना है । मानस और बैबिल दर्शन से स्पष्ट हो जाता है कि सब से श्रेष्ठ विद्या ईश्वर ज्ञान है । दर्शन में आत्मदर्शन आध्यात्म विद्या या ईश्वर ज्ञान को समस्त ज्ञान का स्रोत माना

गया है । वह सत्य का अन्वेषण और विवेचना करता है, उसका संबंध बुद्धि से होता है । इसलिए वह सोच-विचार सिखाता है । मानव जीवन के उद्धार की सभी संभावनाओं को उजागर करना दोनों ग्रंथों का नितान्त व्यावहारिक लक्ष्य है । मानस और बैबिल का दर्शन सात्त्विक जीवन जीने की प्रबल प्रेरणा देता है । उस में सिद्धांत और व्यवहार की अन्त: संगति और अन्विति का अन्वेषण है, मन, वचन और कर्म की सदाचारमूलक एकता की खोज है । दर्शन का मुख्य उद्देश्य विश्व आत्मा ईश्वर में एकाग्र हो जाने में हैं । सब वस्तुओं की शक्ति उसका अंश है । मनुष्य विश्वात्मा का अंश है । इसलिए उसकी आत्मा पवित्र है । जो आत्माएँ माया के बन्धन से मुक्त होकर अन्विति करती है वे विश्वात्मा में मिल जाती हैं ।

पाँचवाँ अध्याय

रामचरितमानस और बैबिल में चित्रित समाज नीति का स्वरूप

आदर्श व्यवहार एवं कर्तव्य का नाम नीति है । हिन्दी कोशों में नीति के प्राय: व्यवहार का ढंग, कार्य संचालन का आधारभूत सिद्धांत, लोक व्यवहार के निर्वाह के लिए नियत किया गया आधार, औचित्य, योजना, प्रबन्ध, चालचलन, शालीनता, व्यवहार कुशलता, लोकाचार, व्यवहार पद्धति, राजनीति आदि अर्थ प्राप्त होते हैं । नीति शब्द "नी" + "क्तिन्" से बना है जिसका अर्थ है, ले जाना, दिग्दर्शन, निदर्शन, लोक या समाज के कल्याण के लिए निर्दिष्ट किया हुआ आचार व्यवहार आदि । संस्कृत - गुजराती नीति-कोश में उस पद्धति, रीति, ढंग, प्रणाली, योजना, शिष्टता, औचित्य, सदाचार को "नीति" कहा गया है, जो उच्च व्यावहारिक आचार का नियम-निर्देशन एवं पथ-प्रदर्शन करती है ।[1]

नैतिकता मनुष्य के आचरण का निर्धारण करती है और नीतिशास्त्र नैतिकता के मापदण्ड निर्धारित करता है । धर्म में सदाचरण और नीति के महत्व को ही प्रतिपादित करता है । निश्चित है कि धर्म का सदाचरण के साथ बहुत गहरा संबंध प्राचीन विचारक और आधुनिक मनीषी भी स्वीकार करते हैं । उनकी स्पष्ट धारणा है कि धर्म के बिना मानव जीवन की कोई कीमत नहीं है । धर्म, समाज, राष्ट्र और मानवता द्वारा निर्मित नियमों के अनुकूल चलते रहना ही नीति है और उपनियमों के अनुकूल मनोवृत्तियों से संबंधित मूल्य ही नैतिक मूल्य है । परोपकार, दया, अहिंसा, त्याग, दान, सत्य, प्रेम, संयम, क्षमा, दान, नम्रता आदि को नैतिक मूल्य कहा जा सकता है । नैतिकता शुद्ध सामाजिक प्रक्रिया है ।

---

1. संस्कृत-गुजराती नीति कोश, पृ. 256.

समाज और नीति :-

नैतिक आचरण पर ही समाज की नींव रखी जाती है। व्यक्ति का आचरण समाज में विशिष्ट महत्व रखता है। "निष्काम कर्म नैतिक आचरण की नींव है और नैतिक जीवन यज्ञ रूप है।"[1] नैतिकता व्यक्ति को स्वार्थ त्याग सिखाती है और सदाचार और आत्मत्याग के बिना सभी प्रकार का ज्ञान व्यर्थ है।"[2] नैतिकता और सदाचरण के माध्यम से समग्र विश्व को एक सूत्र में बाँधा जा सकता है। इस एकता के रहस्य को समझने एवं उसके अनुसार चलने का प्रथम उत्तरदायित्व मनुष्य-समाज पर ही है। व्यक्ति का आचरण सामूहिक रूप में सामाजिक आचरण बन जाता है। नैतिकता व्यक्ति को पद-पद पर मर्यादित करती है। व्यक्ति को उचित, अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध कराने के लिए समाज में कुछ विधि-विधान होते हैं। ये विधि-विधान ही नीति और आचरण के सामाजिक रूप कहलाते हैं। "सोच समझकर बनाये नियम के अनुसार संगठित रूप से चलनेवाला समाज कहलाता है।"[3] पतनोन्मुखी समाज को व्यक्ति का धर्मनिष्ठ आचरण ही बचा सकता है। धर्म और आचरण का सामाजिक रूप ही नीति का विकसित रूप है, जो समाज में संस्कृति के रूप में अभिव्यंजित होता है।

व्यक्ति का समाज के साथ अन्योन्याश्रित संबंध है। व्यक्ति का व्यक्तिगत आचरण और पारिवारिक आचरण ही समष्टि रूप में समाज का आचरण बनता है। समाज व्यक्ति को कर्तव्यपरायणता और धर्मपरायणता सिखाता है। व्यक्तिगत स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए भी व्यक्ति सामाजिक नियमों, परंपराओं, संस्कारों, विधि-विधानों, उत्सव-पर्व-व्रतों आदि में बंधकर नियंत्रित एवं संयमित जीवन जीता है। नीति व्यक्ति के जीवन को समाज में

---

1. तुलसीदास के काव्य में नैतिक मूल्य, डा. चरण वर्मा, पृ. 34.
2. धर्मसूत्र उद्भव एवं विकास का एक अध्ययन, पृ. 186
3. भागवत धर्म, हरि भाऊ, द्वि. भ. पृ. 204.

पूर्णता प्रदान करता है । पूर्णता उसे तब ही प्राप्त हो सकती है, जब वह आत्मोत्सर्ग, क्षमा, दया, प्रेम, विनम्रता, परोपकार, अहिंसा, आदि को जीवन में अपना लेता है । व्यक्ति स्वानुभूतियों को उचित परिवेश में सामाजिक रूप दे देता है ।

मानसिक परिष्कार नीति का सूक्ष्म रूप है । जिसका संबंध मानव-मन से है, जिसे आचरण भी कह सकते हैं । व्यक्ति अपने आचरण द्वारा समाज की सेवा करता है । लौकिक व्यवहार द्वारा समाज को विकासोन्मुख करता है । सामाजिक नैतिकता समाज में सामंजस्य एवं समरसता लाने का प्रयत्न करती है । वैयक्तिक नैतिकता के रूप में यह मानव की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों में होनेवाले संघर्ष को दूर करने और उसके जीवन में समरसता लाने के लिए प्रयत्नशील है । नैतिक चेतना, सामाजिक चेतना का एक अभिन्न अंग है । नैतिक नियम समाज की सामूहिक स्वीकृति पर आश्रित होते हैं, इसलिए इनका पालन भी स्वेच्छापूर्वक होता है । नैतिक चेतना मनुष्य को अच्छे-बुरे, उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय तथा ईमानदारी और बेईमानी को समझने में सहायता देती है ।

व्यक्ति समाज का अंग है, वह अपने आप में सीमित होते हु भी समाज की इकाई है, अतएव उसकी वैयक्तिक बातें भी धीरे धीरे समाज से प्रभावित होती हैं तथा समाज को प्रभावित करती हैं । समाज में रहते हुए व्यक्ति का अनेक व्यक्तियों से संपर्क होता है । समाज द्वारा निर्धारित मान्यताएँ नीति शब्द से अन्तर्निहित हो जाती हैं । नैतिकता सभ्य समाज क आधार स्तंभ है । समाज को आदर्श रूप प्रदान करने में प्रमुख भूमिका का निर्वह करते हैं । सामाजिक कर्तव्य और सामाजिक सुदृढता परस्पर पोषक है । कर्तव्यों और नियमों की सहायता से समाज के सदस्यों का आचरण समाज व्यवस्था को सुदृढ बनाने में सहायक होता है ।

समाजशास्त्र में किसी समाज की संस्थाओं, संगठनों, सामाजिक ढाँचे, विवाह, रीतियों आदि का अध्ययन होता है । समाज शास्त्र का दृष्टिकोण ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक है । परन्तु नीतिशास्त्र समाज की समस्त प्रक्रियाओं, अर्थात् समाज के ढाँचे, संगठनों, संस्थाओं आदि का आलोचनात्मक मूल्यांकन करता है और यह दिशा देता है कि आदर्श समाज की ओर किस प्रकार अग्रसर होना संभव है । जो व्यक्ति सामाजिक रीतियों और परंपराओं में अपना कदम बाहर रखता है, वह अनैतिकता की दहलीज पर खड़ा रहता है ।

मनुष्य समाज में रहता है । ये समाज आपसी संबंधों का ताना बाना है । व्यक्ति समाज का अंग रहता है और उसका समाज से कई तरह के संबंध बनते हैं । इस नाते व्यक्ति और समाज हमेशा एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं । इस प्रभाव के अन्तर्गत कई तरह की क्रिया-प्रतिक्रियायें होती रहती हैं । जिन्हें सन्तुलित रखने के लिए सामाजिक जीवन में कई तरह के विधि-नियमों की अत्यधिक आवश्यकता रहती है । इसके अभाव में व्यक्ति का जीवन विकास की ओर नहीं बढ़ सकता । सामाजिक जीवन को विधिवत् चलाने के लिए कई समझौते करने होते हैं, कुछ नियमों और सिद्धांतों का पालन करना पड़ता है । इनके अभाव में समाज व्यक्ति के विकास का घातक बन सकता है और मानवीय जीवन पशुओं के स्तर तक पहुँच सकता है । मानस और बैबिल में समाज के संतु में सहायक नियम, आदर्श, व्यवहार, साधन और सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ है । इनके अनुसरण से व्यक्ति का संपूर्ण विकास हो सकता है, समाज में एकता बढ़ सकती है, और मानव जीवन सुखमय बन जाता है ।

प्राचीन भारतीय समाज में नीति :-

नैतिक जीवन की उच्चतर दशाओं के लिए भारतीय नीति चित्तशुद्धि को अनिवार्य मानती है जिस में शुभकर्म और मानव धर्म की स्थाप की जा सके । नीति व्यक्ति के लौकिक आचरण को नियमित करती है त

उसके पारमार्थिक आचरण को परखता है । व्यापक अर्थ में नीति मानव जीवन का समग्र रूपात्मक विकास करती है । संस्कृत शब्द कौस्तुभ के अनुसार समाज कल्याण के लिए निर्दिष्ट आचार व्यवहार पद्धति नीति कहलाती है । देशकाल के अनुसार किया गया औचित्यपूर्ण आचरण नीति सम्मत कहा जाता है । महाभारत में नृप-कर्तव्य, तथा लोक कर्तव्य दोनों को ही नीति मानते हैं ।[1] चाणक्य नीति का प्रयोग लोक व्यवहार के अर्थ में किया है ।[2] पंचतंत्र या हितोपदेश आदि ग्रंथों में व्यावहारिक नीति का उल्लेख है । नीति का संबंध व्यक्ति के आचरण से भी है । सामाजिक जीवन में व्यवस्था एवं शान्ति बनाये रखनेवाला आचरण नैतिक कहलाने लगता है ।

नैतिकता तो मानवता का मेरूदण्ड है, उसके अभाव में मानवता का कोई अस्तित्व ही नहीं है । भारतीय समाज में मर्यादा, धर्मानुसार, आचरण एवं संयम को नैतिकता मानकर उसके अपनाने पर बल दिया जाता है । भारतीय दार्शनिकों के अनुसार श्रेय की प्राप्ति ही नैतिक आचरण का अन्तिम लक्ष्य है । नैतिकता का उद्देश्य मूल्य की प्राप्ति है । नीति समूची जीवन पद्धति को प्रभावित करती है । उसके क्षेत्र में मनुष्य के केवल उदात्त और श्रेष्ठ सामाजिक कर्म ही आते हैं । नैतिक तथ्यों का नैतिक दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर सभी नैतिक चिन्तक उसकी मूल्यात्मकता के बारे में सदैव एक ही निष्कर्ष पर पहुँचेंगे । इसी अर्थ में नैतिक नियमों को सार्वभौमिक कहा जा सकता है ।

नीतिशास्त्र मानव की आचार संहिता है । नीति निर्धारित नियमों के पालन पर बल देती है, किन्तु देशकाल के संदर्भ में ये नियम परिवर्तित एवं परिवर्द्धित भी हो सकते हैं । नैतिक मूल्य की परिकल्पना अपना औचित्य स्वयं सिद्ध कर देती है । उस दृष्टि से कर्तव्य परायणता, शिष्टाचार, सदाचार,

---

1. मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में नीति तत्व, पृ. 19.

2. चाणक्य नीति दर्पण, अ: 1, पृ. 3.

निष्कपटता, सच्चाई, सत्य, अहिंसा, दया तथा परहित आदि को नैतिक मूल्यों की संज्ञा से अभिहित किया गया है । ऐसे ही अनेक नैतिक मूल्य मानस और बैबिल में अन्तर्ग्रन्थित हैं जो व्यक्ति तथा समाज के संदर्भ में अपनी उपादेयता के द्योतक हैं ।

मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में मानव के नैतिक गुण के कुछ लक्षण गिनाये गये हैं, इन[1] में अहिंसा, क्षमा, सत्य आदि गुण मुख्य हैं । ये नैतिक गुण धर्म का रूप हैं । इस नीति को "स्वधर्म" कह सकते हैं ।
"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।"[2]
जो आप अपने लिए नहीं पसन्द करते, वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति कदापि न किया जाय । इस स्वभाव का अनुसरण ही नैतिकता है । यह कथन ईसा के स्वर्णिम नियम में प्रतिध्वनित होता है । "दूसरों से अपने साथ जैसा व्यवहार चाहते हो, तुम भी उनके साथ वैसा ही किया करो ।"

नीति का तात्पर्य सदाचार है जिस से यह निश्चित किया जाता है कि जीवन को सुचारू रूप से व्यतीत करने के लिए कौन से कार्य को करना चाहिए और किसे छोड देना चाहिए । वे सदाचार जिस से देश, समाज तथा व्यक्ति की उन्नति हो, नीति कह सकते हैं । यह जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त सफलता के मार्ग पर चलने की दिशा निश्चित करती है । मनुष्य क्या करता है, इस बात को छोडकर मनुष्य को क्या करना चाहिए, यह नीति है । नीति की परिभाषा व्यापक रूप में समाज को स्वस्थ एवं सन्तुलित पथ पर अग्रसर करने एवं व्यक्ति को अर्थ, धर्म, काम, तथा मोक्ष को उचित रीति से प्राप्त करने के लिए जिन विधि-निषेध मूलक सामाजिक, व्यावहारिक, आचारिक,

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1-8
2. भगवद्गीता, अध्याय : 6 32.

धार्मिक, तथा राजनीतिक आदि नियमों का विधान, देश काल और पात्र के संदर्भ में किया जाता है, उसे नीति शब्द से अभिहित करते हैं ।[1]

पश्चिम-एशियाई समाज में नीति :-

अंग्रेज़ी में नीतिशास्त्र के लिए **एथिक्स** (Ethics) शब्द का उपयोग किया गया है । एथिक्स यूनानी भाषा के विश्लेषण शब्द एथिका से बना है जो **एथोस** (Ethos) शब्द से निकला है । एथोस का अभिप्राय है रीति, चालचलन अथवा आदत । ये रीति-रिवाज़ ऐसे हैं जिनके पालन कर्ता को समाज सम्मान देता है । नीति और एथिक्स से सामान्य तत्व आचरण और निर्देशन या व्यवहार की कुशलता है । नीतिशास्त्र के लिए अंग्रेज़ी में नैतिक दर्शन (Moral Philosophy) शब्द भी काम में लाया गया है । मॉरल शब्द लतीनी भाषा के शब्द मोरेज (Mores) से निकला है जिसका अर्थ है आदतें या रूढ़ियाँ । अनौचित्य की अस्वीकृति और औचित्य की स्वीकृति में नैतिक आचार चरितार्थ होता है, किन्तु नैतिक चेतना इस से भी आगे बढ़कर सृजनात्मक और उदार रूप ग्रहण करती हुई साधुता का स्तर अधिगत करती है । यदि नैतिकता का अर्थ कर्तव्यपालन लिया जाए तो नैतिक व्यवहार का अर्थ होगा सभ्य व्यवहार या सदाचार । अरस्तू ने नीतिशास्त्र को मानव जीवन के चरम लक्ष्य का अन्वेषण मानते हुए परम हित में सहायक ठहराया है ।[2]

नीतिशास्त्र अथवा नैतिक दर्शन वह विज्ञान है जो मनुष्य के कार्यों के सदाचरण का अध्ययन करता है ।[3] नीतिशास्त्र की एक सबसे सरल परिभाषा यह है कि नीतिशास्त्र एक नियामक विज्ञान है जो मनुष्य के व्यवहा

---

1. हिन्दी साहित्य कोश भाग: 1, धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 457.
2. Ethical Principle, Aristotle, P.12-13
3. Ethics or moral Philosophy has been defined as the scie of moral rectitude of human conduct, मरे माइकेल, प्रोबलेम्स इन

में शुभ और अशुभ तथा औचित्य का अध्ययन करता है । मनुष्य का जीवन समाज से पृथक नहीं होता, इसलिए नीतिशास्त्र में मनुष्य के अधिकार और कर्तव्य और सद्गुणों का भी विचार किया गया है । अरस्तू लिखता है "ज्ञान" सदाचारी बनाता है ।

भारतीय और पश्चिम एशियाई समाज में नीति का लक्ष्य जीवन को आदर्शमय शुभ-मार्ग दिखाना है, जिस से व्यक्ति के साथ परहित पर दृष्टि रखी जाय । नीति सामाजिक मान्यताओं का अनुसरण करती है । भारतीय और पश्चिम एशियाई दृष्टिकोण के अनुसार आत्मज्ञान एवं आत्मानन्द की प्राप्ति नैतिकता के अभाव में कभी संभव नहीं हो सकती । नैतिकता शुभ आचरण से संबद्ध है । वह अपने विशुद्ध रूप में व्यक्ति के सदाचार तथा कर्तव्यनिष्ठा का निरूपण करती है ।

भारतीय और पश्चिम एशियाई समाज के नीति ही सर्वोत्तम शक्ति है, सर्वोत्तम संपत्ति है, सर्वोत्तम धर्म है, सर्वोत्तम मोक्षसाधन है । जिसने नीति का पालन किया, नीति भी उसकी रक्षा करती है । वह ईर्ष्या-कोप, शत्रुता आदि का शमन करके दया, करुणा, प्रेम, त्याग, सहानुभूति आदि सद्प्रवृत्तियों को जागृत करती है । नीति के बिना जीवन फीका, नीरस और व्यर्थ है । इसलिए नीति का जीवन में विशेष महत्व है । नीतिमान विद्वान न हो तो कोई बात नहीं, लेकिन यदि विद्वान नीतिमान न हो तो वह विशेष निन्दा का पात्र होता है । नीति और अपनी आत्मा को प्रिय लगनेवाला आचरण भी धर्म कहा गया है । नीति और सदाचार एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते । मानवता का परिचय भी इन्हीं से होता है । वह श्रेष्ठ पुरुषों का आभूषण है ।

नीति और सदाचार :-

पवित्र विचार, पवित्र वाणी, पवित्र व्यवहार ही सदाचार है । सदाचार शब्द के सत् और आचार के योग से सदाचार शब्द निष्पन्न होता है । आचार शब्द का अर्थ है व्यवहार, चरित्र । भारतीय और पाश्चात्य धर्म में सदाचार को अत्यधिक महत्व प्राप्त है । इसे धर्ममय जीवन का मूलाधार कहा जा सकता है । वह शब्द इतना व्यापक है कि इसके अर्थ या अभिप्राय बहुत हैं - सत् के अच्छा, सत्य, सच्चिदानन्द, ब्रह्म आदि अर्थ हो सकते हैं । इन तीनों अर्थों में सदाचार युगों से भारतवासियों का उज्जवलतम प्रकाश स्तंभ रहा है । सदाचार की महिमा अपार है ।

मनु की राय में इस लोक में यश और परलोक में परम सुख देनेवाला एवं मनुष्यों का महान कल्याण करनेवाला आचार ही प्रथम धर्म है । आचार से ही श्रेष्ठता प्राप्त होती है, धर्मलाभ होता है । मोक्ष एवं ईश्वर प्राप्ति होती है । अतः आचार ही परम धर्म है, आचार ही परम तप है, आचार ही परम ज्ञान है, आचार से क्या नहीं सिद्ध होता ।[1] महाभारत के अनुशासन पर्व में कहा गया है कि आचार से, आयु, लक्ष्मी और कीर्ति उपलब्ध होती है ।[2] इसलिए जो अपना वैभव चाहे, वह सदाचार का पालन करें । आचार लक्षण धर्म है, सन्त भी आचार लक्षण से लक्षित होते हैं । ईर्ष्या राह से रहित, अहंकार विहीन, लोलुपता रहित, पाखण्ड, लोभ, मोह, क्रोध से जो विमुख है, वे शिष्ट कहलाते हैं । वे ही सदाचारी हैं । जिस व्यक्ति में सत्य, अहिंसा, परोपकार, करूणा, क्षमा, दया आदि होते हैं, वह नीतिमान कहलाता है और पूर्ण सदाचारी भी है ।

---

1. आचारः परमो धर्मः आचारः परम तपः
   आचारः परम ज्ञानमाचारात किं नु साध्यते ।
2. महाभारतः अनुशासन पर्व

मनुष्य सृष्टि धर्म रूपा है, मनुष्य का धर्म उसके आचरण द्वारा अभिव्यक्त होता है। धर्म व्यक्ति और समाज का नियामक है। सदाचार को धर्म का निर्णायक माना गया है। सामाजिक नियमों के अनुरूप व्यक्ति का आचरण ही उसका धर्म है। धर्म और आचरण के व्यापक रूप के मूल में मानव कल्याण और समाज हित की भावना निहित है। धर्म और नीति का व्यावहारिक रूप सदाचार से जुड़ा है।

एनसाइक्लोपीडिया में नीतिशास्त्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि नीतिशास्त्र दर्शन का वह पक्ष है, जिसमें मानवीय व्यवहार का मूल्यात्मक विवेचन किया जाता है। इस विवेचन में औचित्य तथा शुभाशुभ का विचार विशेष रूप से होता है और यथासंभव नैतिक व्यवहार को नियमबद्ध करने का प्रयास किया जाता है। मानव की आत्मोन्नति करने की विधियाँ इस में आती हैं। भारत वर्ष में सदाचार पालन को आध्यात्मिक ज्ञान का प्रथम सोपान माना गया है। इसलिए ऋषि लोग ईश्वर से ऐसी प्रार्थना करते हैं[1] हे, ईश्वर, अज्ञान अन्धकार से बचाकर वैदिक ज्ञान रूपी प्रकाश की ओर तथा मृत्यु आदि दुःखों से छुडाकर, अमृततत्व की ओर ले जायें। जो सभ्य समाज में सम्मान और श्रद्धा का पात्र होता है, जो न्याय और नैतिकता में विश्वास करता है, जो आत्मसंयमी, इन्द्रियनिग्रही होता है वही सदाचारी है।

सदाचार वह कल्पवृक्ष है, जिसका मूल धर्म है, संयममय जीवन प्रकाण्ड है - यश पत्ते हैं, धन शाखाएँ, भोग पुष्प और मुक्ति है सुस्वादु मधुर फल।

सदाचार पालन और चरित्र निर्माण एक ही बात है। हमारे पूर्वजों ने जीवन की उन्नति के साथ जिन नियमों को अपनाया और शास्त्र

---

1. ओउम् असतोमा सद्गमया, तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मा अमृतं गमय।
बृहदारण्यकोपनिषद 1:3:28.

जिनके पालन से मनुष्य का कल्याण करते हैं वही क्रिया-कलाप प्रशस्त एवं अनिन्दित होने से सदाचार कहा जाता है । महापुरुषों द्वारा अपनाया जानेवाला आचार सदाचार है ।[1] सदाचार की व्याख्या शुभवृत्ति है ।[2] सदाचार की उपेक्षा कर कोई भी मनुष्य अपनी या समाज की सच्ची प्रगति नहीं कर सकता । सदाचार वह पवित्र आचरण है, जो किसी व्यक्ति को आत्मसाक्षात्कार या परमात्मा प्राप्ति की योग्यता प्रदान करता है । इस से उन में दिव्य गुणों का समावेश हो जाता है, जो समाज में अनुकरणीय एवं स्पृहणीय माने जाते हैं । आज की शिक्षा पद्धति यदि बालकों के कोमल मस्तिष्क पर सदाचार की छाप डाल सकती तो वे संत महात्मा बनने का उत्साह रखते हुए आगे बढते, चलते और इन्द्रियों तथा वासनाओं के गुलाम बनकर दुःख की मूर्ति न बनते । सच्चरित्र व्यक्ति ही उन्नतिशील होता है और जीवन के हर क्षेत्र में सच्चरित्रता की नितांत आवश्यकता है ।

मानस में नीति :-

तुलसी सामाजिक व्यवस्था में विश्वास रखते हैं । वे सामाजिक विकास का स्रोत व्यक्ति को और व्यक्ति के विकास का स्रोत उसके नैतिक और चारित्रिक गुणों को मानते हैं । कुलमिलाकर तुलसी की नैतिकता मानव मूल्यात्मक है । तुलसी ने राम में जिन महान् गुणों के प्रतिफलन की कल्पना की है, वे उन्हें भक्ति के माध्यम से समाज व्यापी प्रसार प्रदान करने के पक्ष में हैं । इसलिए व्यक्ति-मन का संस्कार-परिष्कार तुलसी के आचार दर्शन का प्रस्थान बिन्दु है । यदि राम भक्ति द्वारा सभी व्यक्तियों का मन परिष्कृत हो जाए तो सामाजिक व्यवस्था की पीठिका स्वतः ही निर्मित हो जाती है । तुलसी व्यवहारवादी दार्शनिक हैं । उनका दृष्टिकोण व्यवहारसापेक्ष है ।

---

1. सत् प्रशस्तः चासो आचारश्च सदाचारः ।
2. सताम शिष्टानाम, आचारः सदाचारः ।

नीति व्यक्ति का कर्तव्य है और कर्तव्य का व्यक्त रूप उसका आचरण है । नीति का विकास लोकहित के लिए परस्पर के व्यवहार में निहित होता है । व्यक्ति के पारस्परिक व्यवहार का कारण उसकी रागात्मकता है । अत: जीवन में नीति और सदाचार का महत्वपूर्ण योगदान है । कर्म नीति से जुडा है, शास्त्रों में नीति-सम्मत आचरण को ही उचित कर्म माना गया है ।

तुलसी ने समाज की संघटनात्मक विचारधारा के अधीन धर्म और नीति में व्यावहारिकता को अपनाया । उन्होंने व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंधों को समझाने के हेतु धर्म और नीति को ही माध्यम बनाया है । अपने युग के समाज में प्रचलित आचरण को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परखा और उन्होंने काव्य में समाज, परिवार और व्यक्ति के लिए परिष्कृत आचरण का स्वरूप प्रस्तुत किया और सभी पारिवारिक संबंधों का चित्रण करके हिन्दू जनता को एक नवीन समाजशास्त्र सौंपा ।

तुलसी की नीति में धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, सत्य-असत्य की परख है । मानस में संपूर्ण कथा धर्म-नीति का उद्घाटन है । नीति का व्यावहारि पक्ष सदाचार है और तुलसी के राम सदाचार हेतु अवतार लेते हैं । उन्होंने मानस में समाज संगठन की प्रथम इकाई अर्थात् परिवार से लेकर लोकसमाज तथा राजसमाज तक संबंधित नीति का सुन्दर कथन किया है । उन्होंने राजा की नीति, व्यवहार और सदाचार को समाज के लिए प्रेरणा स्रोत माना है ।

तुलसी के युग में नैतिक जीवन का अत्यधिक ह्रास हो चुका था वे जानते थे कि जिस समाज में नैतिक तथा धार्मिक संबंधों का अभाव होता है वह समाज अतिशीघ्र विनष्ट हो जाता है । इसलिए तुलसी ने अपने मानस में नैतिक व्यवस्था का एक विशाल आदर्श पटल खींचा । जिस में उन्होंने वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राजनैतिक मर्यादा का पूर्ण रूप से समावेश दिखाया ।

मन और इन्द्रियों की शुद्धि के साथ साथ सभी जीवों पर दया, क्षमा, उदारता, तथा सहनशीलता आदि आत्मिक गुणों के विकास की नीति पर तुलसी ने अधिक बल दिया । उक्त गुणों के अभाव के कारण व्यक्तिगत संघर्ष तथा सामाजिक विश्रृंखलित उत्पन्न होती है । जीवन में सफलता पाने के लिए शरीर की रक्षा, आत्मिक उन्नति और बौद्धिक विकास का होना अनिवार्य है । बौद्धिक विकास के साथ ही साथ चरित्र एवं सदाचार के विकास को मानव उन्नति की सीढ़ी माना है । संयम, सत्य भाषण, मधुर भाषण, सरलता, धैर्य, दया, परोपकार, मानव के सात्त्विक गुण है एवं काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि विकार हैं । सात्त्विक गुणों का ग्रहण नीति का विवेच्य विषय है । यही जीवन का मूल सिद्धांत है । जीवन का महत्वपूर्ण आदर्श त्याग एवं कर्तव्यपालन है । विपत्तियों पर विजय पाने के लिए सुखों का त्याग आवश्यक है । तुलसी ने प्रेम, करूणा, दया, सहानुभूति, त्याग, बलिदान, मानवता आदि की शिक्षा प्रदान की हैं ।

मानस में नीति और प्रीति का उल्लेख कई बार एक साथ हुआ है यथा -

"राम करहि भ्रातन्ह पर प्रीति । नाना भाँति सिखावहि नीति ।"[1]
"सब नर करहि परस्पर प्रीति । चलहि स्वधर्म निरत श्रुति नीति ।"[2]
"सब के प्रिय सेवक यह नीति । मेरे अधिक दास पर प्रीति ।"[3]

तुलसी नीति से प्रीति करते थे । उन्होंने अपने राम में भी नीति-प्रीति का संयोग देखा था -

देखु कालु लखि समय समाजू । नीति प्रीति पालक रघुराजू ।
लरि काइहि तै रघुवर बानी । पालत-प्रीति पहिचानी ।"[4]

स्पष्ट है मानस नीति का उत्कृष्ट ग्रंथ है । नीति के विभिन्न पक्षों को लेकर मानस का विस्तारपूर्ण विश्लेषण आगे किया जायेगा ।

---

1. मानस उत्तर 25
2. वही, पृ. 21.
3. वही, पृ. 16.

बैबिल में नीति :-

नीति मनुष्य के व्यवहार में शुभ और अशुभ का विवेचन करती है । वह मनुष्य को मनुष्य बनाने का प्रयत्न कर रहा है । नैतिकता का उद्देश्य है अव्यवस्था, संघर्ष और असहयोग को दूर कर मानव जीवन में व्यवस्था, सामंजस्य एवं सहयोग उत्पन्न करना । सामाजिक नैतिकता समाज में सामंजस्य एवं समरसता लाने का प्रयत्न करती है । वैयक्तिक नैतिकता के रूप में यह मानव की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों में होनेवाले संघर्ष को दूर करने और उसके जीवन में समरसता लाने के लिए प्रयत्नशील है । नैतिकता सामाजिक उपज है और इसका चरम लक्ष्य है मानवता का कल्याण ।

नैतिकता या नैतिक आचरण धार्मिकता ही है । बैबिल के सुसमाचारों में इसका मूल अर्थ औचित्य और न्याय है । वह आध्यात्मिक नव-जीवन है, जो हमें ईश्वरीय स्वभाव के सहभागी बना देता हैं । पुराना नियम मनुष्य को नैतिक बनने के लिए आह्वान देता है, और ईश्वर मनुष्य को नैतिक बनने की शक्ति भी प्रदान करता है । बाह्य या नियमबद्ध नैतिकता की अपेक्षा हृदय की शुद्धता प्रसूत आचरण ईश्वर को ग्रहणयोग्य है । बैबिल के दस आज्ञाएँ (टेन कमाण्टमेण्ट्स) नैतिक जीवन बिताने के लिए सहायता देते हैं ।

नया नियम में येशु की शिक्षा के दो पक्ष है धार्मिक और नैतिक । धार्मिक पक्ष में उसने ईश्वर के अद्भुत प्रेम को प्रकट किया और ईश्वर के राज्य की घोषणा की । नैतिक पक्ष में धार्मिक शिक्षा के अनुरूप पुरानी व्यवस्था को नया रूप दिया और व्यवहार संबंधी नवीन शिक्षाएँ दीं । इन दोनों पक्षों को पृथक नहीं किया जा सकता । पहाडी उपदेश और येशु के पडोसी से प्रेम संबंधी आदेश सर्वश्रेष्ठ नैतिक शिक्षा हैं ।

येशु का पर्वत प्रवचन §Sermon of the Mount § या पहाडी उपदेश शायद सारे संसार में सब से प्रसिद्ध नैतिक शिक्षा है । इस कथन को समस्त नैतिकता की शीर्ष चट्टान कहा गया है । ये शिक्षा सामाजिक आचरण की सब से ऊँची चोटी है और नैतिक आचरण संबंधी शिक्षा का एवरेस्ट है । यह बिलकुल नयी शिक्षा है, जीवन का और जीवन के दायित्व या कर्तव्यों का एक बिलकुल नया दृष्टिकोण है । प्रसिद्ध बैबिल पण्डित फुलटन षीन ने पर्वत प्रवचन पर टिप्पणी करते हुए बडी महत्त्वपूर्ण बात कही "येशु का जीवन दो अंकों में बाँटा जा सकता है, पूर्व भाग में वे पहाड पर बैठकर लोगों को शिक्षा देते हैं और उत्तर भाग में वे कालवरी पहाड पर क्रूस पर चढकर जो कुछ उन्होंने कहा था, उसे पूरा कर दिखलाते हैं ।"[1] फिर वे लिखता है कि पर्वत उपदेश में येशु ने दो अभिव्यक्तियों का उपयोग किया है और यदि इन अभिव्यक्तियों को हम समझ लें तो यह उपदेश व्यावहारिक प्रतीत होने लगता है । फिर यह उपदेश काल और स्थान के बंधनों में न रहकर सदा वर्तमान का रूप ले लेता है ।

बैबिल के नया नियम में येशु एक नई नैतिकता का शिलाधार रख रहे हैं, जो युग-युगान्तर के लिए है, जो निरन्तर वर्तमान है, मानो आज भी येशु यही कह रहे हैं, जो अपने भाई पर क्रोध करेगा वह कचहरी में दण्ड के योग्य होगा । "जो कोई किसी स्त्री पर कुदृष्टि डाले वह अपने मन में उस से व्यभिचार कर चुका आदि । येशु ने अपनी शिक्षाओं में स्पष्ट प्रकट किया कि पाप का केन्द्र मनुष्य का हृदय अथवा मन है ।

आदर्श नैतिक व्यक्ति बुद्धिमान है, पवित्र है जो ईश्वर के प्रेम से प्रेरित होकर ईश्वर का पूर्ण आज्ञाकारी बन जाता है । नैतिक आचरण से संबंध रखनेवाला एक दृष्टान्त येशु ने समाज के सामने रखा । इसलिए जो कोई

---

1. डॉ. फुलटन षीन. जे, लाइफ ऑफ क्राइस्ट 1960, पृ. 118-120.

मेरी ये बातें सुनकर उन्हें मानता है वह उस बुद्धिमान मनुष्य की नाई ठहरेगा, जिसने अपना घर चट्टान पर बना दिया और मेघ बरसा और बाढ़ें आईं, और आँधियाँ चली, और उस घर से टकरायी, परन्तु वह नहीं गिरा, क्योंकि उसकी नींव चट्टान पर डाली गयी थी । जो कोई मेरी ये बातें सुनता है और उन पर नहीं चलता वह उस मूर्ख के सदृश है, जिसने बालू पर अपना घर बनवाया । पानी बरसा, और बाढ़ें आईं, और आँधियाँ चलीं और उस घर से टकरायीं वह घर गिरकर सत्यनाश हो गया ।'[1]

ये दृष्टांत मनुष्य के नैतिक आचरण से संबंध रखते हैं । चट्टान पर मकान बनने का दृष्टांत मनुष्य को सुनने और उसके अनुसार काम करने का पाठ सिखाता है । बुद्धिमान लोग सुनता है, ग्रहण करता है, मानता है और अपना जीवन उसके अनुसार बनाता है । फल यह होता है कि वह अपने प्रतिदिन के जीवन में दृढ़ रहता, डोलता नहीं और निष्काम कर्म करता है, लोग उस पर भरोसा करते हैं । नैतिक मूल्य कालजयी है, इस से मुँह मोड़ना मूर्खता है ।

पुराना नियम के आमोस नबी की पुस्तक में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ईश्वर होमबलि की अपेक्षा मनुष्य के नैतिक आचरण चाहता है ।[2] होशे नबी की पुस्तक से यह स्पष्ट है कि ईश्वर मनुष्य से प्रेम, दयालुता, न्याय, करूणा का व्यवहार चाहता है ।[3] मीका नबी ने बड़े सशक्त शब्दों में सन्देश दिया 'हे मनुष्य ईश्वर तुझ से क्या चाहता है कि तू न्याय से काम करे और कृपा से प्रीति रखे और अपने ईश्वर के साथ नम्रता से चले ।[4]

---

1. बैबिल मात्यु 24-27
2. आमोस 8:4-7
3. होशे 6:6
4. मीका 6:8

ज्यों-ज्यों वक्त गुज़रता गया, यहूदी या इस्राएल जाति के धर्मशास्त्रियों ने अपनी सुविधा के अनुसार पुराना नियम के नियमों की ऐसी टीकाएँ की कि यहूदियों का नैतिक जीवन घमण्ड और कपटीपन से भर गया । येशु ने स्वयं इन रीति-रिवाज़ों पर जो यहूदी धर्म शास्त्रियों की देन थी, कड़ी आलोचना की ।

नीति निष्ठ और विवेकशील आदमी नीतिमान है । बैबिल के अनुसार नियमों का पालन करके धार्मिक जीवन बितानेवाला ईश्वर भक्त आदमी ही नीतिमान है । मानस और बैबिल में नीतिमान व्यक्ति को बहुत महत्व दिया गया है । नीतिमान व्यक्ति समाज की तथा अपनी उन्नति करने में सफल होता है । वह सदैव आदर्श जीवन बिताता है । उस में सदा उन्नत गुणों और उदात्त भावनाओं की परिस्थिति रहती है । उन में त्याग की भावना का विकास होता है । ईश्वर की संहिता नीतिमान व्यक्ति के हृदय में घर कर गयी है । उस में मानवीय गुणों, करूणा, दया, सहानुभूति और उदारता की भावना होती है । वह समाज की तथा अपनी उन्नति करने में सफल होता है । जीवन में जीविकोपार्जन के लिए उचित और न्यायपूर्ण मार्ग पर दृढ़ रहनेवाला व्यक्ति नीतिमान है । नीति व्यक्ति को सन्मार्ग पर ले जाती है और धर्मानुसरण के लिए प्रेरित करती है । धर्म सनातन होता है और नीति सामयिक । नीतिमान व्यक्ति अपने आचरण से धर्मशील बन जाता है । वह जीवन भर सुखपूर्ण रहता है ।

नया नियम में येशु बड़े नीतिमान थे । फिर जोसफ, ज़करिया और एलिज़बेथ सिमयोन, अरिमथिया के जोसफ आदि आते हैं । पुराना नियम में लोत, आबेल, धार्मिकता के प्रचारक नोह, धार्मिकता का राजा मेलखिसेदेक, नबी लोग आदि नीतिमान थे ।

बैबिल के स्तोत्र ग्रंथ में कहा गया कि नीतिमान उस वृक्ष के सदृश है, जो जलस्रोत के पास लगाया गया, जो समय समय पर फल देता है, जिसके पत्ते कभी मुरझाते नहीं । वह मनुष्य जो भी करता है, सफल होता है ।"[1] नीतिमान प्राय: शिष्ट भी है, उनकी भावना में उचित-अनुचित का पर्याप्त विचार रहता है । सूक्ति ग्रंथ में ऐसी शिक्षा मिलती है कि 'सद्धर्मी का मुख जीवन का स्रोत है, नीतिमान की जिह्वा शुद्ध चाँदी है । नीतिमान के मुख से प्रज्ञा के शब्द निकलते हैं, सुख-शांति धर्मियों का पुरस्कार है ।[2] नीति वही है जो यह बताती है कि व्यक्ति किस प्रकार जीवन बितायें । उसमें सामाजिक हित की भावना होती है और वह सेवा से ओतप्रोत रहता है । कोई भी व्यक्ति आत्मनिर्भर नहीं है । उसको आवश्यकताएँ अनेक है । उसने अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु एक दूसरे के सहयोग का अनुभव किया और आपस में मिलकर रहना पसन्द किया, जिस से समाज और राज्य का आविर्भाव हुआ । समाज के सुचारू संचालन के लिए व्यक्तियों के अपने व्यवहार के लिए नियमों की ज़रूरत पडी । इसी प्रकार नैतिक नियमों का निर्धारण हुआ ।

बैबिल में नीति मनुष्य को प्रत्येक परिस्थिति में ईश्वर की इच्छा को जानने और फिर उस इच्छा के अनुसार निर्णय लेने और कार्य करने की आज्ञा देती है । बैबिल नीतिशास्त्र प्रेम के महानियम को प्रतिपादित करता है उसके साथ ही साथ प्रत्येक परिस्थिति में उसके पालन की आज्ञा देता है । येशु ने कहा "मैं तुम्हें एक नया नियम देता हूँ कि एक दूसरे से प्रेम रखो जैसा मैं ने तुम से प्रेम रखा है, वैसे ही तुम भी एक दूसरे से प्रेम रखो । यदि आपस में प्रेम रखोगे तो इसी से सब जानेंगे कि तुम मेरे चेले हो ।"[3] ख्रिस्तीय नीतिशास्त्र ख्रिस्तु के अनुसार जीना है ।[4] एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एंड एथिक्स में ख्रिस्तीय

---

1. बैबिल स्तोत्र 1:3
2. सूक्ति 10:17,20,31.
3. जोन 13:34-35.
4. स्मिथ न्यूमेन क्रिस्तियन एथिक्स पृ. 1

नीतिशास्त्र की परिभाषा यों दी है - ख्रिस्तीय नीतिशास्त्र वह विज्ञान है जिस में व्यक्ति को यह बताया जाता है कि व्यक्ति को कैसी कामना करनी चाहिए और कैसी कामना नहीं करनी चाहिए, किन कर्तव्यों का पालन करना चाहिए और किन कार्यों से दूर रहना चाहिए और किन कर्तव्यों की उपलब्धि एवं पूर्ति के लिए किस आध्यात्मिक एवं नैतिक शक्ति की आवश्यकता है ।[1] भारतीय नीतिशास्त्र मनुष्य के मस्तिष्क और आत्मा दोनों का परिष्कार करती है । नीति समाज के प्रत्येक व्यक्ति को सुख सन्तोष, मान सम्मान, धर्म, अर्थ-काम और मोक्ष की मर्यादित रूप में प्राप्त कराती है ।[2]

बैबिल में नैतिकता ईश्वर से प्रेम और मनुष्य से प्रेम करना है । बैबिल में नीति येशु के धर्म का अभिन्न अंग है और येशु की आज्ञा उसका हृदय है और येशु का व्यवहार उसका प्रतिरूप है । बैबिल में नैतिकता दस आज्ञाओं में अभिव्यक्त करते हैं । येशु ने यह नैतिक शिक्षा दी कि नैतिकता बाह्य व्यवहार ही नहीं वरन् व्यक्ति की आंतरिक इच्छा से संबंधित है । मानव जीवन शारीरिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए नहीं वरन् त्याग और दूसरों की सेवा के लिए हैं । यद्यपि नैतिकता अपने अतीत में जड़ पकड़े हुए हैं, तथापि वह परिस्थितियों और नए अनुभवों को अपने में समा लेती है । बैबिल में नैतिकता सदा विकासोन्मुख है और अपने को नये नये रूपों में ढालती रहती है, और वह निर्माणशाला में । नीति नये-नये रूप लेती चलती है । बैबिल में नीति नये नये रूप ग्रहण कर मनुष्यों के नैतिक जीवन का मार्गदर्शन करती है । बैबिल में नीति आत्मा की नीति है, जो व्यक्ति के अन्दर है, स्वतंत्र है, और उत्तरदायी है । वह प्रेम और ईश्वर से नाता जोड लेना है । बैबिल में नैतिकता में मनुष्य का सर्वोपरि स्थान है ।

---

1. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स ग्रंथ :5, 1712, पृ. 469.
2. Encylopaedia of Religion and Ethics, P.711 - 712.

मनुष्य को अपने समान और मनुष्य मानकर उसके प्रति उदार व्यवहार करना ही नीति का मुख्य मर्म है । मानस और बैबिल में मनुष्य के नैतिक व्यवहार को सब से बढ़कर माना गया है । दोनों ग्रंथ मनुष्य के प्रति मनुष्य के संबंधों में जो उदार भावना रखती है, वही मानवता का सार मानते हैं । विनय और परोपकार की ओर बढ़ना ही मानवीयता का मार्ग है । बात-बात में मानस और बैबिल का चमत्कार दैनिक व्यवहार को अद्भुत प्राणवान बना देता है । दोनों ग्रंथों में समान रूप से कहा गया कि नैतिकता मूल्य प्राप्त करने की राह है । नैतिकता का श्रेय व्यवहार को परिष्कृत करना है और आदर्शों की ओर प्रेरित करना है । व्यक्ति और समाज के समुचित विकास के लिए और ईश्वरीय ज्ञान के लिए आवश्यक बातों को इन में समाहित किया गया है । आज जिन्हें हम नैतिक नियम कहते हैं वे किसी समय धर्म की गोद में ही पले हैं । एक समय था जब धर्म ही नैतिक शिक्षा का स्रोत था । मानस में श्रीराम नैतिक जीवन का आदर्श रूप है । बैबिल में येशु, जिस में ईश्वर ने अपने आप को प्रकट किया मानव व्यवहार के लिए एक आदर्श बन जाते हैं । मानस और बैबिल में नैतिकता, मनुष्य को मनुष्य बनाने का प्रयत्न कर रही है ।

व्यवहार नीति

व्यक्तिगत जीवन में मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार करने के लिए स्वतंत्र है । अपने व्यवहार के आधार पर ही किसी व्यक्ति के चरित्र का निर्णय होता है । जिसके व्यवहार का समाज पर अच्छा प्रभाव पड़ता है वह सराहनीय हो जाता है । व्यवहार नीति का प्रभाव व्यक्ति को शांति और सुखी बनाने में सहायक होता है । यह नीति मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में सहायक होती है । जो सदाचार का पालन करता है उसका सम्मान होता है । बैबिल के स्तोत्र ग्रंथ में कहा है कि "ईश्वर तुम्हारी नीति को उषा की तरह प्रकट करेगा और तुम्हारे न्याय को दोपहर के आकाश की तरह ।[1] व्यवहार

1. बैबिल स्तोत्र 37:6

नीति द्वारा व्यक्ति में आस्तिकता और धर्म की भावना का जागरण होता है । उसका मन निर्मल होता है , और क्रमश: उसकी आत्मा शुद्ध रूप को प्राप्त करती हुई मुक्तावस्था तक पहुँच जाती है । मनुष्य सदा यही चाहता है कि उसको समाज अच्छा समझे । हर व्यक्ति समाज में सम्मानित रूप में रहना चाहता है । इस प्रकार का सामाजिक सम्मान मनुष्य को व्यवहार से प्राप्त होता है जिसका विचार शुद्ध होता है । जो दूसरों के सम्मान को अपना सम्मान समझता है तथा नैतिकता और सदाचार का व्यवहार करता है, उसका चरित्र क्रमश: उन्नत होता जाता है । आचरण की दृष्टि से वह पवित्र है ।

नीतिपूर्ण व्यवहार करनेवाले व्यक्तियों के चारों ओर शांति का वातावरण बना रहता है । नीति का प्रवाह यह होता है कि यदि एक व्यक्ति शिष्ट व्यवहार करने लगता है तो इस से वह दूसरों को भी वैसा करने के लिए प्रेरित करता है । उसका जीवन हर प्रकार से शांत और सुखमय रहता है । मानव जीवन का क्षेत्र बहुत व्यापक है । सामाजिक परिस्थितियाँ और आवश्यकताएँ समाज में रहनेवाले व्यक्तियों को विभिन्न पारस्परिक संबंधों में आबद्ध कर देती हैं । व्यक्तियों की अपनी पृथक पृथक् जाति, वर्ग, धर्म, मत तथा संप्रदाय होते हैं । इनके अनेक प्रकार के नियम होते हैं, जिनका पालन करना उनके लिए आवश्यक होता है ।

समाज में सभी प्रकार के व्यक्ति रहते हैं । उसमें सज्जन और दुर्जन दोनों प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं । उनके व्यवहार भी भिन्न हैं । खलों की विद्या विवाद केलिए, धन मद के अभियान के लिए तथा शक्ति दूसरों को पीडित करने के लिए होती है । इसके विपरीत सज्जनों की विद्या ज्ञान के लिए, धन, दान के लिए और शक्ति दूसरों की रक्षा के लिए होती है ।[1] इन सभी

---

1. विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्ति परेषां परपीडनाय
   खलस्य साधोर्विपरीतमें से ज्ञानाय दानाय चरक्षणाय ।

अच्छे तथा बुरे लोगों के साथ उचित व्यवहार तथा कर्तव्यपालन के आदर्श को व्यावहारिक नीति के अन्तर्गत उल्लिखित किया जाता है । देश, जाति, धर्म, और वंश की उन्नति नीतिमान व्यक्ति से ही होती है । आचरण की पवित्रता को व्यवहार नीति कहा जाता है । यही कारण है कि सभी देश और समाज में मानव जीवन को नियमित और संयमित रखने के लिए धर्म ग्रंथों और शास्त्रों का निर्माण किया गया है । मानस और बैबिल में नीति और सदाचार की शिक्षा दी गई है ।

मानस और बैबिल में मिलनेवाली व्यावहारिक नीति को अध्ययन की सुविधा के लिए कई प्रकार से विभाजित किया जा सकता है । जैसे, सत्य संबंधी, अहिंसा संबंधी, परोपकार संबंधी, दया संबंधी, आत्मसंयम संबंधी, क्षमा संबंधी, नम्रता संबंधी, शील संबंधी, प्रेम संबंधी, शिक्षा तथा ज्ञान संबंधी, आनन्द संबंधी आदि ।

सत्य

नीति का पहला स्तम्भ है - सत्य । सत्य साक्षात् ईश्वर है । वेदों में सत्य को ही पृथ्वी का आधार माना गया है -
"सत्येनोत्तिभिता भूमि :"[1] अर्थात् सत्य के द्वारा पृथ्वी स्तंभित है । इसलिए पृथ्वी पर अवस्थित प्रत्येक वस्तु का अपना एक धर्म है, इस वस्तु धर्म को ही सत्य कहा जाता है । सभी विद्वानों ने सत्य को व्यक्ति का श्रेष्ठ धर्म स्वीकार किया है । जब व्यक्ति की कथनी और करनी में तादात्म्य हो जाता है, तब उसका आचरण सत्याचरण कहलाता है । सत्य जीवन की यथार्थता है । सत्य धर्म को चिरन्तनता-निरन्तरता प्रदान करता है ।

---

1. ऋग्वेद 10/85.

सत्य ही मानव का आधारभूत धर्म है, यथार्थ वचन को भी सत्य कहते हैं । सत्य मन, सत्य वचन और सत्य कर्म की प्रशंसा तुलसी ने भी की है - मन क्रम छाडि चतुराई ,[1] कहकर उन्होंने सत्य रूप धर्म या ईश्वर को मान्यता प्रदान की जिसको लोग तत्कालीन युग में प्राय: भूल चुके थे । वन यात्रा में राम ने, रोते हुए सुमन्त्र को सान्त्वना के जो शब्द कहे थे, उस से धर्म के आधारभूत स्तंभ सत्य की भूरि-भूरि प्रशंसा अभिव्यक्त हुई है । सत्य के समान कोई दूसरा धर्म नहीं है ।[2] तुलसी ने इसे सभी पुण्यों का स्रोत माना है ।[3] व्यवहार की दृष्टि से सत्य ही साख और विश्वास की जड है । सत्य से हृदय के अन्य विकार भी दूर हो जाते हैं । राम के कुल में यह रीति युगों से चली आई है कि प्राणों को सत्य पर न्योछावर कर दिया जाता है ।[4] दशरथ सत्य के प्रतीक हैं । उनके वंश में जीवन का ध्येय ही सत्य है । कैकेयी के वर माँगने के समय सत्यप्रतिज्ञ दशरथ स्वाभिमान की रक्षा करते हुए कहते हैं -

रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्रान जोह बर वचनु न जाई ।

दशरथ प्राण-त्यागकर भी सत्य को रक्षा करना हितकर समझते हैं । पुत्र-स्नेह और सत्य प्रतिज्ञा के बीच एक भीषण अन्तर्द्वन्द्व दशरथ के हृदय में उत्पन्न होता है और अपने मन के विपरीत वे राम को वन भेजने के लिए विवश हो जाते हैं । चित्रकूट की धर्म-सभा में धर्मज्ञ और नीतिकुशल वशिष्ठ राजा दशरथ के सत्य प्रेम की सराहना करते हुए कहते हैं -

---

1. मानस बाल दो. 199 के पश्चात् के चौपाई ।
2. धर्म न दूसर सत्य समाना । आगम निगम पुराना बखाना । मानस:अयो: 94:3
3. सत्य मूल सब सुकृत सुहाए । बेद पुरान बिदित मनु गाए ।
   मानस अयो 27:3
4. नहिं असत्य सम पातक पुंजा । गिरि सम होहि कि कोटिक गुजा ।
   मानस अयो 27:3

भूप धरम व्रतु सत्य सराहा । जेहि तनु परिहरि प्रेमु निबाहा ।[1]
यही नहीं, राम को संबोधित करते हुए कहते हैं -
राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी । तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी ।

बैबिल में सत्य ईसा द्वारा प्रकट किया हुआ ईश्वर के वास्तविक स्वरूप की ओर संकेत करता है । वह सत्य मनुष्यों को स्वतंत्र बना देता है ।[2] येशु सत्य के विषय में साक्ष्य देने आये ।[3] येशु ने कहा - मैं इसलिए जन्मा और इसलिए संसार में आया हूँ कि सत्य के विषय में साक्ष्य दूँ ; जो सत्य के पक्ष में है, वह मेरी सुनता है ।[4] निर्दोष जीवन, अन्तर्दृष्टि, सहनशीलता, पवित्र आत्मा के वरदान, निष्कपट प्रेम, सत्य का प्रचार, ईश्वर का सामर्थ्य हमारी सिफारिश है । अथक परिश्रम जागरण तथा उपवास करते हुए, हर परिस्थिति में ईश्वर के योग्य सेवक की तरह आचरण करना है । दाहिने तथा बाये हाथ में धार्मिकता और कमर में सत्य का शस्त्र लिये संघर्ष करते रहना अनिवार्य है ।

सत्य में समस्त धर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है । सत्य हमें स्वतंत्र करता है । सत्य में सदा ही एक मुक्त करनेवाली शक्ति रहती है । येशु जो सत्य लाता है उसके द्वारा ईश्वर की दूरी से मुक्त होकर उसकी संगति में पहुँचते हैं । परिणाम हो सकता है कि सत्य कहनेवालों को सताया और मार डाला जाए । सत्य के प्रति मनुष्य अपनी आँखें, अपने कान और अपना मन बन्द कर सकते हैं । वे सत्य बोलनेवालों का घात भी कर सकते हैं, तो भी सत्य बना रहता है । येशु सत्य का साकार रूप है और आज तक विद्यमान है । बैबिल के स्तोत्र ग्रंथ में, लिखा है कि "सत्यनिष्ठ व्यक्ति के हेतु अन्धकार में प्रकाश उदय होता है ।"[5] सत्य निष्ठ व्यक्ति की पीढी आशीष पाएगी ।[6]

---

1. मानस अयो 170 के पश्चात् के चौपाई ।
2. बैबिल जोन 8:32
3. " जोन 14:6
4. वही, 18:37.
5. बैबिल स्तोत्र 112:4
6. वही 112:2

मानस और बैबिल में सत्य के महत्त्व को बताते हुए सत्य बोलने पर बल दिया गया है । हर मनुष्य को सदा सत्य भाषण करना चाहिए । वाणी का संयम 'सत्य' है । जिस वाणी में सत्य का निवास है, वही तेजस्विनी है । सत्य के साथ वाणी को सुखद एवं शिष्ट भी होना चाहिए । बैबिल के सूक्ति ग्रंथ में इनका सहयोग देता है - मधुरवाणी मधुमक्खी का छत्ता है । वह मन को आनन्द और शरीर को स्वास्थ्य प्रदान करती है ।[1] सुखद एवं कृपालु वाणी में मधु का निवास होता है । शास्त्रों में इसी तरह मधुर वाणी को वशीकरण मंत्र कहा गया है ।[2] मधुमयी वाणी जहाँ सुखद संबंधों की सृष्टि करती है, वहाँ कटु वाणी वैमनस्य उत्पन्न करके विरसता का प्रसार भी कर देती है । बैबिल का कहना है "एक मधुर शब्द महँगे उपहार से अच्छा है ।"[3] सत्य के साथ वाणी का महत्वपूर्ण स्थान है । दूसरों के प्रति यथोचित व्यवहार और वाणी शिष्टाचार के मूल तत्व हैं । वाणी के विषय में सन्त कबीर ने कहा है -

"ऐसी वानी बोलिए, मन का आपा खोय ।
औरों को शीतल करे, आपहु शीतल होय ॥"

यदि मनुष्य मधुर भाषी है तो वह दूसरों को भी सुखी रखता है और स्वयं भी आनन्द पाता है । उनके जीवन में कटुता नहीं आती और वह अनेक प्रकार के झंझटों से बच जाता है । सूक्ति ग्रंथ में ऐसा कहा गया है -"मनुष्य के मुख से निकलनेवाली वाणी गहरा जल, उमडती नदी और प्रज्ञा के स्रोत है ।"[4]

सम्मान तथा अपमान, प्रशंसा तथा निन्दा चाहे जो भी हो हम को सत्य बोलना चाहिए । हम सत्य के विरुद्ध कुछ नहीं करें, हम सत्य का समर्थन करें ।"[5] आपको किसने सत्य के मार्ग पर आगे बढने से रोका ।[6] उस सत्य

---

1. बैबिल सूक्ति 16:24.
2. सत्यं भ्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियं ।
3. बैबिल प्रवक्ता 18:17.
4. सूक्ति 18:4
5. 2 कोरि 13:8

के अनुसार शिक्षण ग्रहण करें जो ईसा में प्रकट हुआ ।[1] वे सब दण्डित किये जाये, जिन्होंने सत्य पर विश्वास नहीं किया और अधर्म का पक्ष लिया है ।[2] सत्य ही सब नीतियों का साररूप है । संत पोल ने बैबिल में लिखा है कि आप लोग झूठ बोलना छोड दें और एक दूसरे से सच ही बोलें, क्योंकि हम एक दूसरे के अंग हैं ।[3] पुराना नियम में ज़कर्या का कहना है - तुम्हारे ये कर्तव्य हैं - एक दूसरे से सत्य बोलना, तुम्हारे न्यायालयों के निर्णय से शांति की स्थापना हो जाये, एक दूसरे के प्रति दुर्भावना न बनाये रखना, झूठी शपथें न खाया करना, इन सबों से मुझे घृणा है ।[4] सुक्ति ग्रंथ में कहा गया है सत्यवादी का कथन सदा बना रहता है, किन्तु मिथ्यावादी की वाणी क्षणभंगुर है ।[5] प्रभु को झूठ बोलनेवालों से घृणा है, किन्तु वह सत्य बोलनेवालों पर प्रसन्न है ।[6] सत्य न बोलने से पापी अपने होठों की शिकार बनती हैं । निन्दक और घमण्डी का इस कारण पतन होता है । जीवन की सफलता के लिए वाचिक नीति का पालन अत्यन्त आवश्यक है । उत्तम वाणी के द्वारा उचित व्यवहार को वाचिक नीति कहते हैं । सत्य का इस में बडा महत्व है क्योंकि सत्य की ही जय होती है । सत्य का प्रकाश नित्य है ।

हृदय की निर्मलता सत्यान्वेषण से प्राप्त होती है । इसलिए अपने दिल को सत्य के साबुन से धो डालना चाहिए । सत्य सर्वत्र है, वह सदा न्याय और वास्तविकता की ओर प्रवृत्त होगा । सत्य की साधना कठिन है । सत्यनिष्ठ व्यक्ति अपने किसी भी स्वार्थ की सिद्धि में असत्य का सहारा नहीं लेते । राजा हरिश्चन्द्र जैसे सत्यव्रती व्यक्ति आज भी मानव समाज के गौरव माने जाते हैं ।

---

1. बैबिल एफे 4:21
2. 2 थेस 2:12.
3. एफे 4:25
4. " ज़करिया 8:16-17.
5. सुक्ति 12:19.
6. 12:22

सत्य की महिमा अपार है । सत्य का पथ निष्कंटक है । प्रकृति के सारे क्रिया-कलापों का मूल आधार सत्य है । सत्य ही हमारा जीवन साथी है । पवित्रता का रूप ही सत्य द्वारा आता है । सत्य ही जीवन धन है । मानव समाज सत्य से ही सुव्यवस्थित रहता है । सत्य से ही मानव समाज पर दिव्य गुणों की वर्षा होती है ।

अहिंसा

प्राणी मात्र से द्रोह न करना ही अहिंसा है । अहिंसा वृत्ति सुकोमल और दर्पण की तरह निर्मल है । अहिंसा शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है । इसका व्यावहारिक अर्थ है किसी का प्राण न लेना या किसी को शारीरिक कष्ट न देना । पर इसका गहरा अर्थ है किसी को मन, कर्म या वचन आदि किसी से भी दुःखी न करना । मानस और बैबिल ने दोनों ही अर्थों में अहिंसा को ग्रहण किया । बौद्ध तथा जैन धर्म में इस शब्द का प्रयोग प्राय: दोनों ही अर्थों में मिलता है ।

अहिंसा को भारतीय समाज में परम धर्म माना गया है, अहिंसा परमो धर्मः । इसलिए तुलसी ने कहा है -
"परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा । पर निन्दा सम अघ न गरीसा ।"[1]
अहिंसक व्यक्ति परपीडा से बचता है, क्योंकि दूसरों को दुःख पहुँचाने से बढ़कर कोई पाप नहीं है - मानस में कहा गया है -
"पर पीडा सम नहिं अधमाई ।
नर शरीर धरि जे पर पीडा । करहि ते सहहि महा भव भीरा ।"[2]

---

1. मानस उत्त 121:11.
2. मानस उत्त 41:1,2.

बैबिल का कहना है कि "जो अपने भाई से वैर करता है, वह हत्यारा है । हत्यारे में अनन्त जीवन नहीं होता ।"[1] अहिंसा का अर्थ है किसी जीव को कष्ट न देना, न सताना और यहाँ तक कि ऐसी शब्दों का प्रयोग भी न करना जिनसे किसी व्यक्ति को मानसिक क्लेश हो । संसार के सभी प्राणी ईश्वर की सृष्टि है । ईश्वर ही सब का नियन्ता है । ऐसी अवस्था में यह परम कर्तव्य हो जाता है कि हम उसके बनाये हुए किसी जीव को कष्ट न पहुँचावें । सभी प्राणियों को आत्मवत् समझें । कहा भी हैं - आत्मवत् सर्व भूतेषु य: पश्यति स पण्डित: । बैबिल के पुराना नियम के दुष्ट कथापात्र "कायेन" की तरह नहीं बने । कायेन ने अपने भाई की हत्या की, क्योंकि उसके अपने कर्म बुरे और उसके भाई के कर्म अच्छे थे । येशु की सुप्रधान आज्ञा है "हत्या मत करो ।"[2] गौतम बुद्ध ने मोक्ष प्राप्ति में सत्य और अहिंसा दोनों वृत्तियों को अनिवार्य माना है । अहिंसा मनुष्य में आत्मविश्वास उत्पन्न करती है । अहिंसा की भावना कर्म से ही नहीं वरन् मन तथा विचारों से भी संबंधित रहती है । मन और वचन से किसी का बुरा न सोचा जाय । अहिंसा मनुष्य में सहानुभूति और करूणा उत्पन्न करती है । अहिंसा में नीति-न्याय का यथोचित स्थान रहता है ।

अहिंसा का पालन करने से आत्मिक उत्थान होता है । उदात्त भावनाओं का विकास होता चला जाता है । ईर्ष्या, द्वेष, शत्रुता, आदि कलुषित भावनाओं के नष्ट हो जाने से प्रेम, सहानुभूति और सहिष्णुता का आविर्भाव होता है । विश्व बन्धुत्व के भाव जागृत होते हैं । मनुष्यों की आत्मा भी शुद्ध हो जाती है । मानसिक सुख और शांति मिलती है । उसके सामने वसुधैव कुटुम्बकम् का आदर्श होता है । जीवन में अहिंसा का महत्व बहुत अधिक है । अहिंसक लोग ईश्वरीय गुणों का अनुकरण करते हैं, सत् स्वरूप है.। अत: स्वयं अपने और दूसरों के जीने में बाधक न रहते हैं । चित् हैं, इसलिए

---

1. बैबिल । जोन 3:15 .
2. लूक 18:20.

ज्ञानार्जन में न अपने लिए और न दूसरों के ज्ञान-पिपासा की शांति में अवरोधक बनते हैं । आनन्द स्वरूप हैं, अत: न अपने और न दूसरे की आनन्दानुभूति में कभी बाधक होते हैं । ये ही अहिंसक हैं । अहिंसा मानवोचित नियम है । इसके पालन में ही मानवता है ।

परोपकार :-

अपने किसी स्वार्थ के बिना दूसरे की भलाई या उपकार का काम परोपकार है । नीतिकारों ने उपकार करने तथा उपकारी बनने का उपदेश तो दिया है । उपकार करके उसके बदले में कुछ इच्छा नहीं रखनी चाहिए -

रतन करहु उपकार पर, चहहु न प्रति उपकार
लहहि न बदलो साधु जन बदले लघु व्यवहार ।"[1]

नीतिकारों की दृष्टि में उत्तम परोपकार वही है, जिसके बाद उपकारी उसका ढिंढोरा न पीटे तथा जिसे करते समय उपकारी के मन में प्रत्युपकार या बदले में कुछ पाने आदि की भावना न हो । अपने सह मनुष्यों की सेवा करना हमारे वर्तमान युग में प्राय: सभी लोग धर्म की पराकाष्ठा मानते हैं ।

संत तुलसी यद्यपि भक्तिकाल का प्रतिनिधित्व करते हैं, तथापि परहित की प्रधानता की दृष्टि से पूर्णतया कालजयी प्रतीत होते हैं । मानस में उन्होंने अनेक सदियों पहले यह घोषित किया था कि -

"परहित सरिस धर्म नहिं भाई । परपीडा सम नहिं अधमाई ।"[2]

परोपकार के समान कोई धर्म नहीं । उन्होंने परोपकार करने का कर्तव्य संपूर्ण श्रुति का सारतत्व भी माना है -

पर उपकार सार श्रुति को ।[3] तुलसी ने उपदेश दिया कि परिवार में स्वार्थ-वृत्ति

---

1. रत्नावली दोहा 175.

2. मानस उत्त 41:1.

3. विनय 202:1.

नहीं होनी चाहिए । परोपकार की भावना परिवार को उत्कर्ष तो प्रदान करती है, साथ ही जाति एवं समाज का भी उत्कर्ष होता है । व्यक्ति का श्रेष्ठ कर्तव्य परहित है । रामराज्य में लोगों का आचरण परोपकार की भावना से युक्त है - सब उदार सब उपकारी ।[1] तुलसी भी परहित को भक्ति से अभिन्न भी कहते हैं तो स्पष्ट है कि ईश्वर प्रेम की प्रधानता के साथ साथ भ्रातृ-प्रेम को भी प्रथम स्थान प्राप्त है । विनय पत्रिका में तुलसी ने कहा कि "मन, क्रम, वचन, अगोचर ।"[2] ईश्वर मानव के लिए अगोचर है ।

व्यक्तियों को एक दूसरे का उपकार करना चाहिए । संसार में जीवन व्यतीत करना कठिन है । गरीबों को धनिकों की तथा धनिकों को गरीबों की सहायता आवश्यक है । संस्कृत में एक सूक्ति है - "परोपकाराय सतांविभूतय:" अर्थात् सज्जनों की संपत्ति दूसरों के उपकार के लिए होती है । परोपकार मानव शक्ति का वह अंग है । मानस में तुलसी ने परोपकार का समर्थन करते हुए कहा है -

फल भारन नमि बिटप सब रहे भूमि निअराई ।
पर उपकारी पुरुष जिमि नवहि सुसंपत्ति पाई ।[3]

फलों के बोझ से वृक्ष झुक जाते हैं वैसे ही परोपकारी बड़ी संपत्ति पाकर विनय से झुक जाते हैं । "पर उपकार वचन मन काया । संतत सहज सुभाउ खगराया ।"[4] मन, वचन और शरीर से परोपकार करना, यह संतों का सहज स्वभाव है ।

मानस में राम का जन्म ही परोपकार के लिए हुआ है । भक्ति व्यक्तिपरक मात्र आदर्श नहीं है । ईश्वर प्रेम के साथ साथ भ्रातृ-प्रेम भी उसका अंगभूत अवयव है । दूसरे भक्त जितना परहित करते हैं, उनका अपना हित

---

1. मानस :7:21:4.
2. विनय 203:14,
3. मानस अरण्य 40.
4. मानस उत्तर 20.

उतना भी बढ़ता है । तुलसी का मत है कि व्यक्ति का श्रेष्ठ कर्तव्य परहित है । व्यास ने अठारहों पुराण का सार इन शब्दों में कह दिया है कि परोपकार ही पुण्य है और पर पीडा ही पाप है ।[1] सूर्य बिना प्रार्थना किए ही कमलों को खिलाता है और चन्द्रमा भी स्वयं ही कुमुदों को प्रफुल्लित करता है । बादल भी बिना माँगे जल बरसाता है । इसी प्रकार सज्जन मनुष्य स्वये ही परोपकार के कामों में लगे रहते हैं ।

बैबिल में येशु ने ईश-प्रेम तथा भ्रातृ प्रेम, दोनों को, एक ही स्तर पर रख दिया है और कहा है कि इन्हीं दो आज्ञाओं पर समस्त संहिता और नबियों की शिक्षा अवलंबित है ।"[2] बैबिल के शब्दों में ईश्वर को किसी ने कभी नहीं देखा । लेकिन संत जोन ईश्वर को मानव हृदय में पहचानते हैं । प्रत्यक्ष मनुष्य की सेवा करने का भाव अप्रत्यक्ष ईश-सेवा की तत्परता के लिए असंदिग्ध प्रमाण प्रस्तुत करता है । "यदि कोई अपने भाई को, जिसे वह देखता है, प्यार नहीं करता, तो वह ईश्वर को जिसे उसने कभी देखा नहीं, प्यार नहीं कर सकता ।"[3]

दूसरों की भलाई करने के विपरीत स्वार्थी मनुष्य अन्यों की परिश्रम जन्य उन्नति देखकर ईर्ष्या की आग से जलने लगता है -
"सो विपरीत देखि पर: सुख । बिनु कारन ही ज़रिये ।"[4]
दाखबारी के मज़दूरों के दृष्टांत में ईसा भी संत तुलसी की भाँति ऐसे अनुदार लोगों की निन्दा करते हैं जो मात्र इसलिए अपने साथियों से ईर्ष्या करते हैं कि स्वामी उनके प्रति दानशील हैं ।[5]

---

1. "अष्टदश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं"
   परोपकार: पुण्याय पापाय परपीडनम् ।
2. बैबिल मात्यु 22:36-40.
3. I जोन 4:12,20,
4. विनय 186:3.
5. "तुम मेरी उदारता पर क्यों जलते हो ।" बैबिल मात्यु 20:15.

इस तरह दूसरों का हित उनके लिए दुःख का कारण बनता है । मानव स्वभावतः परहित के आदर्शों से कितना दूर रहता है । यदि मोक्ष प्राप्त करने का उपयुक्त उपाय परोपकार हो तो इसके विपरीत जो रास्ता पतन की ओर ले जाता है वह स्वार्थ का ही भाव होगा । ठीक उसी तरह ईसा भी अन्तिम न्याय की कसौटी परोपकार या उसका अभाव कहते हैं ।[1]

सही भक्त को न केवल दूसरों की सहायता करनी है, अपितु वह दूसरों से आध्यात्मिक लाभ भी उठा सकता है । रोमियों के नाम पत्र में संत पोल ने कहा है कि "बुराई के बदले बुराई नहीं करें ।" संत तुलसीदास भी स्वभावतः इसका पालन करते प्रतीत होते हैं । ईश्वर भले ही सर्वव्यापी हो, लेकिन मनुष्य अन्तर्यामी ईश्वर को तब तक नहीं पा सकता जब तक उसके अन्तरतम में प्रेम का भाव जागृत नहीं हो पाता । ईश्वर प्रेम से जैसे भक्ति उत्पन्न होती है, वैसे ही वह ईश-प्रेम में पूर्णता भी प्राप्त करती है ।

येशु ने सामरी बटोही[2] की कथा के द्वारा यह प्रकट कर दिया कि वह मनुष्य जिस में परोपकार, दया और प्रेम की आत्मा वर्तमान है वह हर एक मनुष्य में जो किसी भी बात की आवश्यकता रखता है और जिसकी सहायता की जा सकती है अपना पडोसी पाता है । उन्होंने यह दृष्टांत सब लोगों के लिए बताया है । येशु का जन्म ही परोपकार के लिए हुआ है । उन्होंने अनेक लोगों को रोगों से मुक्त कर दिया, अन्धे-गूँगे को चंगाकर दिया । ईसा ने अनेक लोगों से अपदूत या शैतान को निकाल कर उसे चंगा कर दिया । येशु अपने पास आये सभी लोगों का उपकार करते थे और अन्य मनुष्यों के प्रति उनका व्यवहार दूसरों में सद्गुण देखने का था । किसी के पास दुनिया की धन-दौलत हो और वह अपने भाई को तंगहाली में देखकर उस पर दया न करें, तो ईश्वर

---

1. बैबिल मात्यु 25 31-46.
2. लूक 10: 25-37.

का प्रेम उस में कैसे बना रह सकता है ?[1] संत याकोब के पत्र में बताया गया कि हमारे ईश्वर की दृष्टि में शुद्ध और निर्मल धर्माचरण यह है - विपत्ति में पड़े हुए अनाथों और विधवाओं की सहायता करना और अपने को संसार दूषण से बचाये रखना ।[2]

बैबिल में परोपकार मोक्ष प्राप्ति के लिए अत्यन्त अनिवार्य अंग माना गया है । संत मात्यु के सुसमाचार में लिखा है कि परोपकारी से न्याय के दिन ईश्वर कहेगा कि "कृपा पात्रो ! आ ओ और मेरे राज्य के अधिकारी बनो, जो संसार के प्रारंभ से तुम लोगों के लिए तैयार किया है ।

बैबिल के प्रवक्ता ग्रंथ में परोपकार और परोपकार में विवेक संबंधी कई उपदेश प्राप्त होते हैं । दयालु मनुष्य को दान दो और दीन का उपकार करो ।[3] उदार व्यक्ति संपन्न हो जाता है ।[4] जो दरिद्रों पर दया करता है वह सुखी है । धन्य है वह जो दरिद्र की सुधि लेता है, विपत्ति के दिन प्रभु उसका उद्धार करता है ।"[5]

समाज में परोपकार से शांति का वातावरण बढ़ता जाता है । पारस्परिक विरोध की भावना घटती जाती है । आपस में प्रेम का भाव बढ़ता जाता है । त्याग की भावना को बढ़ाने के लिए परोपकार आवश्यक होता है । परोपकार से मनुष्य की आत्मा का विस्तार होता है । परहित दूसरों को देने के अतिरिक्त दूसरों से लेना भी है, अतः लेन देन दोनों है । आदान-प्रदान की इस पारस्परिकता में परहित की संपूर्णता है ।

---

1. बैबिल योह 3:17.
2. याको 1:27.
3. प्रवक्ता 12:6.
4. सूक्ति 11:25.
5. स्तोत्र 41:2.

दयाशीलता :-

दया नीति और धर्म को जन्मभूमि है । किसी भी दु:खी प्राणी पर कृपा करना, उसके दु:ख को न सह सकना और आपद्ग्रस्त की रक्षा करना दया है । यदि कोई जीव पीडा, क्लेश या दु:ख से व्याकुल हो तो जिस सात्त्विक वृत्ति से उसको पीडा, क्लेश या दु:ख दूर कर सकते हैं, उसी का नाम दया है । किसी प्राणी को किसी प्रकार का दु:ख न पहुँचाना भी दया है । दया एक ऐसा गुण है जिसके कारण मनुष्य अपने को मनुष्य कह सकते हैं, नहीं तो मनुष्य और पशु में भेद ही क्या है ?

मनुष्य के अलावा संसार में जितने जीव हैं, वे सभी मनुष्य की भलाई करते हैं । गाय, बकरी, घोडा, कुत्ता, बिल्ली, मुर्गी, हाथी सभी हमारे लिए सुखकर हैं । अत: सब पर हमें सदा दया भाव रखना चाहिए । स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में "दया अन्तकरण का प्रत्यक्ष स्वर्ग है ।"

तुलसीदास ने मानस में मोक्ष के साधनों का उल्लेख करते समय दया को गुरुता प्रदान की है । उन्होंने दया को सब बडा धर्म कहा है -
"धर्म कि दया सरिस हरि जाना ।"[1]

दया को नीतिकार कवियों ने धर्म का मूल या सार माना है । दीनदयाल गिरि के अनुसार मनुष्य में धर्मोचित अन्य बातें होने पर यदि दया नहीं है तो उनकी धर्माचरण की कोई शोभा नहीं -

सजै न बिन अंजन वधू भूषण भरी प्रवीन
तैसोई सब धरम है एक दया हरि हीन ।

दया सज्जनों में होती है, दुष्ट या दुर्जनों में नहीं ।

---

1. मानस उत्तर 111:5.

वृन्द कहते हैं -

दया दुष्ट के चित्त में कबहूँ उपजै नाहि
हिंसा छोडी सिंह यह क्यों आवै मन माहि ।

दया की परिपूर्णता किसी को दुःखी देखकर सहानुभूति के कारण केवल दुःखी होने में नहीं है, अपितु यथाशक्ति उसे कष्ट से छुडाने की प्रशंसा में हैं । इसी कारण दयालु व्यक्ति से समाज का कल्याण होता है ।

पहाडी प्रदेश में येशु ने भी यही कहा "धन्य है वे जो दयालु हैं - उन पर दया की जायेगी ।"[1] यह पर्वत प्रवचन येशु द्वारा अपने लोगों को दिये गये उपदेशों का सार-संग्रह है या निचोड है । यह अधिकृत (Official) शिक्षा है । इन आशीर्वचनों में ईश्वरीय दया, संरक्षण और सामीप्य का भाव स्पष्ट है । दयालु का अर्थ केवल उदार भाव से देनेवाला अथवा अभागे लोगों पर सहानुभूति प्रकट करनेवाला नहीं है । यहाँ उन लोगों को भी लक्ष्य किया गया है, जो दूसरों के अपने प्रति किये गये व्यक्तिगत अपराधों तथा आघातों को क्षमा भाव से सहन कर लेते हैं । इस प्रकार ये लोग ईश्वरीय गुण दया का अनुकरण करते हैं ।

ईसा सभागृहों में शिक्षा देते, राज्य के सुसमाचार का प्रचार करते, हर तरह की बीमारी और दुर्बलता दूर करते हुए, सब नगरों और गाँवों में घूमते थे । लोगों को देखकर ईसा को उन पर दया आयी, क्योंकि वे बिना चरवाहे की भेडों की तरह थके-माँदे पडे हुए थे ।

आत्म संयम :-

इन्द्रियों को वश में रखना संयम है । आत्म संयम का अर्थ है अपना नियंत्रण, अपने पर शासन । जीवन में संयम की बडी आवश्यकता है ।

---

1. बैबिल मात्यु 5:7.

संयमी व्यक्ति जीवन में सफलता प्राप्त करता है । तन स्थूल है, मन सूक्ष्म है । अतः ये दोनों व्यावहारिक संतुलन संयम द्वारा ही सहज संभव हैं । संयम की सीमा मन के व्यापक क्षेत्र तक प्रसारित है । मन इन्द्रियों का नियंत्रण करता है । उच्च जीवन व्यतीत करनेवाले आत्म संयम पर अत्यधिक ज़ोर देते हैं । गौतम बुद्ध ने आत्मसंयम पर बल देते हुए कहा है कि आत्मा ही आत्मा का स्वामी है । और आत्मा ही आत्मा की गति है, अतएव आत्म संयम करना चाहिए, जिस प्रकार चाबुक सवार घोडे को साधते हैं ।[1]

हमारे मन चमत्कारपूर्ण प्रलोभनों में बहुत शीघ्र फँस जाते हैं और फिर उन में उलझते ही जाते हैं । यदि उसे स्वच्छन्द छोड दिया जाय तो वह बहुत शीघ्र पतन के कगार पर ले जाकर खड़ा कर देता है । मन को ठीक दिशा में तो चलने के लिए आत्म संयम की आवश्यकता है । मानस में संयम सच्चा संत लक्षण माना गया है -

"ए सब लच्छन बसहि जासु उर । जानेहु तात संत संतत फुर ।
सम दम नियम नीति नहिं डोलहि । परुष वचन कबहूँ नहि बोलहि ।"[2]

तुलसी के अनुसार संत वही है जो सम, दम, नियम और नीति से कभी विचलित नहीं होता, जो किसी भी हालत में परुष वचन नहीं बोलता । मन का दमन दम है । तुलसी ने मोक्ष के साधनों में दम का उल्लेख किया है -

"ग्यान दया दम तीरथ मज्जन । जहं लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन ।"[3]
"नाना कर्म धर्म व्रत नाना । संजम दम जप तप मख नाना ।।"[4]

बैबिल के प्रवक्ता ग्रंथ में बताया गया है कि "अपनी वासनाओं का दास मत बनो और अपनी लालसाओं पर संयम रखो । यदि तुम अपनी

---

1. अत्ता हि अत्तनो नाथो अत्ताहि अत्तनो गति ।
   तस्मा संयम यत्तानं अस्मं भद्र व वाणिजो ।
2. मानस उत्त 37:4
3. अयो 130:3.
4. बाल 227:1.

वासनाओं का दास बनोगे तो तुम्हारा शत्रु तुम्हारा उपहास करेंगे ।[1] बैबिल के अनुसार आत्मसंयम पवित्रात्मा का वरदान है ।[2] संत पोल गलातियों के नाम पत्र में कहा गया है कि जो लोग ईसा मसीह के हैं, उन्होंने वासनाओं तथा कामनाओं सहित अपने शरीर को क्रूस पर चढ़ा दिया है । यदि हमें पवित्रात्मा द्वारा जीवन प्राप्त हो गया है तो हम आत्मा के अनुरूप जीवन बितायें ।[3]

संत पोल ने तीतुस के नाम पत्र में लिखा है कि "नवयुवकों को समझाओ कि वे सब बातों में संयम से रहें, और तुम स्वयं उन्हें अच्छा उदाहरण दो ।[4] ईश्वर की कृपा सभी मनुष्यों की मुक्ति के लिए प्रकट हो गयी है । वह हमें यह शिक्षा देती है कि अधार्मिकता तथा विषयवासना त्यागकर हम इस पृथ्वी पर संयम, न्याय तथा भक्ति का जीवन बितायें ।[5] अतः मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन क्रम भी सीमित और संयमित होना आवश्यक है । आत्मविजय पाना कोई सामान्य बात नहीं । इसका अभ्यास करने के लिए अपने जीवन की प्रत्येक छोटी छोटी बातों पर सतत-ध्यान रखना पड़ेगा । आत्म संयम से ही काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि विकार दूर हो सकते हैं । स्वयं अपना या अपने से महात्माओं का अनुशासन मानना आत्मसंयम में बहुत सहायक होता है ।

क्षमा की महिमा :-

दूसरे के द्वारा किये गये अपराधों को भुला देना और प्रतिशोध न करना क्षमा है । दूसरे शब्दों में क्रोध की परिस्थिति उत्पन्न हो जाने पर भी क्रोध न करना क्षमा है । क्षमा का अर्थ है दूसरों से गलती हो जाने पर भी पश्चात्ताप करने पर उन्हें दण्ड न देना और उनके अपराधों को भूलकर उन्हें

---

1. बैबिल प्रवक्ता 18:30-31.
2. गला 5:23.
3. वही, 5:25.
4. बैबिल तीतुस 2:6-7.
5. वही, 2:11-12.

दया पूर्वक प्यार करना । क्षमा ईश्वर दान और भाव है । क्षमा से मन पवित्र हो जाता है । क्षमा ईश्वर कृपा के लिए अत्यन्त अपेक्षित है । क्षमा समर्थ और महान का धन है ।

संसार में सब धर्मों में क्षमा सब से श्रेष्ठ गुण है । जो व्यक्ति, अपमान से तिरस्कार अथवा गाली देने या डाँट बताने से कभी क्रोध नहीं करता, वरन् क्षमाशील बना रहता है, वही मनुष्य सब मनुष्यों से श्रेष्ठ कहा जाता है । क्षमाशील मनुष्य को ही स्वर्ग यश और मोक्ष की प्राप्ति होती है । श्रीकृष्ण ने क्षमा के विषय में युधिष्ठिर से कहा कि "क्षमा ही यश, दान, यज्ञ और मनोनिग्रह है । अहिंसा धर्म और इन्द्रियों का संयम क्षमा के ही स्वरूप हैं । क्षमा हो दया और यज्ञ है ।[1] क्षमा से ही हमारा जगत् टिका हुआ है । जिन में क्षमा है, उन्हीं के लिए यह लोक और परलोक दोनों कल्याण कारक है । क्षमा ब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमा भूत है, क्षमा भविष्य है, क्षमा तप है और क्षमा शौच है । क्षमा ने संपूर्ण जगत् को धारण कर रखा है ।"[2] क्रोधी मनुष्य अल्पज्ञ होता है, क्षमावान् विद्वान होते हैं । जब मनुष्य सब कुछ सहनकर लेता है, तब वह ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है । क्षमावान् व्यक्ति को सर्वोत्तम लोक प्राप्त होता है । अतः क्षमा सब से उत्कृष्ट मानी गयी है ।"[3]

तुलसीदास का मत है कि क्षमा करने से आत्मशक्ति में वृद्धि होती है और अभ्युदय होता है । मानस में धनुष भंग के बाद जब परशुराम वहाँ पहुँचे और क्रोधवश अपना रौद्र रूप प्रदर्शित करने लगे तो भी श्रीराम को क्रोध नहीं आया - "भृगुपति थकहि कुठार उठाए । मन मुसकाँहि रामु सिर नाए ।"[4]

---

1. महाभारत आश्वमेधिक पर्व अः 92.
2. महाभारत में धर्म, पृ. 174 - डा. शकुन्तलारानी तिवारी ।
3. महाभारत वन पर्व अः 29, श्लो 32,37,38,42, 44, आदि ।
4. मानस बाल 281:4.

किन्तु लक्ष्मण अपना क्रोध न दबा सके । उन्होंने परशुराम को मुँह तोड उत्तर दिया । परिणाम स्वरूप परशुराम का क्रोध बढ़ता ही गया । यह देखकर राम ने लक्ष्मण की ओर से क्षमा माँगी ।

"सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे । छमहु विप्र अपराध हमारे ।"[1]

तुलसी ने दोहावली में कहा है कि क्षमाशील होने के कारण विष्णु सर्वपूज्य हुए और क्रोधी होने के कारण भृगु के वंशज भिक्षुक बने ।[2] कागभुशुण्डि जब अपने ब्राह्मण गुरु का अपमान करते हैं तो वह सदाचारी ब्राह्मण उन्हें हृदय से क्षमा कर शिव से पापमोचन और भयानक शाप के परिमार्जन हेतु प्रार्थना करता है । यहाँ पर उसकी क्षमाशीलता और परोपकार की प्रशंसा भगवान शिव करते हुए कहते हैं -

जदपि कीन्ह एहि दारून पापा । मैं पुनि दीन्ह कोप करि सापा ।।
तदपि तुम्हारी साधुता देखी । करिहउँ एहि पर कृपा बिसेषी ।।
छमाशील जे पर उपकारी । ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी ।।"[3]

वे पुरुष धन्य हैं जो उठे हुए क्रोध को बुद्धि के द्वारा इस प्रकार शांत कर देते हैं जिस प्रकार जल द्वारा प्रदीप्त आग शांत कर दी जाती है । क्या कहना चाहिए और क्या नहीं कहना चाहिए क्रोधी मनुष्य को इसका विवेक नहीं रहता । किसी के द्वारा ताडित होने पर भी चित्त में प्रतिक्रिया का विकार न होना ही क्षमा है ।

सुग्रीव के प्रमादपूर्ण जीवन की प्रतिक्रिया स्वरूप राम की "भय देखाय लै आवहु तात सखा सुग्रीव वाली नीति के अंतर्गत हमें क्षमा और अहिंसा

---

1. मानस बाल 282:8.
2. छमा रोष के दोष गुन, सुनि मनु मनाहि सीख ।
   अविचल श्रीपति हरि भए, भूसुर लहै न सीख ।
3. मानस उत्त 108 2-3.

तत्व के दर्शन तो होते ही हैं । समुन्द्र संतरण की प्रक्रिया में भी बहुत बड़े परिमाण में हमें यह उपादान ही संलग्न दिखाई देता है । नारद शाप एवं रावण जैसे दुराग्रही को भी समझाने-बुझाने तथा उसके पास संधि प्रस्ताव भेजने, आदि की घटनाओं में भी हमें न्यूनाधिक मात्रा में अक्रोध एवं मैत्री के तत्वों का ही आरोप होते दिखाई पड़ता है । श्रीराम क्षमावान थे ।

बैबिल में येशु ने क्षमाशीलता को बड़ा महत्व दिया है । बैबिल में ऐसी शिक्षा मिलती है कि ईश्वर ने क्षमा के लिए कितना बड़ा मूल्य चुकाया, येशु के क्रूस की ओर देखते तो, उन्होंने अपने मारनेवालों को भी क्षमा किया । येशु ने कहा, "क्षमा करो,और तुम्हें भी क्षमा मिल जाएगी ।"[1] यदि तुम दूसरों के अपराध क्षमा करोगे, तो तुम्हारा स्वर्गिक पिता भी तुम्हें क्षमा करेगा । परन्तु यदि तुम दूसरों को क्षमा नहीं करोगे तो तुम्हारा ईश्वर भी तुम्हारे अपराध क्षमा नहीं करेगा ।[2] ईसा ने आदर्श प्रार्थना करने की शिक्षा दी, इस प्रकार प्रार्थना किया करो "हमारा अपराध क्षमा कर, जैसे हम ने भी अपने अपराधियों को क्षमा किया है ।[3] जब तुम प्रार्थना के लिए खड़े हो और तुम्हें किसी से कोई शिकायत हो तो क्षमा कर दो । यदि हम एक दूसरे को अपने अंतर्मन से क्षमा नहीं करेंगे तो हम प्रभु से अपनी क्षमा के लिए कैसे कह सकते हैं । संसार का प्रत्येक प्राणी पापी है । क्षमा करनेवाले व्यक्ति शत्रुता की सुलगाती हुई आग को बुझा देते हैं । उनके विरुद्ध जो बुराई की जाती है उसे वे क्षमा कर देते हैं और भूल जाते हैं ।

ईसा ने अपनी परम दया के आधार पर महायाजकों, शास्त्रियों तथा अन्य फरीसियों के लिए भी क्षमा-याचना की, यद्यपि वे सब उनके विरुद्ध लगातार षड्यंत्र करते आ रहे थे और क्रूस पर चढ़ाने के लिए परिश्रम

---

1. बैबिल लूक 6:37.
2. मात्यु 6:14-15.
3. मात्यु 6:12.

कर रहे थे । उन्होंने केवल कहा - हे पिता ईश्वर, उन्हें क्षमा कर, क्योंकि वे नहीं जानते थे कि वे क्या कर रहे हैं ।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने चित्त में स्थिर रखना चाहिए कि क्षमा सभी गुणों से बड़ी है, क्षमा पुण्य का मूल है । ईश्वर की क्षमा तो असीम हैं परन्तु उसको प्राप्त करने की एक शर्त है । शर्त है कि हम भी क्षमा करें । येशु ने स्वामी और कर्जदार सेवक की कहानी के द्वारा व्यक्त किया कि जब तक हम दूसरों को क्षमा नहीं करते हम भी क्षमा प्राप्त नहीं कर सकते ।[1]

बैबिल के अनुसार सब से उत्तम बात यह है कि जब हम यह देखते हैं कि हमारे पड़ोसी ने हमें हानि पहुँचाई है, हमें बदनाम किया है और हमारे विषय में नाना प्रकार की झूठी बातें कही है, हम उसके लिए प्रार्थना करें और सब कुछ क्षमा करके उसके लिए भलाई के काम करें । संभव है इस बात को देखकर वह पश्चाताप करें और फिर हमारे संग अच्छा संबंध स्थापित कर लें । बैबिल के एफेसियों के नाम पत्र में लिखा है कि "एक दूसरे पर कृपालु और करुणामय हो और, जैसे ईश्वर ने येशु में तुम्हारे अपराध क्षमा किये वैसे ही तुम भी एक दूसरे के अपराधों को क्षमा करो ।[2]

एक बार संत पीटर ने ईसा से पूछा कि यदि मेरा भाई मेरे विरुद्ध अपराध करता जाये, तो मैं कितनी बार उसे क्षमा करूँ ? सात बार ? ईसा ने उत्तर दिया "मैं तुम से नहीं कहता - सात बार, बल्कि सत्तर-गुना सात बार ।"[3] अर्थात् क्षमा की कोई सीमा नहीं ।

---

1. बैबिल 18:21-35.
2. बैबिल एफे 5:32.
3. मात्यू 18:21.

व्यक्तिगत जीवन की साधना के लिए भी क्षमा समर्थ उपादान है । उसकी स्थिति से जहाँ व्यक्तिगत राग द्वेष की निवृत्ति हो जाती है और मानव का चित्त निष्कलुष और निर्विकार हो जाता है । क्षमा मानव के हृदय को कोमल और विराट बनाती है । क्षमा वही कर सकता है जो सहनशील होगा सहनशीलता क्षमा और संयम के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होती है । येशु क्षमा और सहनशीलता की प्रतिमूर्ति है ।

नम्रता या विनयशीलता :-

नीति का मूल विनय है । नम्रता वह गुण है जिसकी कृपा से मनुष्य में सरलता आती है और वह संसार का प्यारा बन जाता है । नम्रता कुलीनता का चिह्न है, जो हमारी निर्मिति के मूल पर प्रकाश डालता है । जीवन के मूल्यों में इसका स्थान अनुपम है । समाज और संस्कृति के विकास में इसका अमूल्य हाथ है । मनुष्य के आपसी संबंध को बनाये रखने में नम्रता का बडा महत्व है । नम्रता में हठ, अभिमान, दम्भ और किसी प्रकार की दिखावट की कुछ भी गंध नहीं । नम्रता हमारे मानस का एक उत्तम आभूषण है और अपनी योग्यता के यथार्थ ज्ञान की कसौटी है ।

विनयशीलता मानव चरित्र का प्रथम गुण है । विनयशील व्यक्ति की विद्या, धन और वैभव सुशोभित होते हैं । जब नम्रता आती है तब मन का आपा नष्ट हो जाता है । जो अहंकारी है, वे अपने को कुछ समझते हैं और दूसरों के मन को दुःख देते रहेंगे । वे अपने लाभ के लिए यत्न करते रहेंगे और अपने लोभ का प्रभाव दूसरों पर डालते रहेंगे ।

मानस के उत्तर काण्ड में सीता विनम्र होकर राम के चरण कमलों की सेवा करती है -

"पति अनुकूल सदा रह सीता । सोभा खानि सुसील बिनीता ।"[1]
शोभा की खान, सुशील और विनयशील सीताजी सदा पति के अनुकूल रहती है ।

मानस में अंगद के विनम्र वचन सुनकर करुणा की मूर्ति रघुनाथजी ने उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया -
"अंगद वचन बिनीत सुनि रघुपति करूणा सींव
प्रभु उठाइ उर लायउ सजल नयन राजीव ।"[2]

विद्या का फल है विनय । 'विद्या ददाति विनयम्' की लोकोक्ति के अनुसार विद्वानों का एक प्रमुख लक्षण है विनम्रता । यह विनय का ज्ञान शास्त्रों के अध्ययन से होता है । इन्द्रिय विजय से विनय प्राप्ति और विनय प्राप्ति से शास्त्र ज्ञान होता है । जो मनुष्य शास्त्र के अर्थ का चिन्तन करता है वह अहंकारी और धर्मान्ध नहीं होता । धर्म पालन सब मनुष्यों का आभूषण है । सब आभूषणों में श्रेष्ठ विनय सहित विद्या है ।

फलों के लगने से वृक्ष झुक जाते हैं । जल से भरे मेघ पृथ्वी की ओर नम्र हो जाते हैं । इसी प्रकार सज्जन ऐश्वर्य प्राप्त होने पर नम्र हो जाते हैं क्योंकि श्रेष्ठ मनुष्यों का यही स्वभाव है । तुलसी एक असामान्य प्रतिभाशाली कवि एवं "नानापुराणनिगमागम" के पण्डित होते हुए भी स्वयं को नितान्त अज्ञ बताते हैं -
कवि न होउँ नहि वचन प्रवीनू । सकल कला सब विद्याहीनू ।[3]
वे अपने सम्मान एवं ख्याति का श्रेय स्वयं न लेकर श्रीराम को देते हैं -
लहइ न फूटी कौडिहू को चाहै कोहि काज ।
सो तुलसी महँगो कियो राम गरीबनिवाज ।।

---

1. मानस उत्तर 37:4.
2. वही, 17 क.
3. मानस 1:9:8.

मानस में अवतरित ईश्वर को भी विनय का पात्र माना गया है । विनय-पत्रिका तो विनयशैली का अथाह महासागर है ही, तुलसी के अन्य ग्रंथों में भी विनय के अनेक स्थल दिखायी पडते हैं । मानस में स्थान स्थान पर विनय प्रतिष्ठित है । देवता सरस्वती के सामने विनय प्रकट करते हैं तो विनय सुनकर सरस्वती बडी दुःखी होती है । कवि कहता है -

सुनि सुर विनय ठाडि पछिताती
यहउँ सरोज विपिन हिमराती ।

भरत को जब सचिव, गुरू, माँ, कौसल्या तथा पौर-जन कहते हैं कि आप राज्य ग्रहण कीजिए, तब अत्यन्त आदरपूर्वक भरत सब से विनय करते हैं और कहते हैं -

अब तुम्ह विनय मोरि सुनि लेहू
मोहि अनुहरत सिखावनु देहू ।

बैबिल में येशु का कहना है कि वे लोग, जो नम्र है धन्य है, क्योंकि वे पृथ्वी के अधिकारी होंगे ।[1] विनयी और मधुरभाषी लोगों से संसार में शान्ति का वातावरण उत्पन्न होता है । विनयी लोग पाप के विरुद्ध विद्रोह करते हैं । वे बदला नहीं लेते । बुराई का बदला बुराई से नहीं लेते, बल्कि अपनी शान्ति बनाये रखते हैं । खामोश होकर सहन करते हैं और नीति के पालक ईश्वर पर निर्भर रहते हैं । नम्र व्यक्ति अपने आचरण से दूसरों को भी नम्रता दिखाने की प्रेरणा देता रहेगा । सुसमाचारों में कहा है, जो अपने को बडा मानता है, वह छोटा माना जायेगा । परन्तु अपने को छोटा मानता है, वह बडा माना जायेगा ।[2] "प्रभु का दास विनम्र हो ।"[3] येशु नम्रता के लिए शिष्यों से अनुरोध करते हैं ।

---

1. बैबिल मात्यु 5:5.
2. लूक 18:14.
3. तिम 6:11.

बैबिल के प्रवक्ता ग्रंथ में कहा गया कि तुम जितने अधिक बडे हो, उतने अधिक नम्र बनो ।[1] सूक्ति ग्रंथ में कहा गया कि घमण्ड विनाश की ओर ले जाता है और विनम्रता सम्मान की ओर ।[2] नम्रता आन्तरिक संपन्नता की परिचायक है । जो भीतर से भरे-पूरे होते हैं, वे ही नम्र और विनयशील दिखाई देते हैं । विनम्रता गुण ग्राहिणी होती है और व्यक्ति गुणों का अगार बन जाता है । विनयशील बनाने के लिए अभिमान को मन से निकाल देना चाहिए । नम्रता मनुष्यों में अच्छी संगति और पूरी विद्या से आती है । अच्छी चाल-ढाल, उत्तम आचार-विचार, ऊँचे उद्देश्य तथा अच्छे व्यवहार से इसकी पुष्टि होती है ।

बैबिल में येशु ने कहा तुम नम्र बनो । मैं स्वभाव से ही नम्र और विनीत हूँ । इस तरह तुम आत्मा के लिए शांति पावोगे ।[3] जो मनुष्य वास्तव में महान और प्रिय है, उस में वह राजसी नम्रता है, जो उसे मनुष्यों में सेवक और राजा दोनों बनाती है । जो मनुष्य येशु के समान झुकता नम्र होता है, अन्त में राजा के रूप में उसका आदर होता है और उसकी याद बनी रहती है । येशु के उपदेशों को सुनकर बहुत से लोग उनके पीछे हो लिये । वह सबों को चंगा करते थे, किन्तु साथ साथ वह चेतावनी देते थे कि तुम लोग मेरा नाम नहीं फैलाओ ।

शील :-

शील एक महान गुण है । जिसके चरित्र में दृढ़ता और पवित्रता होती है, उस में शील का गुण रहता है । मानवता का मापदण्ड धन नहीं अपितु शील है -

---

1. बैबिल प्रवक्ता 3:2C.
2. सूक्ति 18:12.
3. मात्यु 11:28.

येषां न विद्या न तपो न दानं
न चापि शीलं न गुणो न धर्मः ।
मनुष्य में शील ही प्रधान है, धन आदि वस्तुएँ तो आने जानेवाली हैं । शील के अभाव में दया, दान-दक्षिणा आदि गुणों के होने पर भी मनुष्य का जीवन व्यर्थ है -
शीलं प्रधानं पुरुषे तद्यस्येह प्रणश्यति ।
न तस्य जीवितेनार्थो न कुलेन धनेन च ।[1]
महाभारत में कहा गया कि शील से तीनों लोकों को जीता जा सकता है, शीलवान् पुरुष के लिए कुछ भी असाध्य नहीं होता । शीलवान दयालु राजा के पास लक्ष्मी स्वयं आ जाती है । जहाँ शील होता है वहीं धर्म, सत्य, व्रत श्री का वास होता है ।[2]

शीलवान् व्यक्ति जीवन को सामान्य बातों पर भी ध्यान देता है । शील से मनुष्य में आध्यात्मिक शक्तियों का विकास होता है । शीलवान् व्यक्ति से समाज को बराबर प्रेरणा मिलती है । यह उत्साह वर्द्धक होता है ।

धर्मयुक्त व्यक्ति के पास सब गुण सुख, सम्पत्ति आदि निष्काम भाव से आते चले जाते हैं । मानस के बालकाण्ड में बताया गया है -
जिमि सरिता सागर महुँ जाही । यद्यपि ताहि कामना नाही ।
तिमि सुख संपत्ति बिन हि बोलाए । धरमसील पहि जाहि सुभाए ।[3]
जिसका प्रभु चरणों में अनुराग होता है वही ज्ञानी, गुणी, पण्डित, दानी, पृथ्वी का भूषण एवं धर्मपरायण माना जाता है -

---

1. महाभारत 5:35.
2. वही, पृ. 374.
3. मानस बाल 293:1-2.

सोइ सर्वज्ञ गुनी सोई ज्ञाता । सोइ महि मंडित पंडित दाता
धर्म परायण सोइ कुल त्राता । राम चरण जाकर मन राता ।[1]

बैबिल के प्रवक्ता ग्रंथ में बताया गया है कि धन्य है वह मनुष्य जिस ने अपने मुख से पाप नहीं किया ।[2] धर्मी तेरा नाम धन्य कहेंगे, निष्कपट लोग तेरे सान्निध्य में निवास करेंगे ।[3] न्याय के अनुसार और पूरी सच्चाई से तू ने अपने उपदेशों की घोषणा की है ।[4] सद्धर्मी का मुख जीवन का स्रोत है ।[5]

प्रेम या स्नेह

त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है
करो प्रेम पर प्राण निछावर है ।

विद्वानों ने स्नेह की यह परिभाषा की है जिसके द्वारा अन्त:करण संपूर्ण रूप से मसृण अर्थात् कोमल या निर्मल होता है, और जो अतिशय ममतायुक्त है, ऐसा नितान्त घनीभूत भाव प्रेम कहलाता है । प्रेम मानव-मन की शाश्वत वृत्ति है । इस चराचर विश्व की संरचना प्रेम का ही प्रतिफल है । जीवन व्यापी प्रेम की नींव पर जन्म लेने के कारण प्रत्येक प्राणी में प्रेम का महत्वपूर्ण स्थान है । स्नेह या प्रेम का सार दो सत्ताओं के मिलन में हैं । लौकिक रूप में यह प्रेम दो आत्माओं का मिलन भी माना जा सकता है । लेकिन सामाजिक पृष्ठभूमि पर स्नेह का सीधा संबंध सद्भावपूर्ण व्यवहार से भी है, इसी में सुन्दरता का निवास है । यही साधना की महत् स्थिति है । प्रेम जीवन का सार है । सच्चे स्नेह का चरम उत्कर्ष उत्सर्ग भाव में दिखाई देता है । जब स्नेह का धागा किसी

---

1. बैबिल उत्त 126:1
2. प्रव 14:1
3. स्तोत्र 119:138
4. वही, 19:138.
5. बैबिल मत्ति 10:11.

कारणवश एक बार टूट जाता है तो फिर जुड नहीं सकता और कभी जुड भी जाए तो उस में गाँठ पड जाएगी । रहीम ने इस मनोभाव का बडे सुन्दर ढंग से वर्णन किया है -

रहिमन धागा प्रेम का मत तोडो झठलाय
टूटे सी फिर ना जुरै, जुरै गाँठ पड जाय ।।

विशुद्ध प्रेम से बढकर कोई गुण नहीं है । प्रेम से बडा धन नहीं है, प्रेम से बडा कोई ज्ञान नहीं है, प्रेम से बडा कोई धर्म नहीं है, प्रेम से बडा कोई मजहब नहीं है, क्योंकि प्रेम ही सत्य है, प्रेम ही ईश्वर है, इस संसार का जन्म प्रेम से हुआ, यह टिका भी प्रेम पर ही है और इसे बिलीन होना है प्रेम में ही । ईश्वर प्रेमस्वरूप हैं, उसकी सृष्टि के कण-कण में उसके प्रेम का दर्शन होता है । इसलिए मनुष्य से प्रेम करना ईश्वर से ही प्रेम करना है । धर्मग्रंथों में कहा गया है कि मनुष्य ही ईश्वर की सच्ची प्रतिकृति है, वह उसका अंश है । गीता में कहा है -

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।

प्रेम-शक्ति से बडी कोई दूसरी शक्ति संसार में नहीं है । स्वार्थ के लेशमात्र से भी अदूषित इस प्रेम की एक किरन भी पा जायें तो उस दिव्य साधन के द्वारा सारा संसार जीता जा सकता है । शुद्ध प्रेम ईश्वर की दुर्लभ देन है । वह अथक मानव सेवा का और अनेक सत्कर्मों का फल है । प्रेम सब विधियों का पूरक है - दान, समाजसेवा, परोपकार, मानवप्रेम, समाजवाद, साम्राज्यवाद और ऐसे ही अनेक प्रकार के "वाद" ये सब विश्वप्रेम के विकास के लिए ही है, हृदय को अनन्त तक फैलाने के लिए ही हैं । प्रेम सब से बडा समतावादी या समता लानेवाला है ।

सूक्ष्म अनुशीलन से देखा जाए तो प्रेम और सद्भाव से परिपूर्ण सौंदर्य का मूल्य-गौरव मानस में अक्षुण्ण है । इस में निरूपित राम-कथा, प्रेम और सद्भाव के वातावरण में विकसित होती है । क्षत्रिय श्रेष्ठ भरत निम्न-वर्गीय निषाद को प्रेमपूर्वक आलिंगन करते हैं -

भेंटत भरतु ताहि अति प्रीति । लोग सिंहहि प्रेम के रीति ।
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता । मिलत पुलक परिपूरित गाता ।।[1]

तुलसी ने प्रेम की घनिष्ठता के लिए दूध-पानी का उदाहरण दिया है । स्नेह की सुन्दर रीति देखिए कि जल भी दूध के साथ मिलकर दूध के भाव का होता है, परन्तु फिर कपट रूपी खटाई पड़ते ही, पानी अलग हो जाता है और प्रेम जाता रहता है -

"जलु पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति कि रीति भक्ति,
बिलग होइ रसु जाइ कपट खटाई परत पुनि ।"[2]

स्नेह पवित्र है, वह आपस में वैर नहीं करता । मानस में शत्रु मित्र को लेकर एक जगह तुलसी ने कहा है कि संसार में भूलकर भी वैर नहीं करना चाहिए -

"नवहि विरोधे नहिं कल्याना ।
शास्त्री मर्मी प्रभु सठ धनी । वैद वंदि कवि मानस गुनी ।"[3]

बैबिल में येशु ने कहा "अपने शत्रु से प्रेम करो और जो तुम पर अत्याचार करते हैं उनके लिए प्रार्थना करो ।"[4] यूनानी (Greek) में प्रेम के लिए चार शब्द हैं - स्तर्ग (Storage) जिसका क्रियारूप स्तर्गेन (Stergein) है ये शब्द पारिवारिक प्रेम को व्यक्त करते हैं । दूसरा शब्द अरोस (eros) है जिसका क्रियारूप अरान (eron) है । इन शब्दों से पुरुष का किसी

---

1. मानस अयो 193:2.
2. मानस बाल 57 ख.
3. मानस अर 26:2.
4. बैबिल मात्यु 5:44.

कुमारी के प्रति प्रेम का बोध होता है । इन शब्दों में वासना और यौन प्रेम का भाव है । तीसरा शब्द फिलिया है (Philia) जिसका क्रिया रूप फिलैन (Philein) है । प्रेम के लिए यह शब्द यूनानी में हार्दिकता से भरा हुआ सुन्दर शब्द है । इस से सच्चे प्रेम, सच्चे स्नेह का बोध होता है । चौथा शब्द है अगापे (Agape) जिसका क्रियारूप अगपान (Agapan) है । अगापे का सच्चा अर्थ है अविजेय, उपकार, अपराजेय, सद्भाव । वह शब्द शत्रु स्नेह के लिए भी प्रयुक्त होता है । बैबिल की पूरी शिक्षा भी यही है । यह ईश्वरीय प्रेम है । ईश्वर की बड़ी विशिष्टता यह है कि वह संत और पापी दोनों को प्यार करता है । जब मनुष्य अपने जीवन में अथक क्षमाशील प्रेम करता है तब वह ईश्वर के समान बनता है । हम उस समय अपना मनुष्यत्व प्राप्त करते हैं । अपने पर अत्याचार करनेवाले शत्रुओं के लिए भी ईश्वर से प्रार्थना करनेवाले व्यक्ति का अवश्य ही कल्याण हो जाता है । येशु की राय में यही ईश्वर की सच्ची सन्तान है । येशु ये भी उपदेश देते हैं "यदि कोई व्यक्ति तेरे दाहिने गाल पर चाँटा मारता है तब अपना बायाँ गाल भी उसकी ओर घुमा दो ।"[1] पवित्र स्नेह सहनशील है । इन पंक्तियों में व्यक्ति के प्रति सहनशीलता का उपदेश निहित है । इस प्रकार अपने सद्व्यवहार से दूसरों के दोष को प्रकाश में लाने और उन्हें सुधारने का उपदेश बैबिल में मिलता है । बैबिल में राजकीय नियम है "अपने पड़ोसी को अपने समान प्यार करना । संहिता में दूसरी आज्ञा भी यह है - अपने पड़ोसी को अपने समान प्यार करो ।"[2] इस संसार में येशु के अनुरूप आचरण करते हैं तो हमारा प्रेम पूर्णता प्राप्त कर चुका । "प्रेम पड़ोसी के साथ अन्याय नहीं करता । इसलिए जो प्यार करता है, वह संहिता के सभी नियमों का पालन करता है ।"[3]

ईश्वर प्रेम है और जो प्रेम में बना रहता है वह ईश्वर में और

---

1. बैबिल मात्यु 5:13.
2. वही, 22:38.
3. बैबिल रोमि 13:10.

ईश्वर उस में निवास करता है । हम एक दूसरों को प्यार करें क्योंकि प्रेम ईश्वर से उत्पन्न होता है । जो प्यार करता है वह ईश्वर की सन्तान है और ईश्वर को जानता है ।

बैबिल के कोरिन्थियों के नाम पत्र में सेंट पोल कहता है "यद्यपि मैं मानव की और देवों की भाषा में बोल रहा हूँ, लेकिन मुझ में प्रेम नहीं होता तो मैं कांस के बर्तन की झनझनाहट या साधारण मरमराहट ही रह जाता, यद्यपि मुझे भविष्यवाणी करने की शक्ति प्राप्त है और सारा रहस्य और सारा ज्ञान मैं जानता हूँ यद्यपि मुझे दृढ विश्वास है कि मैं चाहूँ तो पर्वत को इधर से उधर कर दे सकता हूँ, फिर भी यदि मेरे अन्दर प्रेम न होता तो मैं कुछ न होता यद्यपि मैं अपनी सारी संपत्ति गरीबों को खिलाने के लिए खर्च करता और यद्यपि मैं अपना शरीर जलाने के लिए दे देता, तो भी यदि मुझ में प्रेम न होता तो मुझे इन सब का लेशमात्र भी लाभ न होता ।

वास्तविक धर्म नीति प्रेम में हैं । विश्व प्रेम में सब समा जाता है, वह सब को समेट लेता है, शुद्ध प्रेम के मधुर आलिंगन से कोई भी व्यक्ति वंचित नहीं होता । प्रेम इतना विशाल है कि उस में छोटी से चींटी से लेकर हाथी तक, पापी कैदी से लेकर बलशाली चक्रवर्ती तक, दुष्ट डाकू से लेकर विख्यात संत तक जितने भी लोग इस धरती पर रहते हैं, सब समा सकते हैं । मनुष्य को मनुष्य से, राष्ट्र को राष्ट्र से देश को देश से अलग करनेवाला तो द्वेष है । गर्व अभिमान मनुष्य मनुष्य को फोडता है, ये सब मन की सृष्टि है, अज्ञान से पैदा होते हैं । जिस प्रकार सूर्य की प्रोज्जल किरणों के आगे अन्धकार टिक नहीं सकता, उसी प्रकार दिव्य प्रेम की किरणों के आगे ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार समाप्त हो जाते हैं ।

सेंट पोल कहता है कि भविष्यवाणियाँ जाती रहेंगी, भाषाएँ मौन हो जायेंगी और ज्ञान मिट जायेगा, किन्तु प्रेम का कभी अन्त नहीं होगा ।[1] प्रेम सहनशील और दयालु है ।[2] वह दूसरों के पाप से नहीं, बल्कि सदाचरण से प्रसन्न होता है । वह सब ढाँक देता है, सब कुछ पर विश्वास करता है, सब कुछ की आशा करता है और सब कुछ सह लेता है । अभी तो विश्वास, भरोसा और प्रेम ये तीनों बने हुए हैं किन्तु उन में से प्रेम ही सब से महान है ।"[3]

सब से बडी भेंट जो मनुष्य दूसरों को दे सकता है वह है स्नेह और शांति । इसके लिए पैसा नहीं लगता और महँगी पहुनाई भी नहीं लगती । इसके लिए एक उदार हृदय चाहिए । "हमें एक दूसरे को प्यार करना चाहिए ।"[4] कोई मनुष्य इस से बडी भेंट अन्य व्यक्ति को नहीं दे सकता वह थके पावों को आराम दें । जो प्यार नहीं करता, वह मृत्यु में निवास करता है । सेंट जोन के पत्र में लिखा है कि "बच्चो ! हम वचन से नहीं, कर्म से मुख से नहीं, हृदय से एक दूसरे को प्यार करें ।"[5] शुद्ध प्रेम में किसी प्रकार के लाभ की आकांक्षा नहीं रहती । प्रेम सदैव देते ही रहो । प्रेम में कोई भय नहीं है, पूर्ण प्रेम भय का नाश करता है । निस्संदेह प्रेम में एक अद्भुत शक्ति है । प्रेम हमारे जीवन में आनन्द का कारण है । शुद्ध प्रेम वास्तव में सुखदायक है, परन्तु इसके अनुचित उपयोग से मनुष्य कई तरह के दुःख उठाते हैं । प्रेम श्रेष्ठता का प्रतीक है । जो लोग प्रेम न करनेवालों से भी प्रेम करते हैं, उनका प्रेम सच्चा प्रेम होता है और वास्तव में महत्वपूर्ण होता है ।

---

1. 1 कोरि 13:1-3
2. वही, 13:5
3. वही, 13:13.
4. योह 3:11.
5. योह 3:18.

शिक्षा तथा ज्ञान :-

जो शिक्षा पुस्तक में हैं, जो धन दूसरों के हाथ में है, दोनों समय आने पर लाभदायक नहीं हो सकते । विद्या अपने कंठ में हो, और धन अपनी गाँठ में हो । विद्या मनुष्य की सुन्दरता है, विद्या ही गुप्त धन है । विद्या यश और सुख देनेवाली है, वह गुरुओं की गुरू है । विदेश यात्रा में विद्या बन्धु है, विद्या ही देवता है । राजाओं द्वारा शिक्षित, नीतिनिष्ठ सदाचारी का ही आदर होता है । शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए उचित वातावरण तैयार करना जिस में आत्मा तथा मन का विकास हो सके । शिक्षक का कार्य इतना ही है कि वह व्यक्ति के मानसिक नेत्रों को प्रकाश दें जिस से वह वस्तुओं को यथार्थ रूप में देख सके । मन के अंतर्गत छिपी हुई, गुप्त शक्ति को प्रकाश में लाना ही शिक्षक का धर्म होना चाहिए । विज्ञान तथा तर्क के आधार पर सत्य की खोज करना ही उच्चस्तरीय शिक्षा का मूल लक्ष्य है ।

मानस के उत्तरकाण्ड में शिक्षा का विवेचन किया गया है ।

"तब विज्ञानरूपिणी बुद्धि सित धृत पाई
चित्त दि आ भरि धरै दृढ समतादि अरि बनाई ।"[1]

विज्ञानरूपी बुद्धि उस ज्ञानरूपी निर्मल घी को पाकर उस से चित्तरूपी दिये को भरकर, समता की दीवट बनाकर, उस पर उसे दृढतापूर्वक रखे -

सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा । दीप सिखा सोई परम प्रचंडा ।[2]
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा । तब भव मूल भेद भ्रम नासा ।

यह जो अखण्ड वृत्ति है वही परम प्रचण्ड दीपशिखा है । जब आत्मानुभव के सुख का सुन्दर प्रकाश फैलाता है तब संसार के मूल भेदरूपी भ्रम का नाश हो जाता है -

---

1. मानस उत्त 117 :ख.
2. वही, 117 ·घ: 1.

"प्रबल अविद्या कर परिवारा । मोह आदि तब मिटई अपारा ।
तब सोइ बुद्धि पाइ उजियारा । उर गृह बैठि ग्रंथि निरूआरा ।"[1]
जब महान बलवती अविद्या के परिवार, मोह आदि का अपार अन्धकार मिट जाता है, तब विज्ञानरूपिणी बुद्धि आत्मस्वरूप प्रकाश को पाकर हृदयरूपी घर में बैठकर उस जड-चेतन की गाँठ को खोलती है ।

बैबिल के सूक्ति और प्रज्ञा ग्रंथ ज्ञान के लिए सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं । वहाँ कहा गया है "सब से पहले ज्ञान प्राप्त करो, किसी भी कीमत पर सद्बुद्धि प्राप्त करो इसे संजोयो रखो और वह तुम्हें महान बनायेगी ।"[2] ज्ञानी को शिक्षा दो, वह और ज्ञानी बनेगा, सदाचारी को शिक्षा दो, उसका ज्ञान बढ़ेगा । प्रज्ञा का मूल स्रोत प्रभु पर श्रद्धा है । सोक्रटीस का कथन था कि विचार करने की मुख्य बात मनुष्य स्वयं है । मनुष्य का चरित्र शोध करने का विषय है । ज्ञान के द्वारा सब कार्य ठीक होता है तो उसके परिणाम स्वरूप चार गुण मिलते हैं, दूरदर्शिता, साहस, आत्मविश्वास और नीति । ये स्वाभाविक गुण हैं । इनका मसीही आध्यात्मिक ज्ञान में भी विशेष महत्त्व है । वह ईश्वर की आराधः हृदय की पवित्रता से करने पर बल देता था । सोलमन के प्रज्ञा ग्रंथ में बताया गया है कि बुद्धि खोज करने से प्राप्त की जा सकती है । ज्ञानी में विचारों की पवित्रता, वाणी में सत्यता और कार्यों में भलाई पाई जाती है । भौतिकवाद ने मनुष्यों पर अधिकार कर लिया और उन्हें अज्ञानी बनाया । मनुष्य अपने विषय में जितना ज्ञानी होता जाता है, उतना ही विशाल हृदय और उदार-चेतन भी । तुलसीदास भी इस बात को भली-भाँति जानते थे कि ज्ञान से ही सब कुछ मिलता है । ज्ञान उस मन में प्रवेश नहीं करता, जो बुराइयों की बातें सोचता है । वह छल कपट से घृणा करता है । वह मूर्खतापूर्ण विचारों को तुच्छ समझता है और अनीति से अलग रहता है । "ज्ञान देदीप्यमान है जो उसे खोजते हैं वे उसे प्राप्त

---

1. मानस उत्त 117 घ:2
2. बैबिल प्रज्ञा 4:7-8

कर लेते हैं । शिक्षा की सदिच्छा ज्ञान का प्रारंभ है । शिक्षा की सदिच्छा प्रज्ञा का प्रेम है । शिक्षा का प्रेम उसकी आज्ञाओं का पालन है ।[1] उसकी आज्ञाओं के पालन में अमरता है । अमरता ईश्वर के निकट पहुँचाती है । इसलिए ज्ञान की सदिच्छा राजत्व दिलाती है । वह सत्य के मार्ग से नहीं भटकेगा । बुद्धिमानी की भारी संख्या में संसार का कल्याण है ।[2] इसलिए ज्ञान की शिक्षा ग्रहण करो उस से तुम्हें लाभ होगा । ज्ञानी राजा सोलमन ने उसे राजदण्ड और सिंहासन से ज्यादा पसन्द किया ।

शिक्षा व्यक्ति की आत्मा के विकास में मदद करती है । वह आत्मा को सत्य के मार्ग पर लाकर उसे अपने कर्तव्य का ज्ञान करा देती है । वह आत्मा में सत्यम्, शिवम् तथा सुन्दरम् का भाव भर देती है । शिक्षा व्यक्ति के हृदय में समष्टि का भाव पैदा करती है । व्यक्ति उस से छल, प्रपंच, अहंकार, और स्वार्थ की भावना से ऊपर उठकर सामाजिक भलाई की ओर उन्मुख होता है । शिक्षा, समाज की विभिन्न इकाइयों में एकता तथा सामंजस्य का भाव उत्पन्न करती है । वह सामाजिक सदाचरण का मार्ग है, व्यक्ति की विभिन्नताओं को समाप्त कर शिक्षा सामाजिक चेतना को जन्म देती है ।

नेत्र के समान अन्य कोई ज्योति नहीं है । ज्ञाननेत्र ही मनुष्य के पथ प्रदर्शक हैं ।

आनन्द :-

नीति विषयक सूत्रों के अंतर्गत आनन्द की महिमा का वर्णन प्राय: सभी नीतिशास्त्रों ने किया है । छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है -

---

1. बैबिल प्रज्ञा 6:17-18.
2. वही, 6:22.

"आनंद "अनन्त" है, जो "अनन्त" नहीं है वह आनन्द नहीं हो सकता है । केवल मात्र "असीम" ही आनन्द हो सकता है । केवल मात्र उसी "अनन्त" को जानने की इच्छा होनी चाहिए । आनन्द मानव व्यक्तित्व का सब से बड़ा गुण है । जब व्यक्ति आनन्द की सीढ़ी पर पहुँच जाता है तब परम शांति का अनुभव होता है ।

मानस के उत्तरकाण्ड में तुलसी ने कहा है कि आनन्द के बिना शांति उसी प्रकार प्राप्त नहीं की जा सकती जिस प्रकार जल के बिना नाव पार नहीं लगाई जा सकती -

"कोउ विश्राम कि पाव तात सहज सन्तोष बिनु
चलै कि जल बिनु नाव कोटि जतन पचि पचि मरिअ ।"[1]

सन्तोष के बिना काम का नाश नहीं होता और काम के रहते स्वप्न में भी सुख नहीं मिल सकता -

"बिनु सन्तोष न काम न साही ।
काम अच्छत सुख सपनेहुँ नाही ।।"[2]

बैबिल के फिलिप्पियों के नाम पत्र में उपदेश दिया गया है कि "आप लोग प्रभु पर हर समय आनन्दित रहें ।"[3] "आप शांति में जीवन बितायें ।"[4] "आनन्द सदा शांति उत्पन्न करता है ।"[5] जिस से व्यक्ति अपने जीवन में सफलता पाता है । "आनन्दमय हृदय अच्छी दवा है, उदास मन हड्डियाँ सुखाता है ।"[6] हृदय की प्रसन्नता मनुष्य में जीवन का संचार करती है और उसे

---

1. मानस उत्त 89:ख.
2. वही, 89:1
3. बैबिल फिलि 3:3
4. बैबिल थेस 4:11.
5. लूक 2:14

लंबी आयु प्रदान करती है । अच्छा मन बहलाओ ।[1] आनन्द का अर्थ इन्द्रिय सुख नहीं । विषय भोगों से मनुष्य को पूर्ण संतोष नहीं प्राप्त होता । आत्मा का सुख ही सच्चा आनन्द है । इस आनन्द की प्राप्ति अपने अपने कर्तव्यों के पालन से होती है । परम सत् की प्राप्ति ही मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए । अतः नीति निष्ठ व्यक्ति के हृदय में पवित्रात्मा का निवास रहता है । मानस और बैबिल में प्रत्येक व्यक्ति को नीति के पथ पर चलकर अपनी आत्मा को पवित्र बनकर जीवन को सरस मधुर तथा आनन्दमय बनाने का आह्वान दिया है । येशु ने शुद्ध हृदय बनने का लोगों को उपदेश दिया है । धन्य है वे जो हृदय के शुद्ध हैं क्योंकि वे ईश्वर के दर्शन करेंगे । शुद्ध हृदयवाले व्यक्तियों की बुद्धि सीधी होती है । अन्तकरण की शुद्धता से आनन्द की वृद्धि होती है । अपने अंतकरण को शुद्ध रखो और तुम्हारा आनन्द सदा बना रहेगा ।

व्यवहार नीति व्यक्तिगत जीवन के वास्तविक विकास के लिए आवश्यक है । मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में और समाज में सदाचार अत्यंत उपयोगी है । उसका संबंध वाणी और व्यवहार से अधिक है । गुणों की ही सर्वत्र पूजा होती है, बडी संपत्तियों की नहीं । प्रिय बोलने से सब प्रसन्न होते हैं । संसार रूपी अचल वृक्ष के अमृत रूपी दो ही फल है - सरस मीठा वचन और श्रेष्ठ पुरुषों की संगति । व्यक्ति के मन में जिसके प्रति अपनत्व है, वह उस से दूर रहता हुआ भी दूर नहीं है । सत्य से मनुष्य को स्वर्ग सुख प्राप्त होता है । मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन क्रम को भी सीमित और संयमित होना आवश्यक है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र परिवार, समाज, धर्म, राजनीति आदि में मनुष्य को सफलता के लिए सदैव सोचते या सावधान रहना अनिवार्य है । अतः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उचित कर्तव्य का नाम जीवन व्यापी नीति है । मानस और बैबिल में व्यावहारिक नीति के विषय में विशेष रूप से नीति-कथन प्रस्तुत किये हैं । दोनों ग्रंथों में सदाचार और नीतिपालन के तत्वों में समानता है ।

---

1. बैबिल प्रवक्ता 3:23.

अर्थ नीति :-

सामाजिक जीवन में आर्थिक व्यवस्था का महत्व होता है। किसी भी समाज की उन्नति भौतिक एवं आध्यात्मिक व्यवस्था पर निर्भर होती है। अर्थ ही वह साधन है, जिसके द्वारा शरीर की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है। उन्हें जुटाया जा सकता है। व्यावहारिक जीवन में अर्थ का अत्यन्त महत्व है। आज के युग में अर्थ के बिना कोई कर्म नहीं होता। मनुष्य के समस्त कार्यकलाप इसी अर्थ के निमित्त होते हैं। उस जीवन संघर्ष के केन्द्र में अर्थ ही है। मनु की मान्यता है कि दाय, लाभ, क्रय, जय, प्रयोग, कर्मयोग तथा सत्प्रतिग्रह से अर्थोपार्जन किया जा सकता हैं, जिसे धर्मानुकूल माना गया है।[1] मान धर्मानुकूल अर्जित धन का कर्म, यश, काम और स्वजनों के लिए उपयोग करता हुआ अपने इहलोक और परलोक सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों को प्राप्त करता है। इसलिए धन के उपार्जन, वृद्धि, संरक्षण एवं व्यय आदि में भी मनुष्य को निरंतर परिश्रम भय, चिंता का सामना करना पडता है। इस अर्थ के कारण ही समाज में चोरी, हिंसा, मिथ्याभाषण, पाखंड. काम, क्रोध गर्व, अहंकार, भेद, वैर, अविश्वास, स्पर्धा और व्यसन जैसे अनर्थ होते हैं। इसी कारण अर्थ को त्याज्य कहा गया है।

जीवन निर्वाह में धन की नितान्त आवश्यकता रहती है। धन की प्राप्ति के साधन, उसका जीवन में उपयोग, धन संचय तथा वितरण आदि आर्थिक नीति के अंतर्गत आते हैं। धन मनुष्य का साध्य नहीं साधन है। "समाज में सम्पत्ति, अर्थ या धन का उत्पादन वितरण और प्रयोग ऐसे ढंग से होना चाहिए कि वह मानवता के लिए अधिक से अधिक कल्याणकारी हो।"[2] जीवन के लिए भौतिक, आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों का अभाव

---

1. सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः
   प्रयोगा कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह दुःख चः।
   मनुस्मृति 10: 115.
2. भारतीय नीतिविज्ञान, यादवेन्दु, पृ. 39.

आदि व्यक्तित्व के विकास में बाधक होते हैं । अरस्तु का कहना है कि दया, सेवा, परोपकारिता, मित्रता, अतिथिसत्कार, दान आदि के लिए सम्पत्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है । इसके अभाव में व्यक्ति का जीवन नीरस हो जाएगा । समस्त संपत्ति के सामूहिक रूप में रहने पर इन गुणों का विकास आसानी से नहीं हो सकता । व्यक्ति अपनी उदारता का प्रदर्शन स्वतंत्र रूप में नहीं कर सकता । उचित आर्थिक व्यवस्था ही भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है । मानव व्यक्तित्व के निर्माण का यह प्रथम सोपान है । सुदृढ विश्व प्रेम के साम्राज्य निर्माण का यह अनिवार्य अंग है । "उचित आर्थिक व्यवस्था बौद्धिक, आध्यात्मिक, मानसिक एवं सांस्कृतिक विकास की प्रथम स्थिति है ।"[1]

अर्थ नीति मानव के सभी व्यापारों का संचालन करती है और नीति उस अर्थ नीति को भी अनुशासित करती है । अरस्तु वैयक्तिक संपत्ति के पक्ष में हैं । लेकिन इसका प्रयोग सामूहिक हित के लिए होना चाहिए । यदि ऐसा किया जाए तो राज्य तथा व्यक्ति दोनों की बहुत सी बुराइयाँ समाप्त की जा सकती है । धन या संपत्ति का सब से बड़ा मूल्य यह है कि उसके द्वारा सज्जन मनुष्य ईश्वर एवं व्यक्ति के प्रति ऋणों को चुकाकर अपना जीवन धर्माचरण तथा आनन्द के साथ व्यतीत करता है । संपत्ति के रहने से उसे बहुत से पाप एवं दुष्कर्म करने में मुक्ति मिलती है । सज्जन मनुष्य संपत्ति का व्यवहार सद्गुणों के विकास श्रद्धा एवं नीति के अनुसरण में करता है । रामायण-मंजरी, रामचरित आदि ग्रंथों में संपत्ति का महत्व बनाया गया है । रामचरित के अनुसार संसार में धन का ही महत्व है । अतः निर्धन को निष्प्राण ही समझना चाहिए । दरिद्र का कोई काम नहीं बनता है । जब कि धनी के सब मनोरथ शीघ्र ही सफल हो जाते हैं, धनवान् को ही वहाँ शीलवान्, कुलवान् और यशस्वी कहा गया है ।

---

1. नीतिशास्त्र, शान्ति जोशी, पृ. 52.

मनुष्य धन को जीवन का लक्ष्य न बनाये । रूपया जीवन रूपी मोटोर का पेट्रोल है, जीवन का उद्देश्य नहीं । जीवन का उद्देश्य है ईश्वर प्राप्ति । जो व्यक्ति रूपये में सुख समझता है, रूपया किसी को सुख तो नहीं बना सकता तथापि उसे पाने में तथा उसे संभालकर रखने में जो कष्ट झेलने पडते हैं, वे मनुष्य को दु:खी अवश्य बना सकते हैं । धर्म के पीछे पागल होनेवाले व्यक्तियों को तथा उनकी नकल करनेवालों को धर्मग्रंथ पुकार-पुकार कर कहता है कि उसके शाश्व आनन्द, नींद, अक्ल, विद्या, धर्म, पत्नी आदि नहीं मिल सकते ।

भागवत में तो भी धन को इस लोक में तापकारी और परलोक में नरकदायी कहा गया है । धन के संबंध में वहाँ त्रास, चिन्ता, भ्रम, हिंसा, असत्य, दम्भ काम, क्रोध, मद, भेद, वैर, अविश्वास और स्पर्धा आदि 35 अनर्थ बतलाकर भागवतकार उसे दूर से ही त्याग करने को सर्व श्रेयस्कर कहते हैं ।[1]

मानस में तुलसी कलियुग वर्णन में संपत्ति की स्पष्टत: निन्दा की गई है । आज राम घर-घर में अपने इसी मूल्य गौरव के कारण पूज्य हैं । वह निस्पृह भावेन पिता को अनुच्चरित आज्ञा के पालन में राज्य संपदा का सहर्ष परित्याग कर देते हैं । इसका अर्थ है कि रामायण, मानस और साकेत में आर्थिक मूल्यों का कोई महत्त्व नहीं हैं । वस्तुत: इन ग्रंथों में आर्थिक मूल्यों का औचित्य स्वार्थ से हटकर परार्थ में हैं । ये मूल्य व्यक्ति और परिवार के साथ-साथ समाज के पोषण, संरक्षण और कल्याण की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित है । राम केवल अपना पैतृक राज्य ही नहीं त्यागते, प्रत्युत रावण पर विजय पाकर उसके राज्य का भी परित्याग कर देते हैं । उनका यह त्याग भी परार्थ है । धन के देवता को बंदी बनाकर रावण पूँजी का संचय करता है । वह श्रम के बिना ही

---

1. भागवत 11,23:195-23.

अर्थोपार्जन करता है । इस अर्जित धन को वह अपने भोग-विलास, छल-कपट आदि पाशविक प्रवृत्तियों से व्यय करता है । राम ने अपनी सत्प्रवृत्तियों से पाशविक वृत्तियों पर विजय पाकर रावण के अर्थ संचय का विनाश किया, शोषण प्रवृत्ति का नाश किया । उनकी दृष्टि में अर्थ का मुल्य गौरव उसके समान वितरण में हैं । इसी कारण इनके राज्य में कोई भी दरिद्र नहीं है, किसी को भी अर्थ-संकट का सामना नहीं करना पडता -

"नहिं दरिद्र कोउ दुःखी न हीना ।
नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ।"[1]

धन के सदुपयोग के संबंध में फिर मानस में कहा गया है -

"ससि संपन्न सोह महि कैसी । उपकारी के संपत्ति जैसी ।
निसि तम धन खद्योत बिराजा । जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा ।"[2]

अन्न से युक्त या खेती से हरी-भरी पृथ्वी वैसी शोभित हो रही है, जैसे उपकार पुरुष की संपत्ति । रात के घने अन्धकार में जुगनु शोभा पा रहे हैं मानो दम्भियों का समाज आ जुटा हो । इन पंक्तियों में तुलसी ने वही परंपरागत बात दुहराई है जिस में धन के सदुपयोग पर बल दिया गया है ।

तुलसी की राय में किसी भी भाव से दान दिया जाये, वह दाता का अवश्य कल्याण करता है -

"जेन केन विधि दीन्हे, दान करई कल्याण ।"[3]

संसार के सारे कार्य व्यापार क्रिया चक्र अर्थ को लेकर ही रहे हैं । वर्ग भेद भी अर्थ के कारण हो रहा है । समाज में वर्ग-संघर्ष को ह के लिए धन की आवश्यकता होती है । रामराज्य में समृद्धि परकाष्ठा को

---

1. मानस 7:21:6.
2. वही, 14:3
3. वही, 7:103.

पहुँची हुई थी, किन्तु फिर भी उस समय के समाज के वर्ग-संघर्ष का कोई वर्णन नहीं मिलता । ऐसा केवल मात्र व्यष्टि-समष्टि के सामंजस्य से ही संभव हो सका था । उस समय समाज का एक वर्ग दूसरे वर्ग के हित के लिए दिल खोलकर दान देता था । तुलसीदास महाभारत के सदृश उस धनिक को व्यर्थ ही समझते हैं जो दूसरों के हित के लिए दान नहीं देता - जाय धनिक बिनु दान । धन को उत्तम गति दान ही है । दान को मानस के धर्मरथ प्रकरण में "परशु" कहा गया है । गीता में कहा गया है -"दान कर्तव्य है ।"[1] तुलसीदास, कलियुग में केवल दान को धर्म का एकमात्र चरण मानते हुए कहते हैं -

"प्रगट चारि पद धरम के कलि महँ एक प्रधान ।
येन केन विधि दीन्हे दान करइ कल्यान ।"[2]

दान को "परशु" कहने का यह अभिप्राय भी हो सकता है कि जिस प्रकार से परशु से समस्त दुःखों की निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार दान से भी सभी कष्टों का निवारण हो जाता है । दान से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं तथा दान से समस्त प्राणी वश में हो जाते हैं ।

दानों में शास्त्र की दृष्टि से अन्नदान को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है । शास्त्रों में वर्णन मिलता है कि "सहस्रों घोड़ों, लाखों गौओं त हाथियों, सुवर्ण तथा रजत के पात्र और सागरान्त पृथ्वी एवं करोड़ों कुलीन कन्याओं का दान भी अन्नदान के समान नहीं हो सकता ।[3] यही बात राव

---

1. दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकरिणे
   देशे काले च पात्रे तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् । गीता 17:20.
2. मानस उत्त दो: 103.
3. तुरगशत सहस्र गौ गजानां चलक्षम्
   कनक रजत पात्रं मेदिनी सागरान्तम्
   विमल कुलवधूनां कोटि कन्याश्च दद्यात्
   नहिं नहिं समम्यैतैरन्नदानं प्रधानम् । - मानस पियूष टीका ल:क: पृ.

को उपदेश देते समय अन्नदान को असाधारण दान कहते हुए अंगद की रावण के प्रति कही हुई उक्ति में चरितार्थ होती है ।

"अन्नदान अरू रस पीयूषा ।"[1]

राम विवाह प्रकरण में सोत्साह दान का प्रसंग मिलता है -

"दिए दान आनन्द समेता । चले विप्र आसिष देता ।"[2]

विनयपूर्वक दान देने का प्रसंग भी प्राप्त है -

"करत विनय बहु विधि नर नाहू । लहेउँ आज जग जीवन लाहू ।"[3]

दान सदैव निष्कलंकता से ही दिया जाय तो वह दान सात्विक तथा उत्तम माना जाता है । तुलसीदास ने स्थान स्थान पर दान का विशेष उल्लेख किया है ।

आर्थिक मूल्यों का यह गुण राम में पूर्णत: विद्यमान है । लंका विजयोपरान्त विभीषण राम को अपार मणियाँ तथा अन्य धन-संपदा भेंट करना चाहता था, किन्तु राम ने रावण के अत्याचारों से अर्पित उस संपत्ति को अंगीव नहीं किया । उन्होंने वह संपत्ति वानर आदि को उपहारस्वरूप दिलवा दी

"चढि बिमान सुनु सखा विभीषण । गगन जाइ बरषहु पर भूषण ।
नभ पर जाइ विभीषण तब ही । बरषि दिए मनि अंबर सब ही ।"[4]

यहाँ राम का गौरव यह है कि यदि वह विभीषण द्वारा प्रदत्त अर्थ अंगीकार लेते तो वह धन उनके जीवन मूल्यों को लांछित कर देता कि रावण वध और विभीषण को राज्य देने के परिणाम स्वरूप यह धन दिया और लिया गया है बृहस्पति का कथन है कि शुद्ध उपायों से ही धनार्जन करना चाहिए । यदि अनुचित साधनों से ही धन-संग्रह करता है तो उस पर घोर विपत्तियाँ आती

---

1. मानस लंका 26:6
2. बाल 295:8
3. वही, 331:4
4. मानस 6:116:3
5. बृह 7:13

धनिकों द्वारा गरीबों को प्रदत्त दान समाज के आर्थिक असन्तुलन को दूर करने में सहायक होता है । तुलसी की दृष्टि में तो कलियुग में केवल दान ही जीवन का धर्म है क्योंकि उस से समाज के अनेक व्यक्तियों का तन-पोषण होता है । राम जन्म के समय दशरथ ने अनेक प्रकार के दान दिए थे ।"[1] दान देने में प्रमाद नहीं विनय और उत्साह होना चाहिए । मानस में दान के इस पक्ष का सर्वत्र ध्यान रखा गया है ।[2]
जाचक लिए हँकारि दीन्हि निछावरि कोटि विधि ।

मानस के किष्किन्धा काण्ड में दुर्जनों के हाथों में रहनेवाले धन की स्थिति का वर्णन मिलता है -
"छुद्र नदी चली तोराई । जस थोरे हूँ धन खल इतराई ।
भूमि परत भा दाबर पानी । जनु जीवहि माया लपटानी ।"[3]
छोटी नदियाँ भरकर किनारों को तुडाती हुई चली जाती है वैसे थोडे धन से भी दुष्ट मर्यादा का त्याग कर देते हैं ।

रावण लोभी है, समस्त भूमंडल के समस्त ऐश्वर्य को पाकर भ उनको लोभ प्रकृति दूर नहीं होती, तब धन के देवता कुबेर पर भी आक्रमण कर उसे जीत लेता है -
"एक बार कुबेर पर धावा । पुष्पक जान जीति लै आवा ।"[4]
रावण का लोभ धन का केन्द्रीयकरण करता है ।

मनुष्य नीति-युक्त होने पर ही महान बनता है । मान तुलसीदास ने किसी संपन्न राजा के नैतिक आचरण का वर्णन करते हुए इस ब

---

1. मानस 1:195.
2. मानस 1:295:8, 331:4
3. मानस किष्कि 13:3
4. मानस 1:176:8

ओर संकेत किया है । धन के बिना व्याकुल होनेवाले गृहस्थ को मूर्ख कहकर उन्होंने धन की अप्रमुखता की ओर संकेत किया है -

पंक न रेनु सोह असि धरनी । नीति निपुण नृप के जसि करनी ।
जल संकोच विकल भई मीना । अबुध कुटुंबी जिमि धन हीना ।

जहाँ न कीचड है, न फूल, इस से भूमि निर्मल होकर ऐसी शोभा दे रही है जैसे नीति-निपुण राजा की करनी । जल कम होने से मछलियाँ व्याकुल हो रही है, जैसे मूर्ख गृहस्थ धन के बिना व्याकुल हो जाता है ।

बैबिल में आर्थिक नीति से संबंधित चित्रण मिलता है । मात्यु रचित सुसमाचार में कहा गया कि "अपने लिए पृथ्वी पर धन इकट्ठा न करो, जहाँ कीडा और जंग बिगाडते हैं, और जहाँ सेंघ लागते और चुराते हैं, परन्तु अपने लिए स्वर्ग में धन इकट्ठा करो, जहाँ न तो कीडा और न जंग बिगाडते हैं और जहाँ चोर न सेंध लगाते और न चुराते हैं क्योंकि जहाँ तेरा धन है वहाँ तेर मन भी लगा रहेगा ।"[1] उचित उपयोग के लिए रुपयों की आवश्यकता है । रुप का लोभ सब प्रकार की बुराइयों की जड है ।[2] ईश्वर उस व्यक्ति की प्रशंसा करता है, जो उदारता से देता है और इस बात की चिन्ता नहीं करता कि इ दान के लिए उसे कीमत कितनी देनी पडेगी । धन का उचित उपयोग करना सद है, नीति है । कभी हमारे सामने ऐसा अवसर आता है जब हमें बडी उदारता से काम करना पडता है । ईश्वर यह चाहता है कि हम निरंतर अपने कर्तव्य उत्तरदायित्व को समझें । जो कुछ हमें प्राप्त है वह ईश्वर का दान है वह ईश्वर के निरीक्षण में व्यय करने के लिए दिया गया है ।

बैबिल के तोबित के ग्रंथ में तोबित अपने बेटे को उपदेश है - हे बेटा ! इस से मत घबराओ कि हम गरीब हो गये हों । यदि तुम ईश्वर पर श्रद्धा रखोगे, हर प्रकार के पाप से दूर रहोगे और वही करोगे, ज

---

1. बैबिल मात्यु 6:19-12.
2. तिमो 6:10.

अपने ईश्वर की दृष्टि में उचित है, तो यह समझ लो कि तुम बड़े धनी हो ।[1]
जीवन भर व्यक्ति को धर्माचरण करना चाहिए । सन्मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति सब कामों में सफल होता है । अपनी संपत्ति में से भिक्षादान देना उचित है, किसी कंगाल की उपेक्षा नहीं करोगे, जिस से ईश्वर भी तुम्हारी उपेक्षा नहीं करे । व्यक्ति को अपनी संपत्ति के अनुसार दान देना चाहिए । यदि तुम्हारे पास बहुत धन हो तो, अधिक देना, यदि तुम्हारे पास कम हो तो कम देने में नहीं हिचकोगे । तुम्हारा यह दान विपत्ति के दिन तुम्हारे लिए एक अच्छी निधि प्रमाणित होगा, क्योंकि भिक्षादान मृत्यु से बचाता और अन्धकार में प्रवेश करने से रोकता है । हर भिक्षादान सर्वोच्च प्रभु की दृष्टि में सर्वोत्तम चढ़ावा रहे ।[2] धन बुद्धिमान की सेवा करता है और मूर्ख पर शासन करता है । बुद्धिमा धन का संग्रह अवश्य करता है, लेकिन केवल अपनी सुख-सुविधा के लिए नहीं । वह उसे समूचे समाज की संपत्ति समझता और उसका उपयोग लोक कल्याण के लिए करता है । धन का अपार संग्रह हो जाने पर भी उसे विशेष प्रसन्नता नहीं होती और धन के चले जाने पर भी उसे किंचित् भी दुःख नहीं होता । लेकिन मूर्ख के साथ वह स्थिति नहीं होती । धन ज्यों ज्यों उसके भण्डार में संगृहीत होता जाता है, उसका ध्यान शेष सारे समाज, परिवार और स्वजनों से हटकर वहीं पर केन्द्रित हो जाता है । किसी कारणवश जब यही धन नहीं रहता तो मूर्ख व्यक्ति दुःखी, परेशान और मृतप्राय हो जाता है । मूर्ख को हर समय धन की ही चिन्ता रहती है, बुद्धिमान धन सही ढंग से उपयोग करते हुए धर्मशील बन जाता है । धन को सार्थकता इसी में हैं कि वह आवश्यक लोगों की आवश्यकत की पूर्ति कर सके ।

येशु ने अपने शिष्यों से कहा, "धनवानों को ईश्वर के राज में प्रवेश करना कैसा कठिन है । ईश्वर के राज्य में धनवान के प्रवेश करने से ऊँट का सुई के नाके में से निकल जाना सहज है ।"[3] धर पर भरोसा रखनेवालो

---

1. बैबिल तोबि 4:21

2. वही, 4:7-11

3. बैबिल मारक 10:23-25.

के लिए ईश्वर के राज्य में प्रवेश करना कितना कठिन है । वास्तव में धन या सांसारिक वस्तुएँ प्रभु की सेवा के मार्ग में बाधक नहीं है । लेकिन उन से लगाव रखना बुरा है क्योंकि ये मनुष्य को ईश्वर की सेवा करने से रोकती है । धनी व्यक्ति धन के आकर्षण के कारण बन्धा हुआ रहता है । वह सहज ही घमंडी हो जाता है । वह सोचता है, सारे अधिकार उसी के हैं और वह शक्ति और प्रभाव खरीदता है । वह गरीबों को सताता है, अपने धन से लाभ उठाता है । दूसरों से घृणा करता है और अनैतिक आचरण करता है । धन की लालसा उसे धन का दास बना देती है । इसके लिए वह अपना हृदय, सम्मान, धार्मिकता, अपने आश्रितों, नौकरों और मज़दूरों के सुख की बलि कर देता है । धन की पिपासा उसके हृदय और स्नेह पर अधिकार जमा लेती है । धन को ही मनुष्य अधिक महत्त्व देता है । मानुषिक मूल्यों को नहीं । धन संचय व्यक्ति को पडोसी के प्रेम से हटाकर आत्मकेन्द्रित कर देता है और व्यक्ति यह कहने लगता है, "मेरी जान, खा, पी और आराम कर ।" येशु यह दिखाना चाहते हैं कि व्यक्ति ईश्वर पर आश्रित न रहकर धन को अपना आश्रय बना लेता है । येशु ने कहा, तुम ईश्वर और धन दोनों की सेवा नहीं करते ।" धन मनुष्य को विलास की ओर ले जाता है और वह अपनी आवश्यकता के अतिरिक्त किसी दूसरे की आवश्यकता को देख भी नहीं सकता । वह अपने को ही देखता है जिस प्रकार धनवान अपने खाने की मेज़ पर बैठा, दरवाज़े पर घावों से भरे लाज़र को न देख पाता था । धन व्यक्ति को दूसरों की आवश्यकताओं के प्रति अंधा ही नहीं बनाता वरन् लालच भी पैदा करता है और संघर्ष को जन्म देता है । इस प्रकार धन, चिन्ता, असुरक्षा, लालच इत्यादि को जन्म देता है । मनुष्य ईश्वर को भूल जाता है । इसलिए येशु ने कहा "पहले ईश्वर के राज्य की खोज करो तो ये सब चीज़ें तुम्हें मिल जायेंगी ।" येशु की अर्थ नैतिक सिद्धांत आध्यात्मिक इस जगत् में वस्तुओं और शरीर का ऐसा उचित उपयोग, जो ईश्वर के राज्य में प्रवेश देने में सहायक है । एक बार येशु ने कहा, चौकस रहो, और हर ; के लोभ से अपने को बचाये रखो, क्योंकि किसी का जीवन उसकी संपत्ति की बहुतायत से नहीं होता ।

येशु के धन की हानि के विषय में चेतावनी देने पर भी लोग धन कमाने की धुन में लगे हुए हैं। मनुष्य अपना मूल्य अपने धन से ठहराता है और लोग भी धन की अधिकता से ही मनुष्य का मूल्य आंकते हैं। रुपये से मनुष्य की सफलता आंकी जाती है और इसके आगे कोई उस के आचरण तथा समाज में योग्यता की बातों पर विचार नहीं करता है। लोग कहते हैं कि रुपये से सब कुछ किया जा सकता है परन्तु येशु कहता है कि धन स्वर्ग का द्वार नहीं खोलता है। बल्कि इसके द्वारा स्वर्ग के राज्य का द्वार बन्द हो जाता है। मनुष्य का जीवन क्षणभंगुर है, मनुष्य की आयु घास के समान होती है। वह मैदान में फूल की तरह फूलता है जो पवन लगते ही रह नहीं जाता और न वह अपने स्थान में फिर मिलता है। बैबिल में जोब ने कहा कि मैं अपनी माँ के पेट से नंगा निकला और वही नंगा लौट जाऊँगा।[1]

राजनीति :-

राजनीति शासन का विज्ञान है। वह शासन के अधिकारों, कर्तव्यों एवं दायित्वों की व्याख्या करती है। सार्वजनिक हित को लक्ष्य में रखकर वह व्यक्तियों के आचरण को निर्धारित करती है। संस्थाओं का संगठन तथा नियमों और कानूनों का निर्माण करती है। दूसरे शब्दों में राज्य संगठन, उसकी रक्षा तथा व्यवस्था को स्थायी रखने के लिए जो विधि अथवा नियम निश्चित किये जाते हैं, उन्हीं को राजनीति कहा जाता है। राजनीति का उद्देश्य उस बाह्य आदर्श व्यवस्था का निर्माण करना है जो मनुष्य के सर्वोच्च ध्येय की प्राप्ति के लिए सहायक है। "राजनीति का लक्ष्य जन सामान्य की सुख समृद्धि है। वह समाज के लिए लाभप्रद तथा उपयोगी, कर्मों को निर्धारित करती है, उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए वह व्यक्तियों के आचरण पर नियंत्रण रखती हैं।"[2]

---

1. बैबिल जोब 1:21
2. नीतिशास्त्र, शान्ति जोशी, पृ. 561.

समाज में सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए एक शासक की आवश्यकता होती है । धर्म की रक्षा और अधर्म के विनाश हेतु, तथा शत्रुजन्य आक्रमण की विभीषिका से त्राण पाने के लिए प्रजा, राजा या शासक का चुनाव करती है । राजा का अर्थ है प्रजा का रंजन करनेवाला - "रंजयति इति राजा ।" मनु ने राजा को मनुष्य रूप में देवता बतलाया है । चाणक्य ने इसे इन्द्र के समान गौरवशाली अथवा यम के समान दण्डधारी घोषित किया है । गीता में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, मैं मनुष्य में राजा हूँ । रामचरितमानस, बैबिल, कुरान में भी राजा की दिव्यता के संकेत प्राप्त होते हैं । सेंट पोल, सेंट आगस्तिन, पोप ग्रिगरी महान् इत्यादि राजा की दैवी-शक्ति के प्रतिपादक है । प्राचीन मिस्र और इरान में राजा पूज्य समझा जाता था । पश्चिम में राजा की दिव्यता का प्रतिपादन होता रहा । जापान में अब तक सम्राट को सूर्यपुत्र माना जाता है । मध्यकालीन भारत में राजा की दैवी-शक्ति सर्वमान्य थी ।

राजा का प्रधान कर्तव्य था कि वह राष्ट्र के शत्रुओं से सुरक्षि करके राज्य में शांति व्यवस्था स्थापित करें । राज्य में न्याय व्यवस्था स्थापि करना, धर्म की रक्षा करना भी राजा के कर्तव्य कर्मों में परिगणित किया गया था । राज्य की भौतिक उन्नति के लिए पूर्ण रूप से सजग और सचेष्ट रहना उचित है । इस से स्पष्ट है कि राजा का सिंहासन पर आरोहण का मुख्य उद्देश्य समाज कल्याण ही है , और उसके लिए राजा-प्रजा की सुख समृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहना है ।

मानस में राजनीति को सर्वोपरि महत्व दिया है और रा के जीवन को सामाजिक जीवन का ही एक अंग माना गया है । उसके समस्त समाज के निमित्त ही होते हैं । राम अपने नैतिक आचरण द्वारा ही समाज एक आदर्श, एक मूल्य प्रस्तुत करता है । तभी "यथा राजा तथा प्रजा" की उक्ति चरितार्थ होती है । एक श्रेष्ठ राजा के गुणों में नैतिकता को विशेष दिया गया है ।

तुलसीदास की दृष्टि में तो वह राजा शोचनीय है, जो नीति नहीं जानता, जिस में नैतिकता नहीं है -

"सोचिय नृपति जो नीति न जाना ।"[1]

युवराज पद के लिए नैतिक गुणों पर विशेष बल दिया गया है । नैतिक सीमाओं के अनुसार यदि राजा का कनिष्ठ पुत्र भी योग्य, गुणवान, नीतिवान हो, तो उसे भी राज्य दिया जा सकता है । राम दशरथ के बडे पुत्र हैं । दशरथ उन्हें ही राज्य का उत्तराधिकारी घोषित करते हैं ।

"मैं बड छोट विचारि जिय, करत रहेउँ नृपनीति ।"[2]

राजा के आचरण का प्रभाव प्रजा पर पडता है । राजा का कर्तव्य है कि वह अपने सुख को तिलांजलि देकर प्रजा के सुख को ही अपना सुख समझे । वास्तव में ऐसा राजा लोकप्रिय होता है, हृदय सम्राट होता है, राजा को धर्मशील होना चाहिए, उसे राजनीति की रक्षा करनी चाहिए, उसे शक्ति, नीति, ऐश्वर्य तथा धर्म, प्रताप, शील का संरक्षक होना चाहिए । ऐसे राजा के राज्य में प्रजा स्वत: ही राजनिष्ठ होती है । धर्म मार्ग पर चलती है । इन व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर तुलसी ने नीति-निपुण और प्रजावत्सल राजा को ही मंगल मूर्ति माना है । उनके अनुसार राजा की भलाई से ही वेद और लोक दोनों का भला है । अच्छे राजा को पाकर प्रजा सुखी रहती है

"सुखी प्रजा जनु पाई सुराजा । प्रजा बदि जिमि पाई सुराजा ।"[3]

मानस में वर्णित राजनीति पर आलोचना करने से यह ज्ञात होता है कि रावण और राम की शासन -व्यवस्था का मानस में कुछ विस्ता वर्णन किया गया है ; और अन्य बहुत संक्षिप्त रूप में जैसे राजा दशरथ के

---

1. मानस 4:14:4.
2. वही, 2:31.
3. वही, 314:2.

शासन तंत्र में नृपतंत्र हैं उस में लोक चेतना तथा लोक धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है । परन्तु लोकेच्छा, लोक मंगल, समाज कल्याण का वह विधान नहीं जो रामराज्य में विद्यमान हैं । राजा जनक एक दार्शनिक तथा त्यागी सम्राट के रूप में आये हैं - बहुत कुछ ऋषि जैसे हैं । तुलसीदास राम के राजनीति के समर्थक तथा रावण के राजनीति के विरोधी हैं । रावण की शासन व्यवस्था में व्यक्ति इच्छा ही शासन का मूलतंत्र है । उन में दर्प, अहंकार, प्रतिशोध, काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, ईर्ष्या, घृणा, हिंसा आदि से ग्रस्त है । रावण का शासन भय पर आधारित है । उनका शासन अधर्म, अनीति का प्रतीक है । रावण धर्मी राजा नहीं, अधर्मी है ।

राम का शासन प्रेमपूर्ण शीलोत्कर्ष पर आधारित हैं । उनका शासन धर्म और नीति का प्रतिबिम्ब हैं । तुलसी की दृष्टि में शासन व्यवस्था का चरम मूल्य एक सर्वकल्याणकारी आदर्श राज्य की संरचना है । जिसे उन्होंने रामराज्य के रूप में स्थापित किया है । तुलसीदास का राजनीति-निरूपण मानस के उत्तरकाण्ड के रामराज्य वर्णन में अपना चरमोत्कर्ष प्राप्त करता है । रामराज्य तुलसीदास की यूटोपिया है । तुलसी का रामराज्य संसार के साहित में ही नहीं, दर्शन में भी आदर्श राज्य चिन्तन के चरम उत्कर्ष का सूचक है । महानतम शासक वह है जो अल्पतम शासन करें, अपने स्वार्थ या हित का ध्यान न रखकर प्रजा के हित का ध्यान रखे । वह अपनी स्वार्थ सिद्धि नहीं बल्कि प्रजा के कल्याण का ध्यान रखता है । प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में नागरिक के सुख तथा आनन्द पर अधिक ध्यान दिया है । उसका कथन है कि व्यक्तियो के आनन्द में ही राज्य का आनन्द निहित है । जिस राज्य के नागरिक सुखी नहीं है, वह राज्य भ्रष्टाचार, आतंक तथा स्वार्थों का अखाडा बना रहता है प्लेटो आनन्द का अर्थ इन्द्रिय सुख नहीं लगाता । उसके अनुसार आत्मा का सु ही सच्चा आनन्द है । इस आनंद की प्राप्ति अपने अपने कर्तव्यों के पालन से

होती है । परम सत् के विचार की प्राप्ति ही मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए । अतः न्यायी व्यक्ति के हृदय में पवित्र आत्मा का निवास रहता है । राजा राम चाहते थे कि सभी नागरिक धर्म, नीति के अनुसार आचरण करें । निषाद राज की विदाई के समय उन्होंने उसे उपदेश किया - मन क्रम वचन धर्म अनुसरेह ।[1] इन बातों से यह सिद्ध होता है कि श्रीराम की राजनीति धर्म पर ही आधारित थी । उनका दृढ विश्वास था कि राज्य में जब जब लोग धर्म का पालन करेंगे, धर्मानुसार आचरण करेंगे तभी संपूर्ण समाज का कल्याण होगा, शांति और सुख का चारों ओर विस्तार होगा ।

महाराज दशरथ ने श्रीराम का राज्याभिषेक करने का निर्णय किया और उसके लिए सब तैयारी भी हो गयी, परन्तु अकस्मात् अप्रत्याशित रूप से पिता को धर्म संकट में देखकर, उनके वचन की रक्षा के लिए वे राजमहल के जीवन का ऐश्वर्य-वैभव छोडकर वनवास के लिए तैयार हो गये । उन्होंने राजसिंहासन भाई भरत के लिए छोड दिया । मन में माता कैकेयी या और किसी के प्रति कोई दुर्भाव लाये बिना श्रीराम ने वन गमन अपना परम धर्म समझा । उनकी उस समय की मनःस्थिति अत्यन्त उदात्त थी । उस समय के उनके चेहरे के संबंध में तुलसी ने बहुत ठीक ही लिखा है -

"प्रसन्नतां यो न गताभिषेकतस्त था न मम्लै वनवास दुःखतः ।"[2]

अपने राज्याभिषेक की बात सुनकर श्रीराम न हर्ष से फूल उठे और न वनवास से उनका मुख उदासीन हुआ । वे कितने बडे स्थित प्रज्ञ थे, समबुद्धियुक्त एवं द्वन्द्वातीत थे । उन्हीं की तरह भाई भरत को भी सत्ता का कोई लोभ नहीं था । वे अपने राज्याभिषेक की बात स्वीकार न करके श्रीराम को लौटा लाने और राजसिंहासन पर बिठाने के लिए दल-बल सहित चित्रकूट पहुँचे । लेकिन किसी का आग्रह-अनुरोध श्रीराम को अपने संकल्प से डिगा नहीं सका । श्रीराम की पादुका लेकर वे चित्रकूट

---

1. मानस 7:19:1

2. मानस अयो 2

से लौट गये और राजधानी अयोध्या के समीप नन्दिग्राम में उनकी स्थापना करके बडे भाई की ओर से शासन चलाने लगे । वे राज्य को भाई की धरोहर वस्तु के रूप में मानते थे और एक तपस्वी की भाँति वल्कल और मृगचर्म धारण कर कुटी में रहते थे । लंका विजय के बाद श्रीराम के लौट आते ही भरत ने उनके चरणों में पादुकाएँ पहना दीं और शासन सूत्र उन्हें सौंप दिया । बडी धूमधाम से भरत ने भाई का राज्याभिषेक संपन्न कराया ।

राम कितने लोकतंत्रवादी थे और समाज का कितना अधिक आदर करते थे, यह उस प्रकरण से स्पष्ट हो जाता है, तब उन्होंने पुरवासियों की एक महती सभा को बुलाकर प्रजा को उपदेश दिया । उन्होंने कहा -

"सुनहु सकल पुरजन मम बानी । कहउँ न कछु ममता उर आनी ।।
नहिं अनीति नहि कछु प्रभुताई । सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई ।।
जौं अनीति कछु भाषौं भाई । तौं मोहि बरजहु भय बिसराई ।।"[1]

इस उक्ति से उनकी विनयशीलता, अहंकारहीनता, निश्चलता और सरलता आदि प्रकट होती है । वे राजा होते हुए भी पूरे लोकतंत्रवादी थे । समाज को और लोकमत को अपने पक्ष में रखकर वे काम करते थे ।

शासक नीति निपुण एवं प्रजावत्सल रहना चाहिए । पृथ्वी और प्रजा का पालन ही राजधर्म है । भारतीय राजनीति चिन्तन में राजा ईश्वर का अंश माना गया है तथा सार्वभौम धर्म, एकता एवं शक्ति का केन्द्र बिन्दु होता है, तुलसी ने मानस में उसे ईश्वर का अंश कहा है -

"साधु सुजान सुशील नृपाला । ईस अंश परम कृपाला ।"[2]

राजा भगवंशधारी होता है । इसलिए वह साधु, बुद्धिमान, सुशील एवं परम कृपालु भी होता है । मानस में श्रीराम आदर्श राजा है ।

---

1. मानस 7:42:2-3
2. मानस बाल 28:8.

आदर्श राजा सत्य का प्रेमी होता है । मानस के अयोध्या काण्ड में ऐसा निरूपण किया गया है कि राजा को सत्यव्रती होना चाहिए -
"रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्रान जाहूँ बरू बचनु न जाई ।"[1]
रघुकुल में सदा यह रीति चली आयी है कि प्राण भले ही चले जाय, पर वचन नहीं जाता । मानस का कथानक ही सत्यनिष्ठा की नींव पर स्थित है । राजा दशरथ और राजा राम सत्य के प्रतीक है । दशरथ अपने वचन पर दृढ रहकर राम को वन जाने का आदेश देते हैं और स्वेच्छा से मृत्यु का वरण कर लेते हैं । चित्रकूट की सभा में राम स्वयं दशरथ के इस सत्य प्रेम का वर्णन इस प्रकार करते हैं -
राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यसगी । परिहरेउ प्रेम पन लागी ।
राम आदि इस सिद्धांत को लेकर जीवन के विविध कार्यों में लीन दिखाई पडते हैं जब कि रावण और उसके वर्ग के लोग असत्य पथ पर चलनेवाले हैं इसलिए अन्त में उसकी पराजय होती है । क्योंकि अन्त में सत्य की ही विजय होती है ।

आदर्श राजा ज्ञान, न्याय और विवेक का प्रेमी हो । न्याय और विवेक राजा के सुप्रधान गुण होने चाहिए । न्याय और विवेक एक ही प्रवृत्ति के दो नाम है । विवेक का अर्थ है सत् और असत् की पहचान । सत् प्रवृत्ति की पहचान करके उसका पक्ष ग्रहण करना ही न्याय है । विवेक को ही तुलसी ने प्रमुख साधन माना है, किन्तु उसका रूप निर्मल होना चाहिए । उनकी दृष्टि में सत् और असत् की पहचान उसकी आध्यात्मिक और नैतिक चेतना है जिसकी ओर उसी व्यक्ति का ध्यान जाता है जिसका विवेक विमल होता है -
"भनिति मोरि सब गुन रहित । विश्वविदित गुण एक
सो बिचारि सुनिहाहि सुमति जिनके विमल विवेक ।"[2]

---

1. मानस अयो 26:2
2. मानस बाल 9

मानस में राजा के लिए विवेक, वैराग्य, सुबुद्धि आदि गुण आवश्यक माने हैं -
"राम बास बन संपत्ति भ्राजा । सुखी प्रजा जनुपाई सुराजा ।
सचिव बिरागु विवेक नरेसु । विपिन सुहावन पावन देसु ।"[1]

मानस के राम कर्मवीर और धर्मवीर भी थे । धर्म की रक्षा के लिए उनका अवतार हुआ था । इसलिए चौदह वर्ष वनवास के पितृ आदेश को उन्होंने सहज भाव से और अत्यन्त उत्साहपूर्वक स्वीकार किया ।

प्रजा का परिपालन राजा का प्रमुख कर्तव्य है । जिस राजा के राज्य में प्रजा दुःखी हो वह तो नरक का अधिकारी बताया गया है -
"जासु राज प्रिय प्रजा दुःखारी । सोनृप अवसि नरक अधिकारी ।"[2]
मानस में नीति प्रज्ञ राजा का निरूपण किया गया है । जो राजा नीति प्रज्ञ नहीं, वह शोचनीय है । गुरु वसिष्ठ के शब्दों में -
"सोचिय नृपति जो नीति न जाना । जेहि न प्रजाप्रिय प्राण समाना ।"[3]
नीति के बिना शासन व्यवस्था सुचारू रूप से नहीं चल सकती -
"राजा कि रहइ नीति बिनु जाने ।"[4]
राम कहते हैं कि राजा को राष्ट्र के सभी अंगों का विवेकपूर्वक पालन करना चाहिए -
"मुखिया मुख सों चाहिए खान पान कहुँ एक
पालइ पोसइ सकल अंग तुलसी सहित विवेक ।"[5]
यह उदाहरण उच्चतम-पावनतम समाजवर्ग के प्रति शासक के कर्तव्य का सूचक है जो खाने पीने को तो एक है, किन्तु विवेक पूर्वक सब अंगों का पालन पोषण करता है । सुराजा से प्रजा की वृद्धि होती है -"प्रजा बाढ जिमि पाइ सुराजा ।"[6]

---

1. मानस अयो 234:3
2. वही, 71:3
3. वही, 172:2
4. मानस उत्त 112:3
5. मानस अयो 314:10.
6. मानस 4:14:6

रावण की सेना को नाना प्रकार के अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित तथा राम की सेना में युद्ध की बाह्य सामग्री और अस्त्र-शस्त्र के अभाव को देखकर विभीषण के चिन्तित होने पर राम ने जिस विजय-रथ का वर्णन किया है वह राजा के आन्तरिक गुणों तथा विशेषताओं का द्योतक है । "विजय के लिए वाहिनी, गढ, अस्त्र-शस्त्र आदि ही पर्याप्त नहीं । शौर्य, धीरता, सत्य, शील, बल, विवेक, दम, परोपकार, क्षमा, कृपा, समता, दया, बुद्धि, विज्ञान, वैराग्य, सन्तोष, निर्मल दृढमन, सम, दम, यम, नियम, ईश-भजन आदि का पालन तथा साधु-सेवा आवश्यक गुण है । इन गुणों से विजय सुनिश्चित रहती है । इन्हीं से विजय की शोभा होती है और ऐसा विजयी शत्रुहीन होता है ।"[1]

राज धर्म की विस्तृति, आदर्श और महत्ता के कारण श्रुति-स्मृति, पुराण एवं नाना प्राचीन लोकमान्य धार्मिक ग्रंथों में इसकी शक्ति स्वरूप और उपयोगिता का विवेचन किया गया है । तुलसी द्वारा प्रतिपादित राजनीति उन्हीं लोकसम्मत विवेचनों का स्वरूप है । प्राचीन तथा वर्तमान शास्त्रानुकूल प्रजावर्ग के रक्षण, पालन-पोषण, सेवन तथा संवर्द्धन की आधारशिला पर राजनीति का अस्तित्व सुदृढ है । राजा अग्नि के समान तेजस्वी, इन्द्र के समान अजातशत्रु पृथ्वी के समान क्षमाशील तथा धीर, वायु के समान पराक्रमी, शिव के समान अद्वितीय ओजस्वी, कामदेव के समान सौन्दर्यवान, ब्रह्मा के समान अधिपति, बृहस्पति के समान ब्रह्म-विचारक तथा स्वयं इन्द्रिय जयी, विनीत, शीलवान, परोपकारी तथा संत गुरु सेवी होते हैं । प्रजा का कार्य ही उनका कार्य है, प्रजा का दुःख ही उनका दुःख है, प्रजा का सुख ही उनका सुख है, प्रजा का हित ही उनका हित है । राजा का जैसा आचरण होता है, प्रजा का भी वैसा ही आचरण होता है । धर्मनिष्ठ और नीति-निपुण राजा के राज्य में रहकर ही व्यक्ति अपने धर्म का यथोचित पालन कर अपना कल्याण कर सकता है । इसी

---

1. मानस 6:80:4-11.

व्यापक महत्व को दृष्टि में रखकर तुलसी ने एक उदार और सर्वगुण भूषित राजनीति की स्थापना की है । गोस्वामी के इष्टदेव श्रीराम स्वयं उक्त राजनीति के आश्रय और आदर्श रामराज्य के जनक है । एक स्थान पर श्रीराम ने राजधर्म के मूल स्वरूप का परिचय कराते हुए भाई भरत को यह उपदेश दिया है कि पूज्य पुरुषों, माताओं और गुरूजनों के आज्ञानुसार राज्य, प्रजा और राजधानी का न्याय नीति पूर्वक सम्यक् परिपालन करना ही राजनीति का मूलमंत्र है ।

श्रीराम में सत्यप्रियता, समदर्शिता, नीति-निपुण, सावधानता, संकल्पशीलता, उपकार प्रियता, साहसोत्साह, त्याग, धीरता, प्रेम, साहसिकता, गंभीरता तथा प्रजावत्सलता आदि मानव दुर्लभ गुण सहज ही सुलभ है । प्रजा को धारण करनेवाली श्रेष्ठ राजनीति के साम, दाम, दण्ड और भेद ये चार नित्याभरण है ।

बैबिल में राजाओं के दोनों ग्रंथों में दावीद के पुत्र महान् विवेकशील राजा सोलमन से लेकर इस राजवंश के अन्त तक का इतिहास दिया गया है । दोनों ग्रंथों का उद्देश्य यूदा और इस्राएल के राजाओं का विवरण देना है। सामुएल की पुस्तक में कहा गया कि ईश्वर मनुष्य को बुलाता है, और उनके कामों के लिए उन्हें सफल बनाता है, उनके प्रयत्नों को सफलता के मुकुट से सुशोभित करता है परन्तु यह सब कुछ ईश्वर हित और व्यवस्था का पालन करने से होता है । इन पुस्तकों में वर्णित राजनीति में अधिकार प्रदान, न्याय और दया का अपूर्व समन्वय है । उन दिनों राजा लोगों का मार्गदर्शन करता है तथा राजतंत्र का रूप स्थापित करता है । वीर कर्म के नेता के रूप में शाऊल प्रसिद्ध है । राजा के कार्य में वह इस्राएलियों के लिए गर्व का विषय था लेकिन अन्त में उसने आज्ञा का पालन न किया उसका पतन हुआ । दावीद राजा ने बुरा किया इसलिए पापी माना गया । पुराना नियम में बताया गया है अन्य मानवी तंत्र के सदृश राज-सत्ता भी ईश्वर की व्यवस्था के अधीन है ।

सामुएल ने इस्राएलियों से यह कहा था तुम्हारा ईश्वर तुम्हारा राजा है । सामुएल के ग्रंथ में बताया गया है कि प्रत्येक राजा या शासक ईश्वर द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि मात्र है । राजा का कर्तव्य है कि वह ईश्वर के नाम पर शासन करे, ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करें, और अपनी प्रजा से भी उनका पालन कराये । सामुएल के ग्रंथों का लेखक ईश्वर भक्त राजा दावीद को ऐसा ही राजा मानता है और उन्हें समस्त राजाओं का आदर्श बताते हैं । दूसरे सभी राजाओं का महत्व दावीद से तुलना के आधार पर निर्धारित किया है । आदर्श राजा दावीद येशु के पूर्वज और उनके प्रतीक भी हैं। धर्माचार्यों ने राजा दावीद और येशु के चरित में समानताएँ दिखलायी हैं ।

सामुएल के ग्रंथों में वर्णित राजा दावीद का आदर्श राज्य बाद में उनके उत्तराधिकारियों के कुकृत्यों के कारण लुप्त हो गया । राजा दावीद के वंश की मान-मर्यादा तथा उसके आध्यात्मिक वैभव की झलक देखने को मिलती हैं । कई नबी इस ओर संकेत देते हैं कि येशु राजा दावीद के घराने में जन्म लेंगे और राजा दावीद की कीर्ति येशु की कीर्ति का संकेत भी देती है । नबी नातान द्वारा ईश्वर दावीद को आश्वासन देता है कि वह स्वयं उसके लिए एक ऐसा वंश स्थापित करेगा, जो शाश्वत होगा और जिसके राज्य का अभी अन्त नहीं होगा ।[1]

राजाओं के ग्रंथ का आरंभ राजा दावीद के महान पुत्र राजा सोलमन के वैभव तथा विवेकशीलता और यरूसलेम के विशाल मन्दिर के निर्माण के वर्णन से होता है । परन्तु ईश्वर द्वारा प्रदत्त महान दोनों के बावजूद राजा सोलमन प्रभु के प्रति पूर्णत: निष्ठावान् नहीं रहे । वह अपनी अनेक विदेशी उपपत्नियों के प्रभाव में आकर मूर्तिपूजा और सुखलोलुपता में फँस गये । उनके

---

1. बैबिल 2 सामु 7.

प्रथम उत्तराधिकारियों के काल में ही इस्राएलियों का राज्य दो भागों में यूदा और इस्राएल - में विभाजित हो गया । आपसी फूट, अयोग्य राजाओं और धार्मिक पतन के कारण ये दोनों राज्य विनाशोन्मुख हो गये । धर्म परायण राजा जोषुआ के धर्म-सुधार भी यूदा के विनाश को अधिक समय तक रोक नहीं सके ।

राजाओं का मूल्यांकन इस आधार पर किया गया है कि वे कितने धर्म-परायण और प्रभु की सेवा के प्रति निष्ठावान् थे । विशेष रूप से यह उल्लेख किया गया है कि उन्होंने कहाँ तक अधर्म को समाप्त किया या बढ़ाया। सब से अधिक ध्यान इस बात की ओर दिया गया है कि उन्होंने कहाँ तक ईश्वर की उपासना को प्रोत्साहन दिया । खेद है कि अधिकांश राजा कर्तव्यपालन में असफल रहें । अपनी प्रजा के सामने अच्छा दृष्टांत प्रस्तुत करने की बजाय वे उसे मूर्तिपूजा की ओर ले गये । यही कारण है कि उनके राज्य स्थायी नहीं रह सके । इसलिए लेखक समय समय पर चेतावनी के रूप में नैतिक उपदेशों के द्वारा सारी व्यवस्था को नियंत्रित करता रहता है । इस्राएली या यहूदी राजा-प्रजा के समाज में हमें भलाई-बुराई, धर्म-अधर्म, स्नेह-दाह, ईमानदारी-बेईमानी आदि के विभिन्न चित्र देखने को मिलते हैं । यही मानव समाज और राजनीति का चित्र है । मानवता की रंगशाला है, जिसके बीच ईश्वर अपना अलौकिक साम्राज्य स्थापित करता है । इस्राएल धर्म ग्रंथ के लेखक सर्वत्र ईश्वर को सूत्रधार के रूप में पाते हैं । वह समय-समय पर चेतावनी, दण्ड, पुरस्कार आदि द्वारा सारी व्यवस्था को नियंत्रित करता है ।

बैबिल में सामुएल ने इस्राएलियों से यह कहा था तुम्हारा ईश्वर तुम्हारा राजा है । बैबिल के रोमियों के नाम पत्र में ऐसा कहा गया है कि "प्रत्येक व्यक्ति अधिकारियों के अधीन रहे क्योंकि ऐसा कोई अधिकार नहीं, जो ईश्वर का दिया हुआ न हो । वर्तमान अधिकारियों की व्यवस्था ईश्वर

द्वारा की गयी है । फलत: वह शासन का विरोध करता है वह ईश्वर से विद्रोह करता है ।"[1]

बैबिल में येशु आदर्श राजा के रूप में चित्रित हुआ है । बैबिल के संत जोन रचित सुसमाचार में येशु संसार में आने का उद्देश्य प्रकट करता है । वह सत्य पर गवाही देने आया ।"[2] पीलातोस ने उनसे कहा "तुम राजा हो ? येशु ने उत्तर दिया - आप ठीक भी कहते हैं । मैं राजा हूँ । मैं इसलिए जन्मा और इसलिए संसार में आया हूँ कि सत्य के विषय में साक्ष्य दूँ । जो सत्य के पक्ष में है, वह मेरी सुनता है । परन्तु येशु ने स्पष्ट बताया कि उसका राज्य अस्त्र-शस्त्र और सैन्य बल पर नहीं, वरन् वह मनुष्यों के हृदय पर शासन है । येशु सत्य है । मनुष्य उसे चाहे स्वीकार करे या अस्वीकार करे ।

बैबिल में ज्ञानियों का ज्ञानी सोलमन राजा ने ईश्वर से इस प्रकार प्रार्थना की अपने इस सेवक को विवेक देने की कृपा करें, जिस से वह न्यायपूर्वक तेरी प्रजा का शासन करें और भला तथा बुरा पहचान सके ।"[3] उन्होंने ईश्वर की प्रतिक्रिया की मृदुल शब्द सुने । तुम ने अपने लिए न तो लम्बी आयु माँगी, न धन संपत्ति और न अपने शत्रुओं का विनाश । तुम ने न्याय करने का विवेक माँगा है । इसलिए मैं तुम्हारी इच्छा पूरा करूँगा । मैं तुम को ऐसी बुद्धि और ऐसा विवेक प्रदान करता हूँ कि तुम्हारे समान न तो पहले कभी कोई था और न बाद में कभी कोई होगा और जो तुम ने नहीं माँगा मैं वह भी तुम्हें दे देता हूँ, अर्थात् ऐसी धन संपत्ति तथा ऐसा ऐश्वर्य, जिस से कोई भी राज्य तुम्हारी बराबरी नहीं कर पायेगा और यदि तुम अपने पिता दावीद राजा की तरह मेरे नियमों तथा आदेशों का पालन करते हुए मेरे मार्ग पर चलोगे, तो मैं तुम्हें

---

1. बैबिल रोमि 13:1-2
2. बैबिल जोन 18:7
3. बैबिल 1 राजा 3:9

लम्बी आयु प्रदान करूँगा ।"[1] सोलमन का न्याय एवं विवेक तो बैबिल में प्रसिद्ध है ।

बैबिल के प्रवक्ता ग्रंथ में कहा गया है कि "प्रज्ञा संपन्न शासक अपनी प्रजा को शिक्षा देता है । समझदार व्यक्ति का शासन सुदृढ रहता है ।"[2] मूर्ख राजा अपनी प्रजा का विनाश करता है । नगरों की सुव्यवस्था उसके शासकों की समझदारी पर निर्भर है ।"[3] बैबिल के विधि-विवरण ग्रंथ के शासन संबंधी नियम में लिखा है कि शासकों को ईमानदारी से नीति करनी चाहिए - "तुम न्याय का दुःख भोग नहीं करोगे, पक्षपात नहीं करोगे और घूस नहीं लोगे, क्योंकि घूस समझदार लोगों को भी अन्धा बना देती है और धर्मियों का पक्ष निर्बल कर देती है । तुम न्याय के अनुसार ही निर्णय दोगे । ऐसा करने से तुम दीर्घायु होंगे और प्रभु तुम्हारा ईश्वर तुम्हें जो देश देनेवाला है, वह तुम्हारे अधिकार में रहेगा ।"[4]

प्रज्ञा ग्रंथ में राजाओं को उपदेश देते हैं - राजाओं सुनो और समझो । पृथ्वी भर के शासको ! शिक्षण ग्रहण करो । तुम जो बहुसंख्य लोगों पर अधिकार जताते हो और बहुत से राष्ट्रों का शासन करने पर गर्व करते हो, तुम्हें प्रभु ने प्रभुत्व प्रदान किया ।"[5] सर्वोच्च ईश्वर ने तुम्हें अधिकार दिया वही तुम्हारे कार्यों का लेखा लेगा और तुम्हारी विचारों की जाँच करेगा ।"[6] तुम उसके राज्य के सेवक मात्र हो ।"[7]

---

1. बैबिल । राजा 3:11-14.
2. बैबिल प्रवक्ता 10:1
3. वही, 10:2
4. बैबिल विधि 16
5. बैबिल प्रज्ञा 6 :12
6. वही, 6:3
7. वही, 6:4

श्रेष्ठ जीवन और आदर्श राज्य दोनों एक दूसरे पर आश्रित है । दोनों में नीर-क्षीर का संबंध है । आदर्श राज्य का मूल उद्देश्य नीति की स्थापना करना है । प्लेटो ने आदर्श राज्य में सत्य, आनन्द, शांति, सुरक्षण, मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति, नागरिकों का विकास, एकता तथा सामंजस्य आदि का मुख्य स्थान दिया है । बैबिल में हेरोदेस और पीलातोस अधर्मी शासक थे । वे ईश्वर हित के बदले अपनी इच्छा, सुखलालुपता, विलासिता, अभिमान आदि में ध्यान देते थे । बैबिल के प्रज्ञा ग्रंथों में शासकों को उपदेश देते हैं - पृथ्वी के शासकों न्याय से प्रेम रखो । शासकों । मैं तुम्हें शिक्षा देता हूँ, जिस से तुम प्रज्ञा प्राप्त करो और विनाश से बचे रहो । हेरोदेस और पीलातोस आदर्श राजा नहीं थे । लेकिन येशु धर्मी थे । अधर्म पर धर्म का विजय होता है ।

येशु के राज्य की शाश्वत आधारशिला, शांति, निस्वार्थ स्नेह, करुणा, दया, क्षमा, अहिंसा, परोपकार, दान, त्याग, तप, विनय, विवेक, नीति-न्याय, समता, सेवा, औचित्य, उदारता, निर्मलता, सरलता, धीरता, शत्रु-स्नेह, सत्य एवं ज्ञान है, जिन गुणों की प्रेरणा से राज्य के सारे विभागों का परिपालन उसी धर्म नीति से करते हैं । सत्यतः प्राण बलिदान द्वारा भी प्रजा पालन के कर्तव्य का निर्वाह करना राजनीति का आदर्श है । ईसा ने अपना जं बलि कर दिया । बैबिल ने उपदेश दिया है कि प्रजा को राजा का आदर कर चाहिए । बैबिल आदेश देता है कि "राजा का सम्मान करो ।"[1]

समाज और राज्य की एकता राजनीतिक निपुणता पर नि करती है । राज्य की एकता में ही राजनैतिक सफलता है । आदर्श राजनी सिद्धांत और व्यवहार पर आधृत है । जब राज्य में मनुष्य अपने अपने कर्तव्

---

1. बैबिल पत्रो 2:7

तथा धर्म का पालन करते हैं । तब नीति का आविर्भाव होता है, अर्थात् अपना कार्य करना ही नीति है । नीति का अर्थ स्वधर्म का पालन करना है । राज्य का निर्माण व्यक्तियों से होता है । बैबिल का कहना है कि राजा औचित्य और न्याय से शासन करें ।[1] समुन्द्र के आनन्द की वृद्धि का हेतु चन्द्रमा के समान, प्रजा के नेत्रों का आनन्द दायक राजा होता है ।

येशु के देश-काल में धर्म और राजनीति का अटूट संबंध था । एक ही समाज में एक व्यक्ति राजनीतिक और धार्मिक दोनों हो सकता है । ईसा को केवल धार्मिक बता देना ईसा की वास्तविक शिक्षाओं को नकारने की एक कुचेष्टा है, जान बूझकर कुछ लोगों ने उनके जन-नायक या राजा के रूप को विस्मृत किया है । ईसा राजा थें । राजनीतिज्ञ थें । युगीन समस्याओं से विह्वल और भविष्य द्रष्टा ईसा ने उसके निराकरण हेतु भरसक प्रयत्न किया है । ईसा ने अपने समय के सर्वहारा वर्ग का पक्ष ग्रहण करके उन्हें 'शोषण तंत्र' के मूल स्वरूप को समझाने की चेष्टा की । ईसा सच्चे अर्थों में एक राजनैतिक विद्रोही और जन नायक है । क्रान्तिकारी भविष्य द्रष्टा और गंभीर विचारक है । दो सहस्र वर्ष पूर्व उत्कट स्वांग एवं उद्घोषणा युक्त क्षणों में पीलातोस ने येशु को दण्ड देने का आग्रह लेकर आये समाज से उसे दिखाकर कहा था - देखो यह तुम्हारा राजा । पीलातोस ने उसकी निर्दोषिता के प्रति आश्वस्त रहते हुए भी उसे मृत्यु-दण्ड दिया । पीलातोस की राजनीति की दूरगामी परिणति रोमियों के शासन की समाप्ति हो तो थी । पीलातोस की पराजय का निमिष । पीलातोस भीड के समक्ष बराबास को जो डाकू है, या येशु को जो लोगों का शत्रु नहीं है छोडने का विकल्प रखता है पर भीड बराबास की मुक्ति चाहता है । पीलातोस की पत्नी ने वहाँ जो घटित हुआ उसके प्रति वितृष्णा से और दण्ड की माँग से व्यथित होकर यह कहते हुए मुँह फेर लिया कि अन्धकूप में पडी हुई जाति को एक नीतिनिष्ठ, धर्मी चिन्तक के मुकाबले में एक डाकू अधिक सगा

---

1. बैबिल प्रज्ञा 9:3.

प्रतीत होता है । नीतिनिष्ठ शासक चिन्तक, आनेवाली पीढ़ियों को युगों तक उद्वेलित करता रहता है । दिमाग में बीज की तरह पलता है । धर्म और अधर्म के बीच का संघर्ष । अन्त में धर्म की विजय होती है ।

मानस और बैबिल की राजनीति धर्म और नैतिकता पर आधारित थी । उस में सदाचार और सत्याचरण की प्रधानता थी । धर्म ही भारतीय जीवन का मूलतत्व रहा है । धर्म-विहीन राजनीति समाज में स्वार्थपरता, अर्थलोलुपता और भ्रष्टाचार फैलाती हैं । यदि राजनीतिक जीवन में पवित्रता लाना है, उसे भ्रष्टाचार से मुक्त करना है और सत्यनिष्ठा की प्रतिष्ठा करनी है, तो राजनीति और राजनीतिज्ञों को धर्म का आश्रय लेकर चलना होगा । अर्थात् धर्म मनुष्य को सत्य पर चलने के लिए प्रेरित करता है, मनुष्य को सच्चा मानव बनाने का प्रयत्न करता है, उसको निस्वार्थ सेवा और त्याग की शिक्षा देता है । दोनों ग्रंथों से यही सन्देश मिलते हैं । दोनों ग्रंथों में राजा को ईश्वर का अंश माना गया है, राजा के कर्तव्य और आचरण आदि समान रूप से वर्णन किया गया है ।

निष्कर्ष :-

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मानस और बैबिल ने नीति को आचरण का मूलाधार माना है । व्यवहार नीति, आर्थिक नीति और राजनीति के निरूपण में सदाचार की पवित्रता और लोकहित की भावना ही सर्वत्र अनुस्यूत है । व्यवहार नीति के माध्यम से दोनों ग्रंथ समान रूप से चारित्रि जीवन मूल्यों के साथ कर्तव्य भावना और आदर्शों की स्थापना के महत् उद्देश्य की सिद्धि चाहते हैं । नीति और सदाचार के लिए जिन-जिन गुणों की अपेक्षा होती है, और मानवोचित गुणों का विकास तथा कर्तव्यों का निर्वाह लक्षित होनेवाले कई उपदेश और उपमाएँ दोनों ग्रंथों में प्राप्त होती हैं । ये उपदेश

मन में सदा सुविचार जगाने के लिए पर्याप्त हैं । ये सफल, समुन्नत, जीवन का सोपान है । आर्थिक नीति के अंतर्गत धन की अनिवार्यता, जीवन में उसका उपयोग, धन का संग्रह, दानशीलता, धन का सदुपयोग आदि का विवेचन किया गया है । राजनीति में शासन के अधिकारों, राजा के कर्तव्यों, गुणों एवं दायित्वों का संकेत मिलता है । लोकमंगल की भावना को लक्ष्य में रखकर वे राजा और प्रजा के आचरण का नियमन करती है । मानस और बैबिल में व्यावहारिक, आर्थिक, राजनीतिक आदर्शों में बहुत समानता है । जीवन के सुनहले प्रभात से लेकर धूमिल सन्ध्या तक नैतिक जीवन बिताने का अमृतमय सन्देश दोनों ग्रंथों से प्राप्त होते हैं ।

तुलसी का मानस नीति और उपदेश प्रधान है । उन्होंने उपदेशात्मक शैली में धर्म और आचार से संबंधित दोहों और छन्दों का प्रयोग किया । हिन्दी काव्य के इतिहास के विकास के विभिन्न युगों में नीतिपरक काव्य की जिस परंपरा का विकास हुआ है, उस में योगदान की दृष्टि से सर्व-प्रथम तुलसीदास का नाम लिया जा सकता है, जो आदर्श के कवि हैं । उनका उपदेश नीति प्रधान है जो जन जीवन का पथ निर्देश करनेवाला है । तुलसी की नीति काव्य की दूसरी मौलिक देन सामाजिक आदर्श और वर्णाश्रम धर्म हैं । उन्होंने मध्यकालीन जडता को स्वीकार नहीं किया । वे भौतिक प्रगति, प्रवृत्ति निष्ठा, धर्माचरण आदि के द्वारा लोक सेवा इत्यादि को वर्णाश्रम धर्म के द्वारा समझाते हैं । बैबिल भी धार्मिक और नैतिक मूल्यों के प्रतिपादन में सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ माना जाता है ।

उपसंहार

मानव-समाज की मूलभूत एकता :-

आज का मानव समाज भौतिक सुख-भोगों के पीछे अंधा धुंध भाग-दौड में लगा हुआ है । जीवन की विविध सामग्री अर्जित करने के लिए मानव अत्यन्त व्याकुल है । साथ-साथ मनुष्य यह भी देख रहा है कि इस भाग-दौड के कारण वह मानवीय मूल्यों को खोता जा रहा है । इस से निरन्तर अशान्त रहनेवाला मानव, जब इन सब से वास्तविक आनन्द न पाकर, एक विपन्न दशा में पहुँचेगा, तब शायद आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति आकृष्ट होगा । मूल्यों का मानव-जीवन में विशिष्ट स्थान है । उनका कार्य व्यक्तियों को सामाजिक जीवन के लिए आदर्श रूप में प्रस्तुत करना है । संसार की सृष्टि का आधार ही आनन्दानुभूति रहा है । सुखमय जीवन व्यतीत करने की अभिलाषा हर व्यक्ति में निहित पायी जाती है । सफल एवं सार्थक जीवन की आधारशिला नीतिप्रद, संयमशील, धर्मनिष्ठ सामाजिक जीवन है । मानस और बैबिल का विश्लेषणात्मक अध्ययन चिन्तन,सामाजिक जीवन एवं साधना आदि के क्षेत्र की एक महत्वपूर्ण कडी है, जिस से आज भी आस्था को प्रबल बनाने की प्रेरणा मिलती है, जो आज के संगणक युग में, मनुष्य की भौतिक लालसाओं की मर्यादा को सूचित करते हुए मनुष्य को शाश्वत मंगल की चेतना प्रदान करती है, ये साहित्य शाश्वत आनन्द की, आत्मोद्धार की प्रेरणा देते हैं । परस्पर अलगाव और व्यक्ति केन्द्रीयता के परिवेश में दोनों ग्रंथों के विचार मानवता का सन्देश देते हैं ।

हिन्दी साहित्य का अतुलनीय महाकाव्य और सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ रामचरितमानस संसार की महानतम साहित्यिक, उपलब्धियों में एक है । भारतीय साहित्य में रामायण एवं महाभारत, पाश्चात्य साहित्य में इलियड और ओडिसी तथा फारसी साहित्य में शाहनामा जैसे कुछ थोडे से महाकाव्य ही रामचरितमानस की समता कर सकते हैं । मानस संसार के दस सर्वश्रेष्ठ ग्रंथों में एक है । लोक-प्रियता की दृष्टि से इसका स्थान बैबिल के समकक्ष है, विश्व भर में दो में एक ।

बैबिल यहूदियों और ईसाइयों का धर्म ग्रंथ है । वह मानव जाति की प्राचीनतम और महानतम साहित्यिक उपलब्धि है । बैबिल के आयाम बहुत व्यापक हैं, जिन से मानव जाति के जीवन के अनेकानेक धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक प्रभृति पक्षों पर चिरन्तन प्रकाश पड़ा है । इसका प्राचीन भाग यहूदी जाति का महान इतिहास प्रस्तुत करता है । बैबिल में अनेक महान नियम एवं उपदेश प्राप्त होते हैं, जिन्होंने मानवता के निर्माण में योगदान किया है । ऋग्वेद, बैबिल, इलियड, ओडिसी और कुरान संसार भर के साहित्य के आधार ग्रंथ हैं । इनका प्रभाव अपार रहा है, और रहेगा । बैबिल धर्मग्रंथ होते हुए भी धार्मिक मंडलियों की सीमा तोड़कर जन-जन का कण्ठहार बन गया है ।

मानस और बैबिल दोनों आदर्श ग्रंथ हैं । उनकी सामाजिक संरचना निरपेक्ष और शाश्वत है । प्रत्येक परिस्थिति में उनके मूल्य अपरिवर्तनीय एवं विश्वसनीय है । इसका प्रमाण उनका व्यापक जीवन है । आधुनिक युग में और आगत युग में मानस और बैबिल का सामाजिक पक्ष संजीवनी का कार्य करता रहेगा । क्या करना चाहिए ? इस तथ्य का उद्घाटन दोनों ग्रंथों में हुआ है । जिन में त्याग एवं विश्वमंगल की भावना निहित है ।

मानस और बैबिल में केवल भक्ति या काव्य पक्ष का ही वर्णन नहीं अपितु व्यक्ति और समाज का संबंध, सामाजिक आदर्श, पारिवारिक आदर्श, धार्मिक आदर्श और राजनैतिक विचारधारा एवं समाज के उत्कर्ष और अपकर्ष का विवरण भी उपलब्ध है । मानस और बैबिल का उद्देश्य एक आदर्श परिवार और आदर्श समाज के निर्माण में सहयोग देना है जिसका मेरुदण्ड त्याग, सत्य, प्रेम और मंगलकामना है ।

भिन्न कालों एवं भिन्न राज्यों में विद्यमान होने के कारण संत तुलसी एवं बैबिल लेखकों के परिवेश एवं युगीन स्थितियों में विभिन्नता

परिलक्षित होती है । बैबिल मानस के सदृश एक समय और एक व्यक्ति की कृति नहीं है, फिर भी उस में इस प्रकार के विषय और भाव निहित हैं जो एक श्रृंखला का काम करते हैं । यह अपने में एक मूल्यवान आचार संहिता है । मानव एक है, मानवता एक है, मानवता का काव्य भी एक है । यही है रामचरितमानस और बैबिल ।

मानस कालीन और बैबिल कालीन पृष्ठभूमि में सामाजिक परिवेश में निष्क्रियता, आलस्य, जाति-वर्णादि भेद, उपभेदों की संकीर्णता और भोगविलास की प्रवृत्ति विद्यमान थी । धार्मिक क्षेत्र में अनेक मत मतान्तरों की विद्यमानता के कारण संभ्रमित जनसाधारण में बहुदेवोपासना और पाखण्ड का साम्राज्य था ।

यहूदी या इस्राएली राज वंशों में और पुरोहित वंशों में प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष, रक्तपात, तथा हत्याएँ पायी जाती हैं । इसकी तुलना में तुलसी के काल में भारत में विदेशी शासन स्थिर हो चुका था । जन साधारण पर अन्याय और उनका शोषण इस काल की राजनीतिक व्यवस्था के परिचायक थे । विदेशी शासन के सामने स्वदेशी रियासतों के शासक दुर्बल और स्वाभिमानहीन थे । निराश्रित और सभी प्रकार से पीड़ित जनता हाहाकारपूर्ण जीवन जी रही थी ।

मानस एवं बैबिल के अध्ययन से दो भिन्नकालिक तथा भिन्न-भिन्न भाषानुयायी लेखकों की भावनाओं, आदर्शों एवं ईश्वर विश्वासों का एक साथ साक्षात्कार करते हैं, जिनके प्रतिपाद्य और विषय में कई समानताएँ हैं । मानस और बैबिल में अनेक समानताएँ विद्यमान हैं ।

मानस और बैबिल के सामाजिक आदर्श अपने मूल रूप में समान भावनाओं से पूर्ण हैं । विषमताओं के होते हुए भी इन में समानताएँ अधिक मिलती हैं । मानस और बैबिल की सामाजिक विचार-धारा ने परिवार के सदस्यों का कर्तव्य, स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य का धर्म आदि पर यथेष्ट प्रकाश डाला है । इन में भावसाम्य भी मिलता है । तुलसी ने वर्णाश्रम व्यवस्था का विस्तृत वर्णन किया है । वे वर्णाश्रम धर्म में विश्वास भी रखते थे । लेकिन उनके लिए वर्णाश्रम व्यवस्था उतना ही स्वीकार्य थी जहाँ तक मानव के धर्मों को निभाने में सहायक थी । वे व्यक्ति को जन्म से नहीं कर्म से ही महान मानते थे । (उच्चवंश में जन्म लेकर भी) व्यक्ति का व्यवहार अधर्माश्रित रहता है तो तुलसी उसका घोर विरोध करते थे । व्यवहार में व्यक्ति को किस प्रकार का संपर्क स्थापित करना चाहिए, इसके औचित्य और अनौचित्य को ध्यान में रखकर अपने जीवनानुभवों के द्वारा सिद्धवाणी के कलाकार तुलसी ने वर्णाश्रम का निरूपण किया । यहाँ आकर तुलसी के विचार बैबिल के विचारों से मिलते हैं । बैबिल में भी व्यक्ति के व्यवहार से संबंधित नियम रखे गये हैं जिनके पालन से उसे धर्माचरण में खूब सहायता मिलती है । वर्णाश्रम व्यवस्था बैबिल में नहीं है, वह भारतीय परंपरा की देन है । लेकिन बैबिल में वर्ग व्यवस्था चित्रित मिलती है । प्राचीन पश्चिम एशियाई समाज का वर्णन जो बैबिल में मिलता है वहाँ कर्म के अनुसार जनता का विभिन्न वर्गों में विभाजन मिलता है । तुलसी के मानस में वर्णाश्रम की चारों अवस्थाओं में प्रतिपादित गृहस्थाश्रम के अन्तर्गत परिवार एवं अन्य संबंधों को चित्रित करनेवाले आदर्श के रूप बैबिल के विचारों से खूब मिलते हैं ।

परिवार में पति-पत्नी के धर्म को अंकित करनेवाले कई समान उपदेश दोनों ग्रंथों में मिलते हैं । नारी धर्म से संबंधित मानस और बैबिल के विचार काफी मात्रा में समानता लिए हुए हैं । केवल यही अन्तर है कि बैबिल में नारी-धर्म के साथ-साथ पुरुष के धर्म को भी स्पष्ट रूप में अंकित किया गया है

हाँ मानस में यह प्रत्यक्ष रूप में नहीं मिल सकता । राम का भ्रातृ प्रेम, राना नियम के पूर्व जोसफ के भ्रातृ प्रेम की स्मृति दिलाता है । कैकेयी के द्वारा न भेजे जाने पर भी राम भरत से स्नेह करते हैं । जोसफ अपने भाइयों के द्वारा वेदेशियों को छोड जाने पर भी अपने भाइयों से प्रेम करते हैं ।

मानस राम, लक्ष्मण, भरत, सीता इत्यादि के आदर्श प्रस्तुत रता है और बैबिल मोसस, अब्राहम, पूर्व जोसफ, दावीद, जोसफ, मरियम, येशु ादि के । मानस के राम और बैबिल के येशु आदर्श मानवीय मूल्यों की कसौटी र अधिक खरे उतरते हैं । ईसा और राम पूर्ण मनुष्यत्व के प्रतीक हैं । येशु और ाम में कोमलता का सरसता, शान्तता और मर्यादा का, अच्छाई और औचित्य ा, प्रेम और करूणा का जो अतुलनीय समन्वय प्राप्त होता है । बैबिल में सीता ी समता करनेवाली त्याग और विनय की मूर्ति है मरियम । दोनों में तप या ष्ट सहिष्णुता की अपार शक्ति दिखाई देती है । पुराना नियम में अब्राहम मृ से निकलकर संघर्षपूर्ण जीवन बिताकर महान् बने थे । राम का जीवन उनसे ी कठिन परिस्थितियों में बढता है । मूशा का नियम कठोर है । यही बिल में चित्रित है । लेकिन मानस में भी नियम का विधान है वह उतना कठोर हीं है, फिर भी नियम तो है ही । मानस तथा बैबिल दोनों विधि निषेध र ज़ोर देते हैं ।

जहाँ तक धर्म का प्रश्न है मानस एवं बैबिल एक मत है । ोनों में विचारों का आन्तरिक ऐक्य दर्शनीय है । जैसे, "जगत् प्रकास्य प्रकासक ामू । सब कर परम प्रकासक जोई ।।" आदि में ईश्वर के प्रकाशमान रूप की ओर ंेत मिलता है ठीक उसी भाव को बैबिल में "मैं संसार की ज्योति हूँ, प्रभात ा उज्ज्वल तारा हूँ" आदि व्यक्त करते हैं । दोनों ग्रंथों में ईश्वर के सगुण नर्गुण दोनों रूपों का चित्रण मिलता है । बाह्याचारों और धार्मिक आडम्बरों

ा दोनों ग्रंथ विरोध करते हैं । मानस पुनर्जन्म पर विश्वास करता है तो बिल पुनरुत्थान की बात करता है । दोनों कर्मफल में विश्वास करते हैं । अच्छे र्मों का फल अच्छा होता है और बुरे कर्मों का बुरा । दोनों ग्रंथों की सूक्तियाँ नुष्य को भलाई बुराई को समझने का विवेक प्रदान करती हैं । कर्म फल से त्पन्न पाप-पुण्य पर भी दोनों ग्रंथों में विचार मिलते हैं । दोनों में चित्रित वचारों का आन्तरिक भाव यही है कि पवित्र, मन, वचन और कर्म ही मनुष्य ो मनुष्य बनाता है और उसे ईश्वर के निकट पहुँचा देता है । भक्ति के लिए ही अनिवार्य है । दोनों ग्रंथों में भक्तिमार्ग के महत्व को अंकित करनेवाले उपदेश ाप्त होते हैं । दोनों भक्ति ग्रंथ हैं । दोनों अपनी-अपनी विचारधारा का तिनिधित्व करते हैं, तो दोनों की तुलना करना असंगत नहीं है । यह सही है े कलियुग जैसी कल्पना का ईसाई दृष्टिकोण में अभाव है । दूसरी ओर आदि ाप के धर्म के सिद्धांत के अनुसार वर्तमान युग को विकृत और मानव जाति को ातित माना जाता है । फलत: सांसारिक स्थिति पर दोनों का दृष्टिकोण लत: सदृश जान पड़ता है । ईसाई दृष्टि से पतन के बावजूद भी शारीरिक, ौतिक या दैहिक मूल्यों का महत्व बना रहता है । उसी तरह संत तुलसी भी ानुष "शरीर" या स्थिति को "सुर-दुरलभ" कहते हैं । तुलसीदास मनुष्य शरीर ो इसलिए सुरदुर्लभ कहते हैं कि वह शरीर धारण करके परोपकार में रत रह सकता "परहित सरिस धर्म नहिं भाई ।" तुलसी का यह कथन ईसा के "स्वर्ण नियम" प्रतिध्वनित होता है ।"परोपकार करना और उदारता दिखाने से दूर न रहे "।

नाम की महिमा दोनों ग्रंथों में समान रूप से मिलती है । लसी के राम ब्रह्म, विष्णु और महेश के रूप हैं । बैबिल में भी नाम की गरिमा र उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है - येशु, पिता, पुत्र, पवित्रात्मा रूप हैं धन्य है प्रभु का नाम, जो प्रभु के नाम की दुहाई देगा वह बचेगा, भु का नाम ही हमारा सहारा है आदि इसके प्रमाण हैं । नाम का जप

करनेवाला व्यक्ति सहज ही पाप से छुटकारा पाता है और नित्य मुक्ति प्राप्त कर लेता है । भजन, भक्ति को सुदृढ बनाता है । दोनों ग्रंथों में भजन के महत्व को चित्रित किया है -

जासु त्रास डर कहुँ डर होई । भजन प्रभाव देखावत सोई ।

जहाँ मानस में भजन के प्रभाव से स्वयं डर को डरते हुए दिखाया गया है वहाँ बैबिल कहता है मनुष्य को सदा भजन करना चाहिए । भजन गाते हुए ईश्वर को धन्य कहना चाहिए ।

नीति संबंधी चिन्ता-धारा मानस और बैबिल में एक समान मिलती है । दोनों के बाह्य कलेवर और आन्तरिक विचारों में ऐक्य भाव विद्यमान है । दोनों ग्रंथों में जीवन मूल्यों पर बल मिलता है । दोनों ग्रंथ कट्टर मूल्यवाद को दिखाते हैं । नैतिक सूक्तियाँ जीवन और जगत् को मंगलोन्मुखी बनाने के उद्देश्य से लिखी गयी हैं और अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं । मानसिक, वाचिक, और आचरण परक संस्कार-परिष्कार की व्यक्तिगत एवं सामाजिक योजना भी इन उपदेशों में क्रियान्वित मिलती है । मन, वचन और कर्म की दृष्टि से जो शुभ और सत् है उसे अपनाने की प्रेरणा दोनों की सूक्तियाँ समान रूप से देती हैं । वैसे ही अशुभ एवं असत् कर्मों के त्याग का उपदेश भी देती हैं । दोनों में नैतिक आचरण को मधुर, सरस, सुन्दर तथा मंगल प्रदान करनेवाला माना गया है ।

दार्शनिक विचार-धारा मानस एवं बैबिल की महान उपलब्धि है । इनमें कहीं कहीं समानताएँ मिलती हैं तो कहीं भिन्नताएँ भी दर्शित होती हैं । मानव जीवन के उद्धार की सभी संभावनाओं को उजागर करना मानस और बैबिल का नितान्त लक्ष्य है । दोनों ग्रंथों के दर्शन सात्विक जीवन जीने की प्रबल प्रेरणा देते हैं । दोनों में मानवतावादी जीवन दर्शन प्रस्तुत है । जीवन्मुक्ति भक्ति से जुड़ी है । दोनों ग्रंथों में सिद्धांत और व्यवहार की अन्त:संगति और अन्विति का अन्वेषण है, मन, वचन और कर्म की सदाचारमूलक एकता की खोज है

दोनों ग्रंथों का विश्लेषण सूक्ष्म रूप से किया जाय तो मानस में जीवात्मा और परमात्मा में ईश्वर प्राप्ति के बाद कोई भेद नहीं । लेकिन बैबिल के अनुसार जीवात्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है फिर भी उसका अस्तित्व अलग है ।

मानस नाना आयामी कृति है बैबिल भी नाना आयामी कृति है । मानस में अनेक गीताएँ हैं, बैबिल में भी । मानस में अनेक कथाएँ हैं, बैबिल में भी अनेक कथाएँ हैं । मानस में अनेक स्तोत्र हैं, बैबिल में भी अनेक स्तोत्र है । बैबिल अनेक नबियों का परिचय कराती है, मानस अनेक ऋषियों का परिचय कराता है । बैबिल का लक्ष्य मानव समाज की रक्षा और मानव मूल्यों का उत्कर्ष है, मानस का भी लक्ष्य मानव मूल्यों का उत्कर्ष है ।

मानस और बैबिल में अभिव्यक्ति और विषय में भिन्नता रहते हुए भी कई जगहों पर भावगत साम्य के दर्शन होते हैं । दोनों ग्रंथों में भिन्न भिन्न समाजों एवं संस्कृतियों का चित्रण होने पर भी कई सामाजिक और धार्मिक मूल्य एक जैसे चित्रित मिलते हैं । आज के संसार में विशेषकर मूल्यों के शोषण के इस संदर्भ में मानस एवं बैबिल में चित्रित नैतिक मूल्यों का महत्त्व रहा है ।

धर्म मनुष्य हृदय की अत्यन्त उच्च, उदात्त, पुनीत एवं पवित्र भावना है । धार्मिक भावना से मनुष्य में सात्त्विक प्रवृत्तियों का जन्म होता है, परोपकार, समाज सेवा, सहयोग तथा सहानुभूति की भावना उत्पन्न होती है । मानस और बैबिल में धर्म का व्यापक अर्थ में सफल नियोजन हुआ है । उन दोनों के अनुसार धर्म विश्व जीवन का प्राण और तेज है । मीमांसकों का मत है "वेदाज्ञा पालन ही धर्म है, धर्म की वृद्धि से सभी प्राणियों की वृद्धि होती है तथा उसके ह्रास से सबका ह्रास हो जाता है । धर्म का नाश सर्वनाश का द्योतक है और उसकी रक्षा सर्वोन्नति का सोपान है । धर्म के मार्ग का काम, लोभ

शत्रुता आदि मुख्य बाधाएँ हैं । मनुष्य धार्मिक प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर इन सब बाधाओं से अपने को दूर रखते हुए कष्टों को झेलते हुए सत्य के मार्ग का अनुसरण करता है भारतीय संस्कृति का मूलमंत्र पुरुषार्थों का मंजुल संतुलन है और उस मंत्र का मूल वाच्य धर्म ही है क्योंकि उसी से अर्थ, काम और मोक्ष या आत्म-कल्याण की साधना की जाती है । विश्व समाज की प्रतिष्ठा धर्म से है तथा वह परम पुरुषार्थ है । वह ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों में से किसी एक द्वारा या इनके सामंजस्य द्वारा ईश्वर की प्राप्ति की कामना करता है । मानव वृत्तियों में सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार ये मानव जीवन को सफल बनाते हैं । मानस और बैबिल की सूक्तियों में इन तत्वों का सफल नियोजन हुआ है । वेद, धर्मग्रंथ, शास्त्र और पुराणों में कहा गया है, कि सत्य के समान कोई अन्य धर्म नहीं है । मानस और बैबिल में सत्य संबंधी विचार मिलते हैं । उन में व्यक्ति के सत्य बोलने एवं सदाचरण करने पर बल दिया गया है । व्यक्ति, मनसा, वाचा कर्मणा सत्य का अनुवर्तन करे क्योंकि सत्य सभी सुकृतों की जड है । "सत्य मूल सब सुकृत सुहाए ।" सुसमाचार कहता है कि "सत्य तुम्हें स्वतंत्र बना देगा ।" सत्यवादी का कथन सदा बना रहता है । सत्य सब पापों से मुक्त करेगा । वैसे ही अहिंसा को भी परम धर्म के रूप में स्वीकार किया है । दूसरों को अपने स्वार्थ के लिए पीडित करना या मारना हिंसा है । "अहिंसा परमो धर्मः के सिद्धांत की पुष्टि मानस में स्थान स्थान पर की गयी है । बैबिल में सुप्रधान नियम में पाँचवीं आज्ञा है "हत्या मत करो ।"

दया मानव को मानव बना देती है । दया के समान अन्य धर्म नहीं । "धर्म की दया सरिस हरि जाना ।" बैबिल कहता है "जो दरिद्र से दया करता है, वह धन्य है ।" दया का अभाव भी हिंसा को जन्म देता है । मानस और बैबिल दया के महत्व का प्रतिपादन करते हैं । परोपकार के समान कोई धर्म नहीं है तथा दूसरों को दुःख पहूँचाने के समान कोई नीच कर्म या पाप नहीं है । जिनके मन में दूसरों का हित बसता है उनके लिए इस संसार में कुछ भी

दुर्लभ नहीं है ।
"परहित बस जिन्ह के मन माही । तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कुछ नाही ।
परोपकारी सदैव विनयशील होते हैं । वे परम धर्म के अधिकारी और लोक में प्रशंसनीय है "श्रुति कह परम धरम उपकारा ।"

सत्य, अहिंसा, दया और परोपकार की भावना जब विकसित होगी, तब मानवता की भावना का विकास होगा । मानवता की भावना का अभाव ही सामाजिक विनाश का कारण है ।

आज मानव मानव से विरोध करता रहा है । ऐसे संदर्भ में मानव को मानव के निकट लाना, उनमें एकता का भाव उत्पन्न करना, नितान्त अनिवार्य बन गया है । आज मानव और विश्व का भविष्य खतरे में है । विश्व में सांप्रदायिक भेद-भाव, तनाव और हिंसा व्यापक स्तर पर बनी हुई है । आज यह समस्या बड़ा ही गंभीर रूप ले चुकी है । आत्मा की श्रेष्ठता में विश्वास करनेवाले हमारे लोग पीढ़ी दर पीढ़ी सैकड़ों वर्षों के अथक प्रयास और परिश्रम से जिन नैतिक मूल्यों को सुरक्षित रखते आये हैं , आज वे सभी प्रकार से कुचले जा रहे हैं । ऐसी हालत में हमारी अन्तश्चेतनाओं को अपनी भूमिका अदा करनी होगी । आज धर्म और अधर्म के बीच जो संघर्ष छिड़ा हुआ है उस से बचने के लिए लोगों को आन्तरिक चेतना को सजग करना होगा । नैतिक मूल्यों का विकास करना होगा । भौतिक दुःखों के ऊपर आत्मा की श्रेष्ठता की प्रतिष्ठा करनी होगी । यह मानस एवं बैबिल में चित्रित नैतिक मूल्यों के अनुवर्तन से सफलता के साथ संपन्न किया जा सकता है । आज के सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में एकात्मकता की दिशा में मानस और बैबिल प्रेरक एवं प्रोत्साहक हैं । इन मूल्यों के विकास के साथ-साथ व्यक्ति में समष्टि की रक्षा करने की नई चेतना जाग उठेगी ।

सभी मनुष्यों का भ्रातृत्व मानने पर भी तथाकथित ईसाई
ओं के इतिहास में सामाजिक अन्याय का अभाव नहीं था । इस शोचनीय सत्य
बावजूद मानस का भक्ति मार्ग और बैबिल का ईसा-मार्ग दोनों मानव एकता
ौर समता का आदर्श अपनाकर, सही अर्थ में प्रेम-मार्ग कहलाये जा सकते हैं ।
क्ति आन्दोलन के संत तुलसीदास और अन्य संत गुरूजनों की भाँति ईसा मसीह
ी अपने काल में प्रचलित सामाजिक कर्मकाण्ड की आलोचना किया करते थे ।
ांतिक दृष्टि से नहीं, तो व्यावहारिक दृष्टि से संत तुलसी का झुकाव एकेश्वरवाद
ी ओर है । तुलसी मत में अनेकेश्वरवाद का आभास मात्र है, बैबिल में उसका
ामात्र भी नहीं है ।

तुलसी का भक्तिमार्ग और येशु का प्रेममार्ग अपने में भिन्न न
ोकर एक ही है । क्योंकि भक्ति में प्रेम रहता है । वह प्रेम-स्वरूपा है ।
ाचात्ताप पापों का हर्ता है । मानव का पापमय स्वभाव और पश्चात्ताप प्राय:
साई धर्म की विशेषता माना जाता है । तुलसी भी भोग विषयों द्वारा आकर्षित
ोने का अनुभव करते हैं, ठीक वैसे ही ईसाई साधक पतन के दुष्फल से प्रभावित
। पापी मनुष्य को संसार से मुक्त करना या रक्षा करना येशु का गौरव है ।
ीक उसी तरह तुलसी भी पापी की मुक्ति श्रीराम का गौरव बताते हैं । येशु
ापने को "भला गडेरिया" कहते हैं जो भटकी हुई भेड की खोज में निकलता है ।

रामभक्त और येशु भक्त, दोनों अपने को पाप-रोग से ग्रस्त
र ईश्वर को क्षमाशील मानते हैं । दोनों ईश्वर से पाप-क्षमा के लिए दैन्य
िवेदन करते हैं, अन्तगति-प्रतीक्षा की दृष्टि से भी दोनों समान रूप से ईश्वर
अपना एकमात्र भरोसा रखते हैं । जीवन भर वही उनका एकमात्र समाश्रय
ा, तो अन्तकाल में भी वैसा ही बना रहेगा । तुलसी का बिना थके हठपूर्वक
वर के द्वार पर बैठा रहना ईसा मसीह के कथन के अनुकूल है, खट-खटाओ और
ुम्हारे लिए खोला जाएगा ।

मानस एवं बैबिल ने भक्ति एवं प्रेम के क्षेत्र में कर्म का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है । भक्ति और प्रेम का संबंध धर्म और नीति से है । उनके द्वारा प्रतिपादित भक्ति एवं प्रेम मानवी-मन का उदात्तीकरण करनेवाली मानवता का प्रसारक-प्रचारक है । अंतरंग की शुद्धता, सदाचार, अनन्यता, सर्व-समानता, निष्काम, लोकमंगल के कर्म, सब के प्रति, चराचर के प्रति विशुद्ध प्रेम-भाव, सभी मानव समाज का रक्षण, खण्डित व्यक्तित्व में आत्मबल निर्माण करना, आत्मविश्वास अहंकार, शून्यता, विनय, दैन्य, सर्वस्व समर्पण आदि से मानव मानव के निकट पहुँचने का आह्वान दोनों ग्रंथ देते हैं । दोनों ग्रंथों ने अपनी वाणी से समाज को संबोधित किया था जो आज के संगणक युग में, मनुष्य की भौतिक लालसाओं की मर्यादा को सूचित करते हुए मनुष्य को शाश्वत मंगल की चेतना प्रदान करती है । दोनों ग्रंथ आत्मान्वेषण के आत्मोद्धार के प्रेरक हैं । परस्पर अलगाव और व्यक्ति प्रमुखता के परिवेश में दोनों ग्रंथों के विचार मानवता का सन्देश देते हैं ।

सामान्य धर्म, देशकाल, परिवेश, जाति, अवस्था, वर्ग तथा लिंग आदि के भेद भाव के बिना सब लोगों के लिए समान रूप से स्वीकार्य हैं । समग्र मानव जाति के लिए कल्याण प्रद एवं अनुकरणीय इस सामान्य धर्म की चर्चा मानस एवं बैबिल में मिलती है । वेद, धर्मग्रंथ, शास्त्र, मानस और बैबिल में मिलनेवाले धर्माचरण की प्रेरणा निस्सन्देह आज के युग में व्यक्ति के मानसिक धरातल को धर्म का आधार प्रदान कर देगी । मानव जब व्यक्ति-धर्म का अनुसरण करेगा तो आपसी वैर मिट जायेगा । मानव का ऐसा व्यवहार एकता के नये द्वार खोल देगा । मानस और बैबिल के सामाजिक, धार्मिक और नैतिक आदर्श इसी लक्ष्य को पूर्ण करने में समर्थ हैं ।

आज हम इस सच्चाई को अनदेखा नहीं कर सकते हैं कि संसार ऐसी अनेक परिस्थितियाँ हैं जिनके कारण विभिन्न धर्म, समाज परस्पर संघर्ष उलझे हुए हैं । आज विभिन्न धर्मों में रूढ़िवादी और कभी कभी हिंसात्मक

अभिव्यक्ति हुई है । जिस से सदियों से शान्ति से रहनेवाले समाज का जीवन अस्तव्यस्त हुआ है । हमें इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि सिद्धांत और सिद्धांत के व्यवहार में भारी अन्तर होता है । धर्मशास्त्र में सुरक्षित आदर्श सदा ही उनके अनुयायियों के प्रतिदिन के जीवन में साकार नहीं होते । उन लोगों को भी, जिनके मन में अन्य धर्मों के कुछ पक्षों के संबंध में उचित शंकाएँ हैं, उन धर्मों को माननेवालों के जीवन में कुछ मूल्यवान है, उसे स्वीकार करना और उस से अपनी मान्यताओं को संबंधित करना होगा । अन्य धर्मों के माननेवालों के साथ सकारात्मक संबंध स्थापित करना होगा और साथ साथ रहकर भाई-चारे की भावना विकसित करनी होगी । मानस और बैबिल में प्रतिपादित तत्वों का सही मूल्यांकन इस लक्ष्य को सिद्ध कर सकता है ।

मानस और बैबिल में आनन्द और मंगल का, शान्ति और प्रेम का, स्वान्त: सुख और लोकहित का अद्भुत सन्देश और समन्वय है । परहित सब से बडा धर्म है । धार्मिक ग्रंथ चाहे वे किसी भी धर्म के हों, समान शिक्षा ही देते हैं, परस्पर विरोधी नहीं । हमारा कल्याण सच्चे मार्ग पर चलने से होता है । बैबिल और मानस के अनुसार नैतिक मूल्यों एवं धार्मिक निष्ठाओं के अनुकथनों और अनुकरणों द्वारा व्यक्ति को आपस में प्यार करने की प्रेरणा प्राप्त होती है । व्यक्ति को एक दूसरे का आदर करने की शिक्षा प्राप्त होती है । ईश्वर एक है । मानव सब उसकी सन्तान हैं, आपस में भाई-भाई हैं । यही मानस और बैबिल का सन्देश है ।

"सर्वे सुखिन: सन्तु सर्वे सन्तु निरामया: ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दु:खभाग्भवेत् ।"

संदर्भ ग्रंथ सूची

संस्कृत ग्रंथ

1. अथर्ववेद
2. उपनिषद्
3. ऋग्वेद
4. भगवद् गीता
5. भगवतमहापुराणम्
6. मनुस्मृति
7. महाभारत
8. वाचस्पत्यम्
9. शब्दकल्पद्रुमम्
10. सामवेद

हिन्दी ग्रंथ

1. रामचरितमानस - गोस्वामी तुलसीदास
   गीता प्रेस, गोरखपुर
   अठतीसवाँ संस्करण ।

2. पवित्र बैबिल - अनु. वाल्द बुल्के व फा. डा. कामिल बुल्के
   हिन्दी साहित्य समिति
   इलाहाबाद, 1986.

3. नया विधान - अनु. फा. डा. कामिल बुल्के एस. जे.
   सत्यभारती
   राँची, प्र. सं. 1986.

आलोचनात्मक ग्रंथ

1. ईसा चरित - जोली. एस. जे.
अनु. रामचन्द्र वर्मा
अनुपम बुक्स, दिल्ली, प्र. सं. 1986.

2. ईशावास्योपनिषद् - श्री अरविन्द
श्री अरविन्द सोसाइटी
पांडियेरी, प्र. सं. 1991.

3. कठोपनिषद् - श्री सत्यदेव शास्त्री
साहित्य निकेतन
कानपुर, प्र. सं. 1981.

4. गोस्वामी तुलसीदास - रामचन्द्र शुक्ल
नागरी प्रचारिणी सभा
काशी, अष्टम संस्करण

5. गोस्वामी तुलसीदास व्यक्तित्व दर्शन साहित्य - डा. रामदत्त भरद्वाज
भारती साहित्य मन्दिर
दिल्ली, 1992.

6. तुलसी आधुनिक वातायन से - डा. रमेश कुन्तल मेघ
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

7. तुलसी के अध्ययन की नई दिशाएँ - रामप्रसाद मिश्र
भारतीय ग्रंथ निकेतन
दिल्ली, प्र. सं. 1987.

8. तुलसी और उनका काव्य - सत्यनारायण सिंह
आत्माराम एण्ड सन्स
दिल्ली, प्र. सं. 1954.

9. तुलसी काव्य चिन्तन - डा. अम्बाप्रसाद सुमन
ग्रन्थायन
अलीगढ, प्र. सं. 1982.

10. तुलसी की कारयित्री प्रतिभा का अध्ययन - श्रीधर सिंह
हिन्दी प्रचारक प्रकाशन
वाराणसी, प्र.सं. 1968.

11. तुलसी काव्य में धर्म और आचरण का स्वरूप - डा. चरण सखी शर्मा
प्रवीण प्रकाशन
दिल्ली, प्र.सं. 1984.

12. तुलसी का काव्य आदर्श - डा. सुरेश चन्द्र गुप्त
हिन्दी साहित्य संसार
दिल्ली, प्र.सं. 1972.

13. तुलसीदास - माताप्रसाद गुप्त
हिन्दी परिषद्
प्रयाग, प्र.सं. 1942.

14. तुलसीदास के काव्य में नैतिक मूल्य - डा. चरणदास शर्मा
भारतीय ग्रंथ निकेतन
दिल्ली, प्र.सं. 1971.

15. तुलसी काव्य नये-पुराने संदर्भ - डा. रामबाबू शर्मा
वाणी प्रकाशन
दिल्ली, प्र.सं. 1984.

16. तुलसीदास की कालगत चेतना - डा. धीरेन्द्र बहादुर सिंह
प्रतिभा प्रकाशन
इलाहाबाद, प्र.सं. 1973.

17. तुलसीदास जीवनी और विचारधारा - डा. राजाराम रस्तोगी
अनुसंधान प्रकाशन
कानपुर, वि.सं. 2020.

18. तुलसी नवमूल्यांकन - डा. रामरतन भटनागर
स्मृति प्रकाशन
इलाहाबाद, प्र.सं. 1971.

19. तुलसी के भक्त्यात्मक गीत - डा. वचनदेव कुमार
हिन्दी साहित्य-संसार
दिल्ली, प्र. सं. 1964.

20. तुलसी का मानस - मुंशीराम शर्मा
ग्रन्थम, रामबाग
कानपुर, प्र. सं. 1972.

21. तुलसी संदर्भ और दृष्टि - डा. केशव प्रसाद सिंह
हिन्दी प्रचारक संस्थान
वाराणसी, प्र. सं. 1974.

22. तुलसी का शिक्षा-दर्शन - डा. शंभूलाल शर्मा
आशुतोष पुस्तकायन
राजस्थान, प्र. सं. 1962.

23. तुलसी की साधना - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद, प्र. सं. 1978.

24. तुलसी साहित्य के नये संदर्भ - डा. लक्ष्मीनारायण दूबे
सत्येन्द्र प्रकाशन
इलाहाबाद, प्र. सं. 1969.

25. तुलसी साहित्य और सिद्धांत - यज्ञदत्त शर्मा
अक्षरम्
हरियाना, 1984.

26. तुलसी साहित्य में नीति, भक्ति और दर्शन - डा. हरिश्चन्द्र वर्मा
संजीव प्रकाशन
कुरुक्षेत्र, प्र. सं. 1983.

27. तुलसी साहित्य - बदलते प्रतिमान - डा. चन्द्रभान रावत
जवाहर पुस्तकालय
प्र. सं. 1971.

28. तुलसी साहित्य के सर्वोत्तम अंश - डा. रामप्रसाद मिश्र
जीवन ज्योति प्रकाशन
दिल्ली, प्र.सं. 1988.

29. तुलसी सुधासार - वियोगी हरि
शिवलाल अग्रवाल एण्ड कंपनी
आगरा, प्र.सं. 1979.

30. प्राचीन भारत में सामाजिक परिवर्तन - राघवेन्द्र पांथरी
वीणा प्रकाशन, दिल्ली.

31. पश्चिमी एशिया में राष्ट्रीयता का विकास - डा. ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम
हिन्दी समिति
लखनऊ, प्र.सं. 1969.

32. बृहत् सूक्तिकोश - प्रभात प्रकाशन
दिल्ली.

33. भारत का इतिहास - रोमिला थापर
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली, छठा संस्करण 1987.

34. भारतीय चिन्तन परंपरा - के. दामोदरन
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली.

35. भारतीय तत्व चिन्तन - डा. जगदीश चन्द्र जैन
राजकमल प्रकाशन
बंबई।

36. भारतीय धर्म और संस्कृति - मैत्रेयी
मैत्रेयी महाविद्यालय
दिल्ली, प्र.सं. 1986.

37. भारतीय नारी अस्मिता और अधिकार - आशारानी व्होरा
नाशनल पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली, 1986.

38. भारतीय नारी दशा और दिशा - आशारानी व्होरा
नाशनल पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली, प्र.सं. 1983.

39. भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास - चन्द्रबली त्रिपाठी
विश्वविद्यालय प्रकाशन
वाराणसी, प्र.सं. 1967.

40. मध्ययुगीन कृष्णकाव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति - डा. हरगुलाल
भारतीय साहित्य मन्दिर
दिल्ली, प्र.सं. 1967.

41. महाभारतकालीन समाज - सुखमय भट्टाचार्य
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद, 1966.

42. महाभारत में धर्म - डा. शकुन्तलारानी तिवारी
भारती पुस्तक मन्दिर
राजस्थान

43. मानवपुत्र ईसा - जीवन और दर्शन - डा. रघुवंश
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद, प्र.सं. 1985.

44. मानसचिन्तन - आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग, 1978.

45. मानसिक स्वास्थ्य - डा. हरदारी लाल शर्मा
मधु प्रकाशन
इलाहाबाद, प्र.सं. 1983.

46. मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में नीति तत्व - डा. रामदुलारी देवी
कल्पकार प्रकाशन
लखनऊ, प्र.सं. 1983.

47. संस्कृति और समाजशास्त्र - डा. रांगेयराघव गोविन्द शर्मा
विनोद पुस्तक मन्दिर
आगरा, 1961.

48. सफलता और सफलता - डा. श्यामसिंह शशि
स्वस्थ साहित्य समिति
नयी दिल्ली.

49. रामकाव्य और तुलसी - प्रेमशंकर
नाशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली, प्र.सं. 1977.

50. रामकथा में जीवन मूल्य - अनिलकुमार मिश्र
सत्साहित्य प्रकाशन
दिल्ली, प्र.सं. 1991.

51. रामकथा भक्ति और दर्शन - डा. विश्वंभर दयाल अवस्थी
सरस्वती प्रकाशन मन्दिर
इलाहाबाद, प्र.सं. 1989.

52. रामचरितमानस का काव्य शास्त्रीय अध्ययन - डा. राजकुमार पाण्डेय
अनुसंधान प्रकाशन
कानपुर.

53. रामचरितमानस का तत्व दर्शन - डा. श्रीकुमार
लोकचेतना प्रकाशन
जबलपुर, प्र.सं. 1966.

54. रामचरितमानस तुलनात्मक अध्ययन - डा. शिवकुमार शुक्ल
अनुसन्धान प्रकाशन
आचार्य नगर, कानपुर
1964.

55. रामचरितमानस तुलनात्मक अनुशीलन - डा. सज्जन रोमकेणी
पुस्तक संस्थान
कानपुर, 1974.

56. रामचरितमानस की लोकप्रियता का विवेचनात्मक अध्ययन - रामचरित्र सिंह
इन्दु प्रकाशन
पलटन बाज़ार
प्रतापगढ़, प्र.सं. 1984.

57. रामचरितमानस में योग के स्रोत - डा. शिवशंकर शर्मा
भारत प्रकाशन मन्दिर
अलीगढ़, प्र.सं. 1976.

58. रामचरितमानस की सूक्तियों का अध्ययन - डा. सरोज गुप्ता
राजस्थान प्रकाशन,
जयपुर, प्र.सं. 1975.

59. रामचरितमानस विविध संदर्भ - मुकुन्दलाल मुंशी
नवोदय सेल्स
शाहदरा, दिल्ली, प्र.सं. 1993.

60. रामचरितमानस साहित्यिक मूल्यांकन - सुधाकर पाण्डेय
राधाकृष्ण प्रकाशन
दिल्ली, प्र.सं. 1972.

61. रामायण - मनहर चौहान
उमेश प्रकाशन
दिल्ली, 1979.

62. लोकजीवन और साहित्य - डा. रामविलास शर्मा
विनोद पुस्तक मन्दिर
आगरा.

63. लोकरामायण - व्रजभूषण शर्मा
आधुनिक प्रकाशन गृह
अलोपीबाग
इलाहाबाद.

64. वही मनुष्य है - अरूण सुदीप
संत पौलुस प्रकाशन
इलाहाबाद, 1984.

65. वाल्मीकि रामायण - आनन्द कुमार
राजपाल एण्ड सन्स
दिल्ली, तृतीय संस्करण 1964.

66. वाल्मीकि रामायण में समाज एवं अर्थ व्यवस्था - डा. शान्तिस्वरूप गुप्त
डा. श्रीनिवास मिश्र
भारत प्रकाशन मन्दिर
अलीगढ, 1973.

67. विविध प्रसंग - अमृतराय
हंस प्रकाशन
दिल्ली, 1962.

68. वेद रहस्य - श्री अरविन्द
श्री अरविन्द सोसाइटी
पांडिचेरी, 1971.

69. संत परंपरा - परशुराम चतुर्वेदी
भारती भण्डार
प्रयाग

70. संत साहित्य में मानव मूल्य - डा. दवमणि उर्फ मीना मिश्रा
भारत प्रकाशन मन्दिर
अलीगढ

71. समीक्षात्मक निबंध - डा. विजयेन्द्र स्नातक
नाशनल पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली, 1957.

72. साहित्य की सामाजिक भूमिका - डा. देवेश ठाकुर
संकल्प प्रकाशन
मेरठ, प्र. सं. 1986.

73. साहित्य और सामाजिक मूल्य - डा. हरदयाल
विभूति प्रकाशन
दिल्ली, प्र.सं. 1985.

74. साहित्य का समाजशास्त्र - डा. नगेन्द्र
नाशनल पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली, प्र.सं. 1982.

75. हिन्दी में नीति काव्य का विकास - डा. रामस्वरूप शास्त्री §रसिकेश§
दिल्ली पुस्तक सदन
दिल्ली, 1962.

अंग्रेज़ी ग्रंथ

1. A comprehensive History of Vedic Literature - Brahmana and Aranyaka
Pranava Prakasan
Delhi, 1977.

2. A New Catholic Commentary on Holy Scripture - Thomas Nelson
Thomas Nelson & Sons Ltd,
London, 1969.

3. A History of the World - Alice Magenis &
John Gorra Appel

4. A light to the nations - Norman K.Gottwald
Harper & Brothers
U.S.A, 1959.

5. A Theology of the Old Testament - John.L.Mekenzie
Image Books
Newyork, 1974.

6. Ancient civilizations of East and west - G.Bongard & Co.
Progress publishers
Moscow.

7. Beginnings in the Old Testament - Howard F.Vos
The Moody Bible institute
og Chicago, U.S.A, 1978.

8. Biblical companions - Edward J.O.Heron
Huntington
U.S.A. 1979.

9. Biblical Criticism - Jean Steinmann
A faith and fact book
London, 1959.

10. Christian Ethics - Wuttke.A.
T & T clark
George St. Edinburgh
1873.

11. Christian Ethics and moral Philosophy - Thomas.G.F.
Charles Seribness Sons
Newyork, 1955.

12. Discovering the Biblical-world - Harry Thomas Frank
Hodder and Staighton
London, 1971.

13. Discovering the world of the Bible - Lamar.C.Berret
Young house
Provo Utab, U.S.A, 1953.

14. Enjoying the wisdom books - Monro
Margarab
London, 1964.

15. Ethics for today - Titus.H.H.
Eurasia Publishing House
New Delhi, 1966.

16. Ethical system - Wundt
Swan Sonnenschein & Co.
London, 1897.

17. Four Strange books of The Bible - Bickerman
Gild press
New York, 1968.

18. Hebrew myths the book of genèsis - Robert graves and Raphel Patai
Cassell
London, 1965.

19. Hindu - Caste and Sets- Bhattacharya
Editions Indian
Calcutta, 1973.

20. Hindu religion and Ethics - Ed.Pushpendrakumar Sharma
Asian Publication Services
India, 1979.

21. Hindu civilization - K.M.Munshi
R.R.Diwakar
Bharatiya Vidya Bhavan
Bombay.

22. History of Ancient civilizations - Trever A.A. Macmillan, Newyork, 1964

23. Introduction to the New Testament - Robert W.Crapps
Ronald Press
Newyork, 1969.

24. Jesus audience - Derret M.Duncan
Darton,
London, 1973.

5. Jesus in his time - Schultz, Hans Huergen
Fortress
Philadelphia, 1971.

6. Jesus in contemporary Historical research - Aulen, Gustaf
Fortress
Philadelphia, 1976.

7. Jesus Christ the Liberator - Boff, Leonardo
Orbis
Newyork, 1978.

8. Key to the Bible Vol.I, II, III. - Wilfrid.J.Harrington
Image books
Newyork, 1974.

9. Manual of Ethics - Mackenzie J.S.
University T.Press Ltd
London, 1957.

0. Our Oriental Heritage The Story of civilization - Will Durant
Simon and schuster
Newyork, 1954.

1. Our cultural Heritage - Will Durrant
Simon Schuster
Newyork, 1956.

2. People of the covenent- Ronald
Ronald press company
Newyork, 1963.

3. Religions of India - A.Barth
S.Chand & Co.
Bombay, 1969.

34. Religions of the World- S.Vernon Mc Casland
Random House
Newyork, 1969.

35. Religious studies in - David Naylor Ann Smith
depth Jesus an enquiry Mac Millan Ed.Ltd.
London, 1985.

36. Society - Andesson parker
The D.Van, Nostr & Company
U.S.A. 1964.

37. Society - An - R.M.Maciver & Charles H.Page
Introductory Analysis The Mac millan press ltd,
London, 1977.

38. Some principles of - Kirk.E.K.
Moral Theology Longmans, 1957.

39. The age of faith - Will Durant
Simon and schuster
Newyork, 1950.

40. The background of the - Yohan Dhulla
New Testament Chatto and windus Ltd
London.

41. The challenge of the - Marshall.L.H.
New Testament Ethics Macmillan & Co.Ltd.
1946.

42. The Christian approach- Dam Celestin Charlier
to the Bible Sands & Co.
Glasgow, 1967.

43. The Christian way - Cave, Sydney
James Nisbet & Co.Ltd
Digswell Place
Welwyn, 1961.

44. The christian Method of Ethics - Clark.H.W.
Oliphant Anderson and Ferrier
London, 1908.

45. The Daily study Bible Index Volume - Dr.Willam Barclay
Glasgow University
Scotland.

46. The Daily study Bible St.John - Dr.William Barclay
Glasgow University
Scotland.

47. The Daily study Bible St.Luke - Dr.William Barclay
Glasgow University
Scotland.

48. The Daily study Bible St.Mark - Dr.William Barclay
Glasgow University
Scotland.

49. The Daily study Bible St.Mathew - Dr.William Barclay
Glasgow University
Scotland.

50. The Daily study Bible Corinthians - Dr.William Barclay
Glasgow University
Scotland.

51. The Daily study Bible Galatians & Ephesions - Dr.William Barclay
Glasgow University
Scotland.

52. The Daily study Bible - Dr.William Barclay
- Hebrews
Glasgow University
Scotland.

53. The Daily study Bible - Dr.William Barclay
James & Peter
Glasgow University
Scotland.

54. The Daily study Bible - Dr.William Barclay
John & Jude
Glasgow University
Scotland.

55. The Daily study Bible - Dr.William Barclay
Philippians & Theslonians
Glasgow University
Scotland.

56. The Daily study Bible - Dr.William Barclay
Romans
Glasgow University
Scotland.

57. The Daily study Bible - Dr.William Barclay
Timothy, Titus and Philemon
Glasgow University
Scotland.

58. The Development of Social thought. - Emory.S.Bogardis
Fiffer & Simons Pvt.Ltd.
Bombay, 1960.

59. The Ethics of the Gospel - Spencer, F.A.M.
George Allen & Univin Ltd.
London, 1925.

60. The Ethics of the Jesus-King H.C.
The Macmillan company
Newyork, 1910.

61. The Eyes of the gospel - Arch Bishop M.Rayu
Dimension books
New Jersey, 1978.

62. The gospel explained - Sean B.Kelleher
Asian Trading corporation
Bangalore.

63. The gospel of John a commentary - Rudolf Bultmann
Basil Black well
Oxford, 1966.

64. The History of Greece - J.B.Burny

65. The History of the world past to present - Sydney H.Zebel
Sidney Schuartz
The Macmillan company
Newyork, 1960.

66. The Holy Quran-Text translation & commentary - Abdullah yusef Ali
Kutub Khana
Ishayat
Ul-Islam.

67. The Jerome Biblical commentary - Ronals E, Murphy.O.
Carna, Raymond, Joseph.A.
Catholic University of America
Washington, 1968.

68. The Lands of St.Peter - Peter partner
Eyre Methuen
London, 1972.

69. The life of Greece - Will Durrant
Simon and Schuster
Newyork, 1966.

70. The living Bible - Kenneth Taylor
Coverdale House Publishers
London.

71. The Message of the New Testament - F.F.Bruce D.D.
Emu book Agencies
Australia, 1976.

72. The New Morality - Lunn A & Lean.G.
Blandford Press Ltd
London, 1967.

73. The People of the Old Testament - Dr.Peter R Ackroyd
Chatto and Windus Ltd
London, 1959.

74. The Principles of Christian Ethics - Knudson, Albert.G
Abingdom Press
Newyork.

75. The Power and Wisdom - John.L.Mckenzie
Image books
Newyork.

76. The Teaching of Jesus Christ - Branscomb.B.H
Abingdon Press
Newyork, 1931.

77. The Theology of St.Paul - Whitley D.E.P.
Oxford Basil
Backwell, 1964.

78. The Western experience- Egyptian Society - Alped A knope
Newyork.

मलयालम ग्रंथ

1. आत्मदर्शनम् - डा. सिरियक कणिच्चाई
ज्योति बुक सेन्टर
त्रिशूर

2. आर्यवेदान्ततिले ख्रिस्तु - कोशि एब्राहम
प्रताप पब्लिसिटि
कोट्टयम, 1994.

3. तत्वचिन्तयुम मतउम - गांधी साहित्य - कैनिकरा एम. कुमारपिल्ला
गांधी स्मारक निधि
केरलशाखा
तिरुवनन्तपुरम्, 1961.

4. पषयानियमत्तिनोरू आमुखम - डा. जोर्ज पुन्नकोट्टिल
सेन्ट तोमस सेमिनारी
वडवातूर, 1977.

5. बैबिलिलूडे ओरू तीर्थयात्रा - जोन वल्लाट
डि. सि. बुक्स
कोट्टयम, 1988.

6. बैबिल पठनासहायी - डा. जोसफ पातरापनक्कल
धर्माराम पब्लिसिटि
बांगलूर, 1987.

7. बैबिलिनोरू व्याख्यानम - डा. तोमस कयूयालपरंबिल
सेंट तोमस सेमिनारी
कोट्टयम, 1986.

8. बैबिल विचिन्तिनइल - डा. जे. पात्रपात्कल
धर्माराम कालेज
बांगलूर, 1981.

9. भगवद्गीतयुम बैबिलुम – मारटिन. पी. जोसफ्
असीसि आश्रम
पाकोड, 1988.

10. मत्ताई, मरकोस, लूका, योहन्नान एषुतिया सुविशेषम – बैबिल करसपोण्टन्स कोष्स
पि. ओ. सि पालारिवट्टम
कोच्चिन ।

11. येशुख्रिस्तु – के. पि. पत्रोस
मार लूयिस बुक सेन्टर
एरानाकुलम, 1986.

12. येशु व्यक्तियुम शक्तियुम – सेबास्टियन पैनाडत्त एस. जे.
यात्रा, जीवन बुक्स
भराणन्ड्डानम

13. वचनविज्ञानीयम – जोस मानिपरंबिल
बिब्लिया पब्लिकेषन्स
आलुर, 1992.

14. वचनावीथी – जोनसन कालापरंबिल
सेंट तोमस सेमिनारी
कोट्टयम, 1988.

15. स्त्रीकल बैबिलिल – आनी तय्यिल
नाषणल बुक स्टाल
कोट्टयम, 1982.

पत्र-पत्रिकाएँ

1. आलोचना – 1991, 1992 नवंबर, जुलाई, मार्च
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

2. पवित्र हृदय का सन्देश – 1993, 1994
सनजीवन प्रकाशन
दीघाघाट, पाटना.

3. वेद प्रदीप - 1992 एप्रैल, मई, नवंबर
श्री. गं प्रतिष्ठान.

4. सन्देश - 1991 मार्च, एप्रैल, मई, जून, जुलाई
प्रभात प्रकाशन, पाटना

5. समीक्षा - 1990 जनवरी, 1993 मार्च
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद.

अंग्रेज़ी

1. Jesus and his times - Readers digest 1987
Readers Digest Association, 1987.

2. Mysteries of the Bible - Editor Almu.E.
Readers Digest Association
1988.

3. Petrus - December 95, January 1996
Fr. Anselm
St.Paul Press
Bandra, Bombay.

4. The Bible today - Vol.19 No.3 May 1981
The Liturgical Press
Minnesnts, U.S.A.

5. The Gospel of St.John - Tyndale House Publishers
Wheabon, Illinois
U.S.A.

मलयालम

1. कारमल - येशुख्रिस्तु करत्ताउम रक्षकनुम
वाल्टर गास्पर {विव: चाको पी.टो}
तिरुवनन्तपुरम, 1985.

2. केरला टैम्स - येशुविन्टे उट्मेशाप्रस्थानम
एप्रिल 1984.

3. जीवधारा - येशुविन्टे सामूह्यराष्ट्रीया निलपाडुकल, 198(

जीवधारा - मतम मानव विमोचनत्तिनॅ, 1984.

जीवधारा - आरष संस्कारत्तिन्टे आत्माविनेतेडी, 198

जीवधारा - मतान्तरा सहवर्तित्तम भारतत्तिल, 1988.

4. तालन्त - वरगीयतायोडु मल्लिटा येशु, 1984
पि.ओ.सि. पालारिवटम, कोच्चिन

5. नवचेतना - येशु मानवविमोचकन
सेप्टम्बर 1982, एस पैनाडत्त

6. बैबिल भाष्यम् - धनिकरुम दरिद्ररुम याकोबिन्टे लेखनत्तिल
1978, डा.मात्यु वेल्लानिक्कल

- येशुविन्टे कालत्ते यहूदसमूहम
के.लूक, 1975.

- दैवा-मनुष्य समागमम, येहन्नान्टे दर्शनत्ति
बैबिल भाष्यम ट्रस्ट
वडवातूर, कोट्टयम ।

7. मतउम चिन्तयुम - नवम्बर, दिसम्बर 1995
पोन्तिफिकल इनस्टिट्यूट
आलुवा ।

8. समरपिता - मार्च, मई 1985
ज्योति बुक सेन्टर, त्रिशूर

9. वचनोत्सवम - 1992, 1993
पोपुलर मिषन, पोट्टा

10. शालोम टैम्स - दिसम्बर 1993, 1994
शालोम टैम्स
पेराम्ब्रा, कोषिकोड.

कोश ग्रंथ

1. नलन्दा विशाल शब्द सागर - सं. नवलजी
न्यू इंपीरियल बुक डिपो
दिल्ली.

2. बैबिल विज्ञानकोशम् - बैबिल दैवशास्त्र निघण्टु
डा. मात्यु वैल्लानिकल
वडवातूर सेमिनारी, कोट्टयम.

3. मानक हिन्दी कोश - रामचन्द्र शर्मा
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग.

4. संक्षिप्त शब्द सागर - रामचन्द्र वर्मा
नागरी प्रचारिणी सभी
काशी.

5. संस्कृत-अंग्रेज़ी कोश - मोनियर विल्लियम्स
मोतीलाल, बनारसीदास
वाराणसी ।

6. हिन्दी साहित्य कोश I,II - धीरेन्द्र वर्मा
वाराणसी, ज्ञानमण्डल लिमिटड ।

7. हिन्दी विश्वकोश - कमलापति त्रिपाठी
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।